सटिप्पण

प्रकाशक

साहित्य-सेवा-सदन, काशी।

[भा]रतेन्दु-स्मारक ग्रन्थ-मालिका—संख्या ३

महाकवि विशाखदत्त कृत

मुद्राराक्षस

अनुवादक

भारतेन्दु बा० हरिश्चन्द्र

सम्पादक

ब्रजरत्नदास

मंत्री, काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा और
अध्यापक हरिश्चचन्द्र हाई स्कूल।

प्रकाशक

साहित्य-सेवा-सदन, काशी

प्रथम संस्करण } वसंत पञ्चमी १९८१ वि० { मूल्य २)

प्रकाशक—
गयाप्रसाद शुक्ल
साहित्य-सेवा-सदन, काशी।

मुद्रक—
माधव विष्णु पराड़कर
ज्ञानमण्डल यन्त्रालय काशी

एक शब्द

मुद्राराक्षस नाटक एक शुद्ध ऐतिहासिक और राजनै-
क नाटक होने तथा नाट्यकला के अनुसार "नाटक"
प्राय: सभी लक्षणों से युक्त होने के कारण जिस प्रकार
: संस्कृत-साहित्य में अपना विशेष स्थान रखता है, वैसे
प्रातः स्मरणीय भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र द्वारा अनूदित
। तथा अपने ढंग का बिलकुल निराला होने के कारण
द्री-नाट्य-जगत में भी वह अपना सानी नहीं रखता।
राक्षस अपनी विशेषताओं और महत्व के कारण ही आज
संसार में इतना अधिक सम्मानित हो रहा है, और
की प्राय: सभी ऊँची परीक्षाओं के पाठ्य ग्रन्थों में
पाये हुए हैं। इस समय हिन्दी में इसका जो संस्करण
ध है, वह. आवश्यक टिप्पणी आदि से शून्य होने के
ण, विद्यार्थियों के लिए—और साधारण पाठकों के लिए
—उतना उपयोगी नहीं सिद्ध हो रहा है। इधर कुछ दिनों
अनेक सज्जन मुद्राराक्षस के एक ऐसे संस्करण के प्रका-
की आवश्यकता की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट करते रहे
जो उपलब्ध संस्करण को अधिक सरल और उपयोगी कर
। भारतेन्दुजी की कृत्ति को अधिक परिष्कृत, संस्कृत
उपयोगी करने के लिए सब से योग्य व्यक्ति हमें उनके
त्र श्रीयुत बाबू व्रजरत्न दासजी ही दीख पड़े। बाबू
ब ने ग्रंथ के संपादन की हमारी प्रार्थना को स्वीकार कर

बड़े ही परिश्रम और खोज के साथ, शुद्ध पाठ और बहुमूल्य टिप्पणियाँ आदि देकर तथा भारतीय नाटकों का इतिहास नाटक, मूलनाटककार अनुवादक आदि के विषय में अनेक ज्ञातव्य बातों का समावेश करके उपलब्ध संस्करण को जो अधिक महत्वपूर्ण और नवीन रूप दिया है, उसके लिए, आशा है, हमारे साथ ही सारा हिन्दीजगत उनका कृतज्ञ होगा। नाटक का प्रस्तुत संस्करण यदि पाठकों की कुछ भी आवश्यकताओं को पूरी कर सका, तो हम अपना और सम्पादक महोदय का परिश्रम सफल समझेंगे।

गयाप्रसाद शुक्ल

व्यवस्थापक—साहित्य-सेवा-सदन।

विशेष वक्तव्य

पूज्यपाद भारतेन्दु बा० हरिश्चन्द्र जी की रचनाओं में मुद्राराक्षस का स्थान अनूदित होने पर भी बहुत ऊँचा है। वास्तव में यह नाटक, मूल रूप में, संस्कृत साहित्य की नाटकावली का और अपने हिन्दी रूप में हिन्दी साहित्य की नाटकावली का, जो अभी तक बहुतही छोटी है, अमूल्य मणि है। इसी अनुवाद के विषय में कुछ विद्वानों की यह सम्मति सुन कर कि, यह मूल का अक्षरशः अनुवाद नहीं है तथा अनेक स्थानों पर मूल से भिन्न है, मुझे इसे संस्कृत मूल से मिलान करने की उत्कंठा हुई और इसलिये मैंने मूल के अनेक संस्करण एकत्र किए। इन्हें मिलान करने पर ज्ञात हुआ कि इन संस्करणों के अर्थात् इस नाटक की हस्तलिखित प्रतियों के पाठों ही में अनेक स्थानों पर भिन्नता है जिनमें कुछ एक का उल्लेख टिप्पणी में आ गया है। ढुण्ढिराज ने भी अपनी टीका में कई स्थानों पर पाठान्तरों का उल्लेख किया है। मिस्टर तैलंग ने जिन नौ हस्तलिखित प्रतियों का मिलान किया है उन्हें उन्होंने दो विभागों में बाँटा है। एक विभाग में चार प्रतियां हैं। इनमें एक 'बी' द्वारा संकेतित वह प्रति है जो बङ्गाल में पं० तारानाथ तर्कवाचस्पति की टीका सहित छपी है और दो की प्रतिलिपि काशी में हुई है। इन प्रतियों में 'बी' के ही पाठ से हिन्दी अनुवाद का पाठ अधिक मिलता है। इसका एक उदाहरण दे दिया जाता है। सातवें अंक के पं० ६४ में पहले 'सेनापति' शब्द था और यही पाठ मूल के इसी विभाग के 'बी' आदि प्रतियों में भी था। पर अन्यप्रतियों में शूलायतनः और शूलपाते पाठ थे और चांडालों के लिए येही विशेषण उपयुक्त थे। इस प्रकार मूल तथा अनुवाद में इस कारण से भिन्नता आगई है। कुछ अन्य स्थानों पर भिन्नता मिलने का दूसरा कारण छपाई आदि भी है। इसके दो तीन उदाहरण भी दे दिए जाते हैं। द्वितीय अंक पं० ३५ में 'बिच' के स्थान पर 'बन' था। तृतीय अंक पं० १२० में 'बटुन' के स्थान पर 'बँटत' था जिसका तात्पर्य होता है कि चाणक्य ने स्वयं भीख लाकर ढेर लगाया था। उसी अंक की पंक्ति २३६ में 'अपालन' के स्थान पर 'अयालत' था। अयालत अरबी शब्द है जिसका अर्थ ग़ियासुल्लुग़ात में दंड, सर्दारी और निगाह रखना है पर वह

इसी रूप में अभीतक छपता रहा है। मूल से मिलाकर ये इस संस्करण में शुद्ध रूप में रखे गए हैं।

ऐसा भी सुना जाता है कि सेवक नाम के किसी प्राचीन अज्ञात कवि ने मुद्राराक्षस का बिलकुल पद्यमय अनुवाद किया था और उससे भारतेंदुजी ने सहायता ली थी। यह पुस्तक उनके पुस्तकालय में सुरक्षित है और यह नहीं कहा जा सकता पूर्वोक्त कथन में कितना तथ्य है। इस संस्करण के तैयार करने में जिन पुस्तकों से सहायता ली गई है उनके सुप्रसिद्ध विद्वान संपादकों—पं० काशीनाथ त्र्यंबक तैलंग, पं० मोरेश्वर पं० रामचंद्र काले, जीवानंद विद्यासागर भट्टाचार्य और पं० विधुभूषण गोस्वामी—का विशेष रूप से अनुगृहीत हूं।

इस संस्करण में एक भूमिका दी गई है जिसमें मूल मुद्राराक्षस के निर्माणकाल की जो कुछ विवेचना अभीतक हो चुकी है उसका सार दे दिया गया है और कथावस्तु, पात्र आदि की भी कुछ विवेचना की गई है। अंत में टिप्पणी भी दी गई है जिसमें यथाशक्ति अर्थ स्पष्ट करने का प्रयत्न किया गया है। इस टिप्पणी को विद्वद्वर पं० रामचंद्र शुक्ल ने बड़े परिश्रम से देखा है जिसके लिए मैं उनका अत्यंत कृतज्ञ हूँ। पूज्यवर बा० श्यामसुंदरदास जी ने भूमिका को देखने का कष्ट उठाया है जिसके लिए मैं उनका अत्यन्त आभारी हूं।

अनुवाद के पाठ बदलने में मैंने बड़ी सावधानी रखी है और जहाँ ऐसा किया है उसका उल्लेख टिप्पणी में दे दिया है। विशेष विशेष स्थानों पर मूल के अनुसार पाठ न बदल कर मूल पाठ टिप्पणी में केवल दे दिया गया है। यदि विद्वानों की सम्मति मिलेगी कि बदल देना ही उत्तम होगा तो अन्य संस्करण में वैसा कर दिया जाएगा। हिन्दी के प्रसिद्ध नाटककार की रचना में किसी प्रकार का हस्तक्षेप करना अनुचित है पर जिस अवस्था में मैंने ऐसा किया है उससे यह दोष क्षम्य हो सकता है। मेरे पूज्यपाद स्वर्गीय मातामह भारतेंदुजी तथा पूज्य विद्वानगण मेरे इस बाल-चापल्य को अवश्यही क्षमा करेंगे। अब यह संस्करण इस रूप में पाठकों के सन्मुख उपस्थित है जिसे वे अपना कर मेरे परिश्रम को सुफल करेंगे।

विनीत
व्रजरत्नदास

विषयसूची

भूमिका

१ दृश्य काव्य

मनुष्य की यह स्वाभाविक मनोवृत्ति है कि वह अपने भाव तथा विचारों को अपने अंतःकरण में छिपाने में असमर्थ है और उन्हें वह दूसरों पर साधारणतया छोटे छोटे सरल वाक्यों में प्रगट करता है पर जब इन्हीं वाक्यों में किसी प्रकार की रमणीयता, रस या चमत्कार का समावेश किया जाता है तब उसी विशेषता के कारण वे काव्य कहलाते हैं। मानव-हृदय को स्पर्श कर आनन्द का उद्रेक करने की शक्ति साधारण वाक्य में लाना ही अर्थात् साधारण वाक्य में उस आनंददायिनी शक्ति की प्राणप्रतिष्ठा कर उसे उन्नत स्वरूप देना ही काव्य है। काव्य के दो विभाग हैं—श्रव्य और दृश्य। दृश्य काव्य श्रव्य काव्य का उन्नत स्वरूप है। काव्य की आह्लाददायिनी शक्ति मानव-हृदय तक श्रव्य में केवल श्रवणों ही द्वारा प्रवेश करती है या परिचालित की जाती है पर दृश्य में वह कर्णकुहरों के साथ साथ चक्षुओं द्वारा भी पहुँचती है जिससे मनोवेग द्विगुण हो जाता है और मानव जीवन पर या मनुष्यों के हृदय-पटल पर उसका प्रभाव अधिक स्थायी रूप से अंकित हो जाता है। इसी दृश्य काव्य का, जिसमें श्रव्य काव्य की शक्ति का भी सम्मिश्रण है, संस्कृत नाम रूपक है। दृश्य काव्य के दो भेद हैं—रूपक और उपरूपक।

रूपक के दस भेद हैं—नाटक, प्रकरण, भाण, प्रहसन, डिम, व्यायोग, समवकार, वीथी, अंक और ईहामृग। उपरूपक के अठारह भेद हैं—नाटिका, त्रोटक, गोष्ठी, सट्टक

नाट्यरासक, प्रस्थान, उल्लाप्य, काव्य, प्रेंखण, रासक, संलापक, श्रीगदित, शिल्पक, विलासिका, दुर्मलिका, प्रकरणी, हल्लीश और भाणिका। नाटक दृश्य काव्य का एक भेद होने पर भी मुख्य रूप से ग्रहण किए जाने के कारण समग्र दृश्य काव्य का द्योतक हो गया है। साहित्यदर्पण के अनुसार नाटक का इतिवृत्त विख्यात होना चाहिए, कल्पित नहीं और नाना प्रकार के सुख दुःख, विकारादि तथा अनेक रसों से युक्त होना चाहिए। उसमें पाँच से दस तक अंक होने चाहिएँ। नायक धीरोदात्त तथा प्रसिद्ध राजवंश का कोई प्रतापी पुरुष होना चाहिए। रसों में शृंगार और वीर ही नाटक के अंगी या प्रधान रस हों। अन्य गौण रूप से आते हैं। संधिस्थल में अद्भुत का समावेश होना चाहिए।

अभिनय के आरंभ में मंगलाचरण या नांदी होती है जिसे पूर्वरंग कहते हैं। इससे नाटक की घटना का कुछ आभास मिल जाता है। इसके अनंतर सूत्रधार या प्रधान नट, जिसे स्थापक भी कहते हैं, आता है और सभा की प्रशंसा करता है। वह नटी या अन्य नट आदि के साथ वार्तालाप में अभिनय किए जानेवाले नाटक का प्रस्ताव, कवि-परिचय आदि विषय का परिचय दे देता है। इसे प्रस्तावना कहते हैं, जो पाँच प्रकार की होती है—उद्घात्यक, कथोद्घात, प्रयोगातिशय, प्रवर्तक और अवगलित। मुद्राराक्षस नाटक में प्रस्तावना के प्रथम रूप का प्रयोग है।

प्रत्येक नाट्य के तीन आवश्यक तत्व माने गए हैं—वस्तु, नायक और रस। जिस इतिवृत्त को लेकर नाटक की रचना होती है उसे वस्तु कहते हैं। यह दो प्रकार की होती है—आधिकारिक या प्रासंगिक। जो नायक समस्त इतिवृत्त का प्रधान

होता है उसे अधिकारी कहते हैं और उसके संबंध का वर्णन आधिकारिक वस्तु कहलाता है। इस अधिकारी के उपकारार्थ रसपुष्टि के लिए प्रसंगवश जिसका वर्णन आता है उसे प्रासंगिक वस्तु कहते हैं। इसीके अंतर्गत प्रयोजनसिद्धि के लिए बीज, बिंदु, पताका, प्रकरी और कार्य हो ेहैं। जो बात आरंभ में संक्षेपतः कहे जाने पर चारों ओर फैल जाती है और फलसिद्धि का प्रथम कारण होती है उसे बीज कहते हैं। किसी एक बात के पूरा होने पर दूसरे असंबद्ध वाक्य इस प्रकार लाना कि वे असंगत न हों बिंदु कहलाता है। व्यापक प्रसंग के वर्णन को पताका और देशव्यापक चरित्र-वर्णन को प्रकरी कहते हैं। आरंभ की हुई क्रिया की फलसिद्धि के लिए जो कुछ किया जाय उसे कार्य कहते हैं। कथा-वस्तु के घटनाक्रम के अनुसार पाँच अन्य विभाग भी किए गए हैं जो आरंभ, यत्न, प्राप्त्याशा, नियताप्ति और फलागम कहलाते हैं। जिस फलप्राप्ति की उत्कंठा होती है उसी उत्कंठा से नाटक का आरंभ होता है। उस फल की प्राप्ति के लिए जो कुछ प्रयत्न किया जाता है उसे यत्न कहते हैं। इसके अनंतर प्राप्ति की आशा होना प्राप्त्याशा कहलाता है। जब विघ्नों का नाश हो जाता है और प्राप्ति निश्चित हो जाती है तब उसे नियताप्ति कहते हैं। सब के अंत में फल प्राप्ति होती है जिसे फलागम कहते हैं।

साहित्यदर्पण के अनुसार 'दानशील, कृती, सुश्री, रूपवान, युवक, कार्यकुशल, लोकरंजक, तेजस्वी, पंडित और सुशील पुरुष को नायक कहते हैं। नायक चार प्रकार के होते हैं—धीरोदात्त, धीरोद्धत, धीरललित और धीरप्रशांत। आत्मश्लाघारहित, क्षमाशील, विनयसंपन्न, गंभीर, बलवान तथा

स्थिर नायक को धीरोदात्त कहते हैं जैसे राम, युधिष्ठिर। आत्मश्लाघायुक्त, घमंडी, मायावी तथा प्रचंड नायक धीरोद्धत कहलाते हैं जैसे भीमसेन। निश्चिंत, मृदु और नृत्यगीतादि-प्रिय नायक को धीरललित तथा त्यागी और कृती नायक को धीरप्रशांत कहते हैं।

विस्तार भय से संक्षेप ही में रूपक का कुछ रूप यहाँ दिखला दिया गया है। अवस्थानुरूप अनुकरण या स्वाँग ही अभिनय है जो चार प्रकार का होता है—आंगिक, वाचिक, आहार्य और सात्विक। अंगों की चेष्टा से आंगिक, वचन-चातुरी से वाचिक, स्वरूप बदलने से आहार्य और भावों के उद्रेक होने से स्वेद कंप आदि द्वारा सात्विक अभिनय होता है। अभिनय की समाप्ति पर सभी पात्रों का निष्क्रांत दिखलाना चाहिए। रंगशाला में लंबी यात्रा, हत्या, युद्ध, स्नान, नायक या नायिका की मृत्यु आदि दृश्य न दिखलाए जाने चाहिएँ।

२ भारतीय नाटकों का संक्षिप्त इतिहास।

भारतवर्ष में नाटकों का प्रचार बहुत प्रचीन काल से है। ईसवी सन् के चार पाँच शताब्दि पहले नाट्य-कला इस अवस्था को पहुँच गई थी कि उस विषय पर अनेक लक्षण ग्रंथ तैयार हो गए थे। महाकवि कालिदास के चार पाँच सौ वर्ष पहले के नाटककार भास कवि के अनेक नाटक मिल गए हैं। कालिदास का नाटक शकुंतला संसार के सर्वश्रेष्ठ नाटकों में से है। कालिदास के अनंतर अच्छे नाटककारों में हर्ष हुए जिनके लिखे हुए रत्नावली, नागानंद आदि नाटक हैं। शूद्रक का मृच्छकटिक भी उत्तम नाटक है। भवभूति

के महावीरचरित, उत्तररामचरित तथा मालतीमाधव प्रसिद्ध नाटक हैं। इनके अनंतर भट्टनारायण ने वेणीसंहार, विशाखदत्त ने मुद्राराक्षस और राजशेखर ने कर्पूरमंजरी, बालरामायण और बालभारत आदि नाटक रचे थे। इसके बाद धनंजय ने दशरूपक नामक लक्षण ग्रंथ लिखा।

इसके अनंतर मुसलमानों के आक्रमणों का आरंभ होने से भारत में राजनीतिक अव्यवस्था के कारण नाटकों का ह्रास होने लगा तथा कुछ साधारण कोटि के नाटकों की रचना होने के अनंतर इस प्रकार के ग्रन्थों के प्रणयन का अंत हो गया। इसके अनंतर मुसलमानों के समय में नाट्यकला का बिलकुल अभाव ही रहा और पुनः जब नाटकों की रचना का आरंभ हुआ तब वह आधुनिक प्रांतीय भाषाओं में हुआ।

हिंदी में नाटकों की ऐसी कमी है कि इसमें अभी बँगला, मराठी आदि भाषाओं के ढंग के अच्छे नाटकों की रचना का आरंभ भी नहीं हुआ सा प्रतीत होता है। नेवाज कवि का शकुंतला नाटक, हृदयराम का हनुमन्नाटक, ब्रजवासीदास का प्रबोधचंद्रोदय नाटक, और देव का देवमायाप्रपंच नाटक नाट्यकला की दृष्टि से नाटक नहीं कहे जा सकते। प्रभावती और महाराज विश्वनाथसिंह कृत आनन्दरघुनन्दन किसी प्रकार नाटक की सीमा के भीतर आ जाते हैं। गणेश कवि का प्रद्युम्न-विजय नाटक भी इसी अंतिम कोटि का है। भारतेंदु बाबू हरिश्चन्द्र लिखते हैं कि हिंदी का पहला नाटक उन्हींके पिता बाबू गोपालचन्द्र जी का नहुष नाटक है। इसके अनंतर राजा लक्ष्मणसिंह ने शकुंतला का अनुवाद किया। परंतु हिंदी में भारतेंदु जी की नाटक-रचना से ही नाटकों का आरंभ माना जाता है। इन्होंने लगभग बीस नाटकों की

रचना की जिसमें मौलिक और अनुवादित दोनों ही हैं। इसमें से अनेक समय समय पर खेले भी गए हैं।

लाला श्रीनिवासदास कृत रणधीर-प्रेममोहिनी और संयोगता-स्वयंवर, केशवराम कृत सज्जाद-सुम्बुल और शमशाद-सौसन तथा पंडित बद्रीनारायण चौधरी कृत भारत-सौभाग्य नाटक अच्छे हैं पर संयोगतास्वयंबर को छोड़कर सभी इतने बड़े हैं कि अभिनीत नहीं हो सकते। इनके अतिरिक्त बाबू तोताराम कृत केटो-कृतांत या पं० बालकृष्ण भट्ट कृत कुछ नाटकों का विशेष आदर नहीं है। पं० अम्बिकादत्त व्यास, पं० प्रतापनारायण मिश्र, गो० राधाचरण आदि के नाटकों के विषय में भी यही कहा जा सकता है। बा० राधाकृष्ण दास के प्रताप नाटक का विशेष आदर हुआ और उसका कई बार अभिनय भी हो चुका है। पं० सत्यनारायण कविरत्न कृत मालती माधव और उत्तररामचरित उत्तम अनुवाद हैं। स्वर्गवासी बा० कृष्णचन्द्र जी ने भी उत्तररामचरित का अच्छा गद्यपद्यमय अनुवाद अभिनय की दृष्टि से किया है।

इधर कुछ वर्षों से अनुवाद की ऐसी धूम मची है कि बँगला साहित्य के अच्छे नाटकों मे से ऐसे ही कोई भाग्यहीन बचे होंगे जिनका अनुवाद हिंदी में न हो चुका हो। साथ ही बा० जयशंकरप्रसाद ने मौलिक नाटकों की रचना आरंभ की है। इनके नाटकों में अजातशत्रु, जन्मेजय और विशाष आदरणीय है।

३ मूल-नाटककार-परिचय

मुद्राराक्षस के रचयिता के नाम तथा उनके पिता और पितामह के नाम-ज्ञान के लिए साहित्य-प्रेमियों को नाट्य-

कला के उन आचार्यों को अनेकानेक धन्यवाद देना चाहिए जिन्होंने यह एक आवश्यक नियम बना दिया है कि प्रस्तावना में कवि तथा कविवंश-परिचय अवश्य दिया जाय। यह नियम प्राचीन, अर्वाचीन तथा आधुनिक समय तक के नाटकों में वेदवाक्य के समान माना गया है पर अब यह प्रथा पहले पहल बँगाल में उठा दी गई और उसके अनंतर अन्य भारतीय भाषाओं से भी उठती चली जाती है। मुद्राराक्षस के प्रणेता का नाम विशाखदत्त या विशाखदेव है। इनके पिता का नाम महाराज पृथु और पितामह का नाम सामंत वटेश्वरदत्त है। नाटक की प्रस्तावना से केवल इतना ही पता चलता है और इनकी अन्य किसी कृति का अभी तक पता भी नहीं लगा है। जर्मन-देशीय प्रोफेसर हिलब्रैंड ने भारत में भ्रमण कर मुद्राराक्षस की सभी प्राप्य प्रतियों का मिलान किया है जिनमें कुछ प्रतियों में विशाखदत्त के पिता का नाम भास्करदत्त लिखा है।

प्रोफेसर विल्सन ने महाराज पृथु को चौहानवंशीय राय पिथौरा या पृथ्वीराज साबित करने का प्रयत्न किया था पर वे स्वयं उनकी पदवियों तथा उनके पिताओं के नामों की विभिन्नता का किसी प्रकार मंडन न कर सके। उनका यह कथन कि 'सामंत वटेश्वर को चंद ने भाषा में लिखने के कारण संक्षेपतः सोमेश्वर लिखा होगा' युक्तियुक्त नहीं है क्योंकि पृथ्वीराज-विजय नामक संस्कृत महाकाव्य में भी 'जयति सोमेश्वर-नन्दनस्य' लिखा है।

साथही पृथु तथा पृथ्वी भी स्पष्टतया विभिन्न है और पृथ्वीराज के किसी विशाखदत्त नामधारी पुत्र होने का पता नहीं है। प्रोफेसर हिलब्रैंड की खोज से पृथु का पाठान्तर भास्करदत्त मिलने से वह प्रयत्न निर्मूल हो गया और अब वह उपेक्षणीय है।

इसके अतिरिक्त नाटककार के जन्मस्थान और जन्म तथा मृत्युकाल का कुछ भी पता नहीं है। प्रोफेसर विल्सन का कथन है कि विशाखदत्त स्याद् दक्षिण के निवासी नहीं थे।[1] इस कथन का कारण उस उपमा को बतलाया है जिसका अर्थ है 'हिम के समान विमल मोती'। पं० काशीनाथ त्र्यंबक तैलंग इस अंश को उद्धृत करते हुए लिखते हैं कि भारतीय अर्कियोलैाजिकल सर्वे की रिपोर्ट में उत्तरी भारत के वराह अवतार के मंदिरों तथा उनके भग्नावशेषों का विवरण पढ़ते हुए मुझे भी यह विचार हुआ कि इस नाटक के भरतवाक्य के अनुसार कवि का उत्तरी भारत का ही निवासी होना समीचीन है।[2] महामहोपाध्याय पं० हरप्रसाद शास्त्री की सम्मति है कि गौड़ीय रीति की बहुलता के कारण कवि गौड़ देशीय ज्ञात होते हैं और वटेश्वर शब्द से वटेश्वर नगर के शिव-भक्त के वंश में हो सकते हैं[3]। प्रोफेसर विधुभूषण गोस्वामी ने भी उनको उत्तरी भारत का निवासी मानते हुए लिखा है कि नाटक में एक को छोड़ कर[4] सभी स्थान उत्तरापथ ही के हैं।

पूर्वोक्त कारणों तथा विद्वानों की सम्मति से यह अवश्य निश्चित हो गया कि कवि विशाखदत्त उत्तरी भारतवर्ष के निवासी थे। यह भी निश्चित सा ज्ञात होता है कि वे शैव थे जैसा कि नामों से तथा मंगलाचरण के दोनों श्लोकों में शिव

---

१. हिन्दू थियेटर जि० २. पृ० १८२ टि.। यह हिम की उपमा सभी प्रतियों में नहीं मिलती। २. मुद्राराक्षस की भूमिका पृ० १३। ३. पं० जीवानंद विद्यासागर संपादित मुद्राराक्षस का प्रारंभ। ४. मलय को दक्षिण का माना है। इस पर आगे विचार किया जायगा।

की स्तुति होने से माना जाना चाहिए। मुद्राराक्षस की कुछ प्रतियों में भरतवाक्य के चन्द्रगुप्त के स्थान पर अवंतिवर्मा का नाम दिया गया है। इस नाम के मालवा के मौखरी वंश के एक राजा थे जिनके कि नाटककार आश्रित हो सकते हैं। इस विषय पर आगे चलकर विचार किया जाएगा।

विशाखदत्त एक सामंत सर्दार के पौत्र तथा महाराजा के पुत्र होने के कारण कुटिल राजनीति के पूर्ण ज्ञाता थे और स्वयं भी उसी प्रकार के समाज में रहने के कारण श्रृंगार, करुण आदि मृदु रसों का उनके हृदय में संचार ही नहीं हुआ था। इसी कारण उन्होंने स्वभावतः राजनीतिक विषय पर ही लेखनी उठाई और उसमें वे पूर्णतया सफल हुए। उनकी कवित्व शक्ति के बारे में केवल यही कहा जा सकता है कि वे कालिदास या भवभूति के समकक्ष नहीं थे क्योंकि इस नीरस राजनीति-विषयक नाटक से भिन्न उनके केवल दो अनुष्टुप श्लोक वल्लभदेव की सुभाषितावली में मिले हैं और उनकी अन्य कृतियां, यदि हों तो, अब अप्राप्य हैं। इनके नाटक से इतना अवश्य ज्ञात होता है कि ये ज्योतिषशास्त्र के भी ज्ञाता थे।

४ अनुवादक-परिचय

सुप्रसिद्ध सेठ अमीचंद के दो पुत्र राय रत्नचंद बहादुर और शाह फतहचंद काशी में आ बसे थे। शाह फतहचंद दस भाई थे पर केवल इन्हीं का वंश चला इनके पुत्र बाबू हरषचंद असंख्य संपत्ति के स्वामी हुए और उसे सत्कार्य में व्यय करके उन्होंने बहुत यश कमाया। उनके पुत्र बाबू गोपालचंद उपनाम गिरिधर दास हुए जिन्होंने चालीस ग्रंथों की रचना की। इन्हीं के पुत्र बाबू हरिश्चंद्र हुए।

भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्र का जन्म भाद्रपद शुक्ला सप्तमी सं० १९०७ को हुआ था। आप ने सात ही वर्ष की अवस्था में एक दोहा रचा था जिसपर उनके पिता ने उन्हें आशीर्वाद दिया था। नौ वर्ष की अवस्था में पिता का परलोकवास हो गया। उसी समय ये पहले राजा शिवप्रसाद से अंगरेजी पढ़ने लगे और फिर कालेज में बैठाए गए। तीन चार वर्ष बाद सं० १९२१ में ये माता के साथ जगन्नाथजी को गए, तब से पढ़ना लिखना छूट गया। वहाँ से लौटने पर देशहित के लिए पाश्चात्य शिक्षा आवश्यक समझकर इन्होंने चौखंभा स्कूल खोला जो अब हरिश्चंद्र हाई स्कूल कहलाता है। सं०१९२५ में कविवचन सुधा का जन्म हुआ। पाँच वर्ष बाद हरिश्चन्द्र मैगजीन आरंभ हुई पर आठ ही अंक निकलकर बंद हो गई। इसी वर्ष इन्होंने पेनी रीडिंग समाज स्थापित किया और कर्पूरमंजरी तथा चंद्रावली नाटकों की रचना की।

बाबू हरिश्चंद्र जी ने धर्मसंबंधी और ऐतिहासिक अनेक पुस्तकों की रचना की है जिनमें तदीयसर्वस्व और काश्मीर-कुसुम चुने हुए ग्रंथ हैं पर इन्होंने अधिकतर नाटकों और काव्यों ही की रचना की है जिनमें सत्यहरिश्चंद्र, चंद्रावली और प्रेमफुलवारी प्रधान हैं। इतिहास की ओर अधिक रुचि होने के कारण आपकी प्रायः सभी रचनाओं में उसका संबंध प्रस्तुत है। आपने पारितोषिक दे देकर भी हिंदी-भांडार में बहुत से ग्रंथरत्नों का संचयन किया है। आप जैसे प्रतिभावान विद्वान और बहु कलाकुशल थे वैसे ही गुणग्राहक भी थे। गुणियों का वे इतना उचित सम्मान करते थे कि उनके यहाँ सर्वदा विद्वानों, कवियों तथा अन्य कला-कुशल गुणियों का जमाव रहा करता था।

भारतीय राष्ट्रभाषा हिंदी का आकाशमंडल जब घोर तिमिराच्छन्न हो रहा था उस समय भारतेंदु के उदय से जो प्रकाश फैला था उस प्रकाश के लिये हिंदी भारतेंदुजी की चिर ऋणी बनी रहेगी। हिन्दी जगत ने इसी प्रकाश के लिए बा० हरिश्चन्द्र को भारतेंदु की पदवी देकर सम्मानित किया था और इस उपाधि को राजा प्रजा दोनों ने समान रूप से आदर किया है।

भारतेंदु बा० हरिश्चन्द्र जी पैंतीस वर्ष की अवस्था में (६ जनवरी सन् १८८५ ई०) गोलोक सिधारे। आपको दो पुत्र तथा एक कन्या हुई थी पर दोनों पुत्र शैशवावस्था ही में जाते रहे।

५. नाटकीय घटना का सामयिक इतिहास।

मगध देश या मागधों का प्रथम उल्लेख अथर्ववेद में मिलता है। पुराणों से पता लगता है कि महाभारत युद्ध के पहले मगध देश में बार्हद्रथों का राज स्थापित हो चुका था। चेदिनरेश उपरिचार के पुत्र बृहद्रथ के लिये ही पहले पहल मगध-नरेश की पदवी लिखी मिली है। इसका पुत्र जरासंध था और पौत्र सहदेव महाभारत युद्ध के समसामयिक थे। सहदेव के अनंतर २३ पीढ़ी तक इस वंश का मगध में राज्य था। इसके अनंतर अवंती नरेश चंडप्रद्योत का मगध पर अधिकार हुआ और मगध-नरेश एक प्रकार उनकी अधीनता में रहने लगे।

इनके अनंतर गिरिव्रज के शैशुनाग वंशी राजाओं का मगध पर अधिकार हो गया और प्रत्येक राजा राज्य बढ़ाने में सफल प्रयत्न हुआ। शिशुनाग, काकवर्ण, क्षेमधर्मन, क्षत्राजीत

और विंबसार ने क्रमशः राज्य किया। इस वंश का पहला प्रतापी राजा यही विंबसार हुआ। यह गौतम बुद्ध और महावीर तीर्थंकर का समकालीन तथा अंग देश का विजेता था। इसने जीवितावस्था ही में पुत्र को राज दे दिया पर पुत्र ने लोभ-वश इसे मरवा डाला। विंबसार के साला कोशलराज प्रसेन्-जित् ने अजातशत्रु पर बदला लेने के लिए चढ़ाई कर दी पर अंत में संधि हो गई और प्रसेनजित ने अपनी कन्या अजातशत्रु को व्याह दी। अजातशत्रु पहले बौद्धों का कट्टर विरोधी था। पर अंत में बुद्ध के उपदेशों को सुनकर बौद्ध हो गया। इसने लिच्छिवियों पर भी विजय प्राप्त की और उन्हें दबाने के लिये गंगा और सोन के संगम पर पाटलिपुत्र नामक दुर्ग बनवाया। यह इस वंश का प्रथम सम्राट् था।

अज्ञातशत्रु का उत्तराधिकारी दर्शक हुआ जिसके अनंतर उदयाश्व या उदायी राजा हुआ जिसने पाटलिपुत्र के पास कुसुमपुर नामक नगर बसाया। इन सम्राटों ने राज्य बढ़ाने का कुछ प्रयत्न नहीं किया। इनके अनंतर नंदिवर्द्धन और महानंदि नामक दो सम्राटों का उल्लेख है। महानंदि इस वंश का अंतिम सम्राट था जिसको शूद्रा स्त्री से नंद नामक पुत्र हुआ। इसने मगध राज्य पर अधिकार करके नंद वंश स्थापित किया।

इस प्रकार वि० सं० पूर्व ५८५ से वि० सं० पू० ३१५ तक लगभग पौने तीन सौ वर्ष तक राज करने पर शिशुनाग वंश का अंत हुआ और नंदवंश का प्रथम सम्राट् महापद्म नंद हुआ। यह शूद्रा से उत्पन्न था तथा क्षत्रियों का कठोर शत्रु था। यह अट्ठासी वर्ष राज्य कर मर गया। इसके अनंतर

बारह वर्ष तक इनके पुत्रों के हाथ में रहकर मगध राज्य मौर्यों के हाथ में चला गया।

ग्रीक लेखकों के अनुसार उस समय के नंदवंशीय राजा के कुस्वभाव के कारण हिंदू प्रजा में असंतोष फैला हुआ था। दूसरा कारण यह भी दिया है कि वे शूद्रजात थे। नंदवंश वाले क्षत्रियों के नाशक थे इससे उस समय के क्षत्रिय राजे भी उनसे विमुख थे। जिस समय चाणक्य नंदों से बिगड़ा उसी समय के आसपास सिकंदर भारत में आया और चला गया। उस समय चंद्रगुप्त पंजाब में चक्कर लगा रहा था। सिकंदर की मृत्यु पर पंजाब के राजाओं ने यवनों के शासन के विरुद्ध विद्रोह किया और चंद्रगुप्त इन बलवाइयों का मुखिया बन बैठा। इसी समय चाणक्य ने चंद्रगुप्त को नंदों के विरुद्ध उभाड़ा और पंजाब के राजाओं की सहायता से तथा आंतरिक षड्चक्र द्वारा मगध राज्य पर अधिकार कर चंद्रगुप्त को प्रथम मौर्य सम्राट् बनाया।

चंद्रगुप्त ने अधिकार प्राप्ति के अनंतर कोशल तक अपना राज्य बढ़ाया। वि० सं० २४० पू०में ग्रीक राजा सिल्यूकस निकेटोर सिकंदर के विजय किए हुए प्रांतों पर अधिकार करने के बाद भारत वर्ष में आया पर चंद्रगुप्त से परास्त होकर लौट गया। इस पराजय के उपलक्ष में सिल्यूकस को अपनी कन्या चंद्रगुप्त से व्याहनी पड़ी और काबुल, कंधार, हिरात तथा बिलूचिस्तान के प्रदेश भी उसे सौंपने पड़े। चंद्रगुप्त ने भी अपने श्वशुर को पाँच सौ हाथी प्रदान कर सम्मानित किया। इसके उपरांत सिल्यूकस ने मेगास्थनीज को अपना राजदूत बनाकर चन्द्रगुप्त के दरबार में रखा।

इस प्रकार चौबीस वर्ष निष्कंटक राज्य कर पचास वर्ष

की अवस्थामें सं० २४१ पू० के निकट चंद्रगुप्त को मृत्यु हुई। इसके अनंतर इनके पुत्र बिंदुसार ने पच्चीस व राज्य किया और तब परम प्रसिद्ध अशोक भारतवर्ष का सम्राट् हुआ।

६ ग्रंथ-परिचय

मुद्राराक्षस का स्थान संस्कृत साहित्य में बहुत ऊँचा है और अन्य नाटकों से भिन्न यह ऐतिहासिक तथा राजनीति-विषयक होने के कारण इसका कथावस्तु पुराण, महाभारत या रामायण से नहीं लिया गया है और न कोरी कपोल कल्पना ही है। वह शुद्ध इतिहास से लिया गया है। नाटक का मुख्य उद्देश है चाणक्य द्वारा स्थापित प्रथम मौर्य सम्राट चंद्रगुप्त की राज्यश्री की स्थिरता, जिसके लिये नंद वंश के पुराने स्वामिभक्त मंत्री राक्षस को जो मौर्य वंश से शत्रु भाव रखता था मिलाना ध्येय रखा गया। भाषा नाटक के विषयानुकूल है। यदि इसमें महाकवि कालिदास के नाटकों का माधुर्य या सौन्दर्य ढूँढ़ा जाय तो अवश्य ही न मिलेगा पर उसका न मिलना ही इस नाटक की विशेषता हैं। इसकी भाषा जोरदार तथा व्यावहारिक है और कहीं कहीं कुछ हास्यरस का भी पुट दिया गया है।

इस नाटक में एक विचित्रता यह है कि इसमें स्त्री पात्रों का अभाव सा है और शृंगार तथा करुण रस का संसर्ग भी नहीं होने पाया है। यद्यपि अंतिम अंक में चंदनदास की स्त्री रंगमंच पर आती है पर वह भी नीरस, कठोर कर्तव्य पालोनोन्मुखी तथा स्वार्थत्यागिनी के रूप में प्रदर्शित है। उसके पास भी करुण रस नहीं फटकने पाया तब शृंगार की कहाँ पूछ होती। नाटककार ने लिख ही दिया है कि 'कलत्रमितरे

सम्पतसु चापत्सुच', (अंक २ श्लो० १५) अर्थात् राजनीतिज्ञ के लिए स्त्रियां सुख दुःख दोनों में भार सी प्रतीत होती हैं। इस प्रकार के राजनीति-धुरंधर नाटककार के लिखे गए राजनीति विषयक नाटक में माधुर्य या सौंदर्य का खोजना ही व्यर्थ है।

मुद्राराक्षस नाटक सात अंकों में है और नाट्यकला के सभी लक्षण इसमें पूर्ण रूप से वर्तमान हैं। इस नाटक में वीर रस प्रधान है। यद्यपि आश्चर्य की मात्रा भी प्रचुर रूप से वर्तमान है पर कर्मवीरत्व या उद्योग ही का प्राधान्य सारे नाटक में है। प्रधान नायक चंद्रगुप्त धीरोदात्त है। पात्रों का विवेचन आगे दिया जायगा। प्रथम अंक में चाणक्य का मौर्य-राज्य की स्थिरता के लिए राक्षस को चंद्रगुप्त का मंत्री बनाने की दृढ़ इच्छा प्रकट करना बीज है। राक्षस की मोहर की प्राप्ति और शकटदास से पत्र लिखाकर मोहर करना तथा उसे मलयकेतु को कपट से दिखलाना विंदु है इसी विंदु तथा कार्य से नाटक का नामकरण हुआ है। विराधगुप्त का राक्षस से उसके प्रयत्नों का निष्फल होने का संदेश कहना पताका है। चाणक्य और चंद्रगुप्त के मिथ्या कलह का संवाद राक्षस के पास लाना प्रकरी है। राक्षस का मंत्रित्व ग्रहण करना कार्य है

नाटक के कथावस्तु का निर्वाह भी विवेचनीय है। इसका प्रासंगिक कथावस्तु सर्वदा गौण तथा अधिकारिक कथावस्तु का सौंदर्य वृद्धि में सहायक रहा। इसके दृश्य और घटनाक्रम ऐसी बुद्धिमानी और कुशलता से संगठित किए गए हैं कि वे कहीं उखड़े से या असंबद्ध नहीं ज्ञात होते। कथावस्तु का आरम्भ, मध्य की अवस्थाएँ तथा अंत भी बड़ी योग्यता से

रखे गए हैं जिससे वे कहीं बेडौल या भद्दे नहीं मालूम पड़ते। प्रथम अंक में चाणक्य का आकर कुछ पूर्वेतिहास कहना और नाटक का उद्देश बतलाना तथा उसीके साथ ही राक्षस की मुद्रा की प्राप्ति से उसे फँसाने का प्रबंध करना दिखलाकर दर्शकों को नाटक का घटना का पूरा ज्ञान करा दिया गया। इसके अनंतर द्वितीय अङ्क में राक्षस के प्रयत्नों का निष्फल होना तथा तृतीय अङ्क में चंद्रगुप्त और चाणक्य का झूठा झगड़ा दिखलाना उद्देशपूर्ति का यत्न है। चतुर्थ और पंचम अङ्क में मलयकेतु का राक्षस के प्रति शंकोत्पत्ति से लेकर अंत में सत्य कलह दिखलाना प्राप्त्याशा है। छठे में राक्षस का वधस्थान को जाना नियताप्ति और सातवें में मंत्रित्व ग्रहण करना फलागम है।

इस प्रकार विवेचना करने पर स्पष्ट ज्ञात होता है कि मुद्राराक्षस रूपक का प्रथम भेद नाटक है और नाट्यकला के अनुसार नाटक के सभी लक्षणों से युक्त है।

७ नाटकीय कथावस्तु का समय

नंदवंश के नाश, चन्द्रगुप्त के राज्याधिकार, पर्वतक और सर्वार्थसिद्धि के मारे जाने तथा राक्षस के मलयकेतु के पास चले जाने से लेकर उसके फिर से चंद्रगुप्त का मंत्रित्व ग्रहण करने तक लगभग एक वर्ष का समय व्यतीत हुआ था। क्योंकि चतुर्थाङ्क पंक्ति ४५ में मलयकेतु का कथन है कि 'आज पिता को मरे दस महीने हुए' और पर्वतक के मार जाने के बाद ही राक्षस मलयकेतु के पास गया था। नाटक का आरंभ उस दिन से होता है जब जीवसिद्धि पर्वतक पर विषकन्या के प्रयोग करने के दंड में राज्य से निर्वासित किया जाता है और

यह दंड पर्वतक के घात के दो ही चार दिन के अनंतर दिया गया होगा। जिस दिन मलयकेतु ने पूर्वोक्त बात कही थी उस दिन मार्गशीर्ष की पूर्णिमा थी (देखिए चतुर्थ अङ्क पंक्ति २७०-५ की टिप्पणी)। इससे दस मास पिछले गिनने से फाल्गुन की पूर्णिमा आती है जिसके दो एक दिन इधर या उधर पर्वतक की मृत्यु हुई होगी।

नाटककार को पूर्णिमा स्यात् प्रिय दिन था क्योंकि उसने प्रस्तावना में भी चंद्रग्रहण के बहाने पूर्णिमा का उल्लेख कर ही डाला है। पंडित मोरेश्वर रामचंद्र काले ने लिखा है कि 'प्रथम अंक का दृश्य चैत्र की पूर्णिमा के आस पास के दिन रखा गया होगा क्योंकि कम से कम एक महीना चंद्रगुप्त के पाटलीपुत्र-प्रवेश तथा प्रथम अंक की वर्णित घटना में अवश्य ही व्यतीत हुआ होगा और पर्वतक की जिस क्रिया को चंद्रगुप्त करना चाहता था वह मासिक श्राद्ध रही होगी।

दूसरे अंक में विराधगुप्त ने राक्षस से कुसुमपुर का वृत्तांत कहते हुए कहा था कि 'जब चंद्रगुप्त की विजयघोषणा के विरोध से पुरवासियों के भाव का अनुमान करके आप नंद-राज्य के उद्धारार्थ सुरंग से बाहर चले गए और जिस विष-कन्या को आपने चंद्रगुप्त के नाशहेतु भेजा था उससे तपस्वी पर्वतेश्वर मारा गया।' इससे यह निश्चित हो गया कि कुसुमपुर में चंद्रगुप्त की विजय-घोषणा हो जाने पर पर्वतेश्वर मारा गया। मलयकेतु कुसुमपुर नगर ही से भागा था। तब चाणक्य ने पर्वतक के भाई वैरोधक पर विश्वास जमाकर उसी दिन की अर्द्धरात्रि को उसे नंदभवन में प्रवेश कराया था। पर यह राक्षस के भेजे हुए घातकों द्वारा मारा गया (देखिए अङ्क २ पं० १९८-२०५ और २५३)। इस कारण से

चन्द्रगुप्त को उसके पुत्र या भाई आदि के न रहने पर पर्वतक की क्रिया करानी पड़ी और उसके आभूषणादि ब्राह्मणों को बांट देने पड़े। प्रथम अंक पं० १६—२१ के अनुसार भी राक्षस का मलयकेतु से मिलने, म्लेच्छ राजाओं को सहायतार्थ उभाड़ने तथा इस तैयारी के समाचार को चाणक्य तक पहुँचने में एक मास के लगभग अवश्य समय लगा होगा।

पूर्वोक्त विचारों से प्रथम अंक का घटनारंभ चैत्र के अंत या वैशाख के आरंभ में हुआ।

दूसरा अंक भी लगभग एक मास बाद का होगा क्योंकि प्रथम अंक में सूली दिए जानेवाले शकटदास को छुड़ाकर सिद्धार्थक इस अंक में राक्षस के पास पहुँचा। कुसुमपुर से मलयकेतु के पड़ाव तक की दूरी तथा दुर्गम रास्ते के लिये चतुर्थ अंक के आरंभ में करभक का कथन ही पर्याप्त है।

तीसरे अंक का दृश्य चातुर्मास के अनंतर आश्विन शुक्ल पूर्णिमा का है। इसका वर्णन उसी अंक में है।

चौथे अंक का दृश्य मार्गशीर्ष की पूर्णिमा का है। (देखिए पंक्ति २७३—७५ का टिप्पणी)

पाँचवें अंक का भी पूर्वोक्त तिथि के एक मास बाद का होना संभव है क्योंकि मलयकेतु की सेना करभक की कथित दूरी को (अंक ४ पंक्ति २-३) तैकर कुसुमपुर के पास पहुँच गई थी। (अंक ५ पंक्ति २८)

अंतिम दो अंकों की घटना का समय लेने पर नाटक की कथावस्तु का समय एक वर्ष के भीतर ही होता है।

८ पात्रों का विवेचन।

कवि विशाखदत्त ने अपने पात्रों का चरित्र-चित्रण भी

अच्छा किया है। इस नाटक के प्रधान पात्र कुटिल राज-नीति धुरंधर चाणक्य उपनाम कौटिल्य हैं और इनके प्रति-द्वंद्वी नंदवंश के मंत्री राक्षस हैं। नाटक के नायक मौर्य वंश के प्रथम सम्राट चंद्रगुप्त तथा प्रतिनायक मलयकेतु हैं। अन्य पात्रों में चंदनदास, शकटदास और भागुरायण उल्लेखनीय हैं। चाणक्य और चंद्रगुप्त ऐतिहासिक पुरुष हैं। राक्षस भी ऐतिहासिक पुरुष होंगे क्योंकि ऐसे प्रधान पात्र को कल्पित मानना उचित नहीं। यदि ये कोरे कवि कल्पना मात्र होते तो क्या कवि राक्षस से अच्छे नाम की कल्पना नहीं कर सकता था। मलयकेतु भी ऐतिहासिक हो सकता है। अन्य पात्र कल्पित हैं।

इस नाटक में प्रथम पात्र-युगल के जीवन का केवल वही अंश दिखलाया गया है जो राज्य के षडयंत्रों में व्यतीत होता था। पर दोनों ही में स्वार्थ का चिन्ह भी नहीं देख पड़ता। चाणक्य ने इतने परिश्रम से, केवल अपनी प्रतिज्ञा को पूरा करने के लिए चंद्रगुप्त को राज्य का अधिकारी बनाया और अंत में उस राज्य को दृढ़ कर मंत्रित्व का पद तक न ग्रहण किया वरन स्वस्थापित राज्य की भलाई के लिए उसे अपने प्रतिद्वंद्वी राक्षस को सौंप दिया। राक्षस भी निस्वार्थ भाव से ही अपने गत स्वामिवंश का बदला लेने को प्राणपण से लगा था। निस्वार्थता ही तक दोनों समान हैं पर इससे परे वे कहां तक एक दूसरे से भिन्न हैं यह स्पष्टतया दिखला दिया गया है। चाणक्य दूरदर्शी, दृढ़प्रतिज्ञ और कुटिल नीति में पारंगत थे। उन्हें अपने ऊपर पूर्ण विश्वास था और उनकी मेधा तथा स्मृतिशक्ति भी बलवती थी। इन्हीं गुणों के कारण उन्होंने शत्रु के षड़यंत्रों को निष्फल करते हुए उनसे स्वयं लाभ उठाया और

निज उद्देशसिद्धि के लिए उन्हीं का प्रयोग ठीक समय पर कर वे सफल प्रयत्न हुए। इनमें मनुष्यों के पहचानने की शक्ति भी अपूर्व थी पर इसके विपरीत राक्षस ने अंत तक अपने विश्वस्त मनुष्यों से ही धोखा खाया। शत्रु के यहाँ से भाग आने को इन्होंने उत्तम प्रमाण तथा प्रशंसापत्र मान लिया था। एक बार इन्हें इस विषय पर शंका हुई थी (देखिए अं० ५ पं० २२४-६) पर वह भी अन्तिम समय में। राक्षस वीर सैनिक थे पर राजनीति के कुटिल मार्गों के वे अच्छे ज्ञाता नहीं थे जिस से कभी कभी भूल करते थे। (देखिए अंक २ पं० १४७ की टि०) ये स्वभाव से मृदुल थे और उदार हृदय होने के कारण किसी पर अविश्वास नहीं करते थे। स्वामी के सर्वस्व नाश हो जाने के दुःख तथा उनका बदला लेने के उत्कट उत्साह से भी उनकी मेधाशक्ति आच्छादित हो रही थी। घटनाओं के वर्णन में यह विशेषता भी है कि सब बातें ठीक वैसी ही होती थीं जैसा कि चाणक्य चाहता था। कहीं भी उनकी इच्छा के विपरीत कोई घटना नहीं हुई। ऐसा जान पड़ता है कि चाणक्य घटनाओं का अनुशासन उसी प्रकार करता था जैसे काठ की पुतली नचानेवाला सूत्रों को हाथ में पकड़कर इच्छानुकूल उनसे कार्य कराता है। इस अवस्था में या तो हम चाणक्य की बहुज्ञता और दूरदर्शिता का परिचय पाते हैं अथवा कवि पर अस्वाभाविकता का दोष लगा सकते हैं। कभी कभी अनुकूल घटनाएँ ठीक समय पर हो जाती हैं पर आदि से अन्त तक चाणक्य द्वारा प्रेरित सब घटनाओं का सरोतर उतरना नाटक के नाट्यत्व में बाधक होता है। अस्तु

चाणक्य का नाम विष्णुगुप्त था पर चणक का पुत्र होने से

चाणक्य तथा कुटिल नीति के प्रवर्तक होने से वे कौटिल्य कहलाए। इन्हें कामसूत्रकार वात्स्यायन भी बतलाया जाता है। संस्कृत कोषकारों ने इनके नाम इस प्रकार दिये हैं—विष्णुगुप्तस्तु कौटिल्यश्चाणक्यो द्रामिलोऽङ्गुलः। वात्स्यायनो मल्लनागपक्षिलस्वामिनावपि। यह वैदिक शास्त्र के अच्छे विद्वान तथा राजनीति-विषयक कौटिल्य-शास्त्र के रचयिता हैं। राजनीति में इनकी इतनी प्रसिद्धि थी कि कामन्दक ने स्वरचित ग्रंथ नीतिसार के आरंभ में इनकी प्रशंसा लिखकर इन्हें नमस्कार किया है। इनका मत प्रत्येक कार्य को अच्छे और पूर्ण रूप से करने का था। इनमें पक्षपात का नाम भी नहीं था और ये शत्रु के उत्तम गुणों की प्रशंसा करने में भी नहीं चूकते थे (देखिए अंक १ पंक्ति ४१-५३, अं० ७ पंक्ति ११०-४)। स्वस्थापित साम्राज्य के प्रधान अमात्य होने पर भी साधु के समान जीवन व्यतीत करना इनके विराग का अत्युत्कृष्ट प्रमाण है (देखिए कंचुकी का वर्णन अंक ३ पं० ११८-२७)। इनका अपने शिष्यों पर बड़ा प्रेम रहता था (देखिए अं० १ पं० १७ की टि०)। इनमें क्रोध, उग्रता तथा हठ की मात्रा भी पूर्ण रूप से वर्तमान थी। इसी से सब उनसे डरते थे और यदि इन पर आत्मश्लाघा का दोषारोपण किया जाय तो अनुचित है क्योंकि इन्होंने असंभव कार्य को भी संभव कर दिखाया था। 'दैव दैव आलसी पुकारा' कहनेवाले थे जैसा अंक ३ पं० ३८२ में चंद्रगुप्त से कहा है। अस्तु, ऐसे पात्र की बँगला के सुप्रसिद्ध नाटककार द्विजेन्द्रलाल राय के चंद्रगुप्त नामक नाटक में जो दुर्दशा की गई है वह अनुचित है।

इतिहास से राक्षस के बारे में कुछ नहीं ज्ञात होता। ऐसा कहा जाता है कि सुबुद्धिशर्मा नामक ब्राह्मण चंदनदास

के पड़ोस में बसता था और उसकी तीव्र बुद्धि पर प्रसन्न होकर नंद ने उसे मंत्री बना दिया था। राक्षस में मित्रस्नेह अधिक था और उन्होंने भी शत्रु के योग्यता की प्रशंसा कर हृदय की महत्ता दिखलाई है (अं० ७ पंक्ति २०७-८)। ये दैव, अशकुन और शुभाशुभ का विचार रखते थे। इनके सेवकों पर इनका रोब नहीं पड़ता था। चाणक्य मार्ग की कठिनाइयों को कुचलते हुए उन्नत मस्तक होकर चले चलते थे पर राक्षस दैव को दोष देकर चित्त को शांत कर लेते थे (अं० ६ पं० ६८)।

अन्य पात्र-युगल, चंद्रगुप्त और मलयकेतु, नाटक के नायक तथा प्रतिनायक हैं। चंद्रगुप्त चाणक्य में पूज्य भाव रखता था और उसे उनकी योग्यता तथा नीतिकुशलता पर पूर्ण विश्वास था। मलयकेतु राक्षस पर पहले ही से शंका करता था (अंक० ४ पं० १०१) और अंत में अविश्वास योग्य पुरुषों के कहने सुनने पर विश्वास कर उसने उन्हें निकाल भी दिया। इसमें चंद्रगुप्त के समान योग्यता नहीं थी। यह विना विचार किए मनमाना कर बैठता था जैसे कि पाँच राजाओं का मार डालना (अंक० ५ पं० ४१४-१६)। दृढ़ प्रकृति का न होने से यह शत्रु के भेदियों की बातों में आ गया।

अन्य पात्रों में चन्दनदास मित्रस्नेह का आदर्श रूप है। धन प्राण आदि सभी को तिलांजलि देकर इसने उसका निर्वाह किया। शकटदास ने भी मित्रता निबाही। भागुरायण ने मलयकेतु से स्नेह हो जाने पर भी स्वामिभक्ति का मार्ग नहीं छोड़ा (अं० ५ पं० ५२-४ । अन्य पात्रों में भी यह गुण वर्तमान था।

८ कथावस्तु

नाटक का कथावस्तु बड़ी सफलता तथा बुद्धिमानी से संगठित किया गया है और उसकी मुख्य घटनाएँ इस प्रकार हैं। प्रथम अंक—(१) राक्षस की मुहर की अंगूठी का दैवात् चाणक्य को मिल जाना (२) शकटदास से जाली पत्र लिखवाना तथा उसे और कुछ संदेश सिद्धार्थक को सौंपना (३) जीवसिद्धि का देशनिर्वासन, शकटदास का भगाना तथा चंदनदास का कैद होना। द्वितीय अंक-(४) शकटदास का चाणक्य के चर सिद्धार्थक के साथ भागना और सिद्धार्थक का राक्षस की सेवा में नियुक्त होना (५) मलयकेतु के गहनों को सिद्धा र्थक को देना और सिद्धार्थक का मुहर लौटाना(६) पर्वतक के गहनों को धोखे से राक्षस के हाथ बेंचना। तृतीय अंक—(७) चंद्रगुप्त और चाणक्य का झूठा कलह। चतुर्थ अंक—(८) मलयकेतु का राक्षस पर शंका करना और चाणक्य के चर भागुरायण पर विश्वास। पंचम अंक—(९) मलयकेतु का राक्षस से कलह कर पाँच राजाओं को मरवा डालना (१०) मलयकेतु का युद्ध करने जाना तथा कैद होना। छठा अंक—(११) राक्षस को चंदनदास के रक्षार्थ चंद्रगुप्त की अधीनता मानने के लिए चाणक्य के चर का चतुरता से बाध्य करना। सातवाँ अंक—(१२ अंत में राक्षस का मन्त्रित्व ग्रहण करना।

पूर्वोक्त घटनावली के देखने से ज्ञात होजाता है कि नाट्य कला के आचार्यों ने कथावस्तु के जो विभाग किए हैं उनका इस नाटक में कितनी उत्तमता से निर्वाह किया गया है इसका उल्लेख पहले किया जा चुका है। विद्वानों का मत है कि मृच्छ-

कटिक को छोड़कर इस नाटक से कोई अन्य नाटक इस गुण में आगे नहीं बढ़ सका है। सभी घटनाएँ एक उसी उद्देश—राक्षस को मिलाना—की पूर्ति की ओर जा रही है। चाणक्य के उद्देश निश्चित करते ही उसके सभी प्रयत्न उसीकी पूर्ति के लिए हुए और अपने चरों से राक्षस को उसने इस प्रकार घेर लिया कि उसके सभी प्रयास निष्फल कर उसे अंत में ऐसे अवसर पर ला उपस्थित किया कि अंत में उसे या तो घोर कृतघ्नता के या मगध साम्राज्य के मंत्रित्व के बोझ में से एक को स्वीकार करना ही पड़ा।

आरंभ में दर्शकों को सभी बातों का पूरा पूरा ज्ञान कराते हुए जो उत्सुकता उत्पन्न की गई है वह प्रायः अन्त तक बढ़ती गई है और इसके दृश्य इतने सजीव और स्वाभाविक हैं कि कहीं जी नहीं ऊबता।

कहा जाता है कि इस नाटक से कोई उत्तम शिक्षा नहीं मिलती और इसके दोनों प्रधान पात्र अवसर पड़ने पर मित्रों तथा शत्रुओं को मार्ग से हटाने के लिए किसी उपाय को घृणित नहीं समझते थे। अस्तु, इसमें आदर्श सामने रखकर दैव पर भरोसा करने वालों को उद्योग या कर्मवीरत्व की उचित शिक्षा दी गई है। कर्म का ही फल दैव या निज कर्म है। कर्म में जो कुछ लिखा कहा जाता है वह पुस्तकाकार किसी के साथ संसार में नहीं आता पर जो कुछ कर्म किया जाता है वही पुस्तक स्वरूप में जाते समय यहीं छोड़ जाना पड़ता है। कर्मवीरत्व को यदि कुशिक्षा समझा जाय तो इस पर मेरा कुछ कथन नहीं है। प्रधान पात्रों पर जो कटाक्ष है उस पर कुछ लिखने के पहले इस गौण बात पर विचार करना उचित है। यदि कोई दस पाँच शस्त्रधारी पुरुष साथ लेकर किसीके गृह पर

आक्रमण करता है तो कहा जाता है कि वह डाँका डालता है पर जब कोई लाख दो लाख सेना लेकर किसी दूसरे के राज्य पर आक्रमण करता है तो वह जगद्‌विजयी, दिग्विजयी या चक्रवर्ती की उपाधियों से विभूषित किया जाता है। एक में केवल स्वार्थ है तो दूसरे में स्वार्थ के साथ यशोलिप्सा की मात्रा भी प्रचुरता से विद्यमान है। पर इस नाटक के इन दोनों पात्रों में यह दिखलाया जा चुका है कि स्वार्थ का लेश भी नहीं हैं। तात्पर्य यह है कि व्यक्तिगत दोष तथा समाज के लिए किए गए दोष एक ही बाँट से नहीं तौले जाते।

नंदवंश की राज्यलक्ष्मी चंद्रगुप्त के वशीभूत होकर भी चांचल्य नहीं त्याग रही थी अर्थात् वह साम्राज्य के दो विभागों में—चंद्रगुप्त तथा पर्वतक के बीच-बाँटे जाने के विचार से अस्थिर हो रही थी। चाणक्य ने यह विचार कर कि साम्राज्य के दो भाग होने से पड़ोस में दो प्रबल साम्राज्यों का शान्ति-पूर्वक रहना असंभव है और आपस के झगड़े में सहस्रों सैनिकों का रक्तपात होगा इससे वह बँटवारे के विरुद्ध हो गया। इधर राक्षस ने बदला लेने के लिए चंद्रगुप्त पर विषकन्या का प्रयोग किया। चाणक्य ने अच्छा अवसर पाकर उस विषकन्या का पर्वतक पर प्रयोग करा दिया जिससे बँटवारे का प्रश्न ही मिट गया। इसके अनन्तर जब राक्षस पर्वतक के पुत्र मलयकेतु से मिलकर राज्य में षड्‌यंत्र रचने लगा और उसने अनेक राजाओं को सहायतार्थ उभाड़ा तब चाणक्य को भविष्य में होनेवाले युद्ध की आशंका हुई। चाणक्य ने राक्षस को मिलाना ही उत्तम समझा और सहस्रों मनुष्यों के रक्तपात से उन्होंने एक जाली पत्र बना लेना या दो चार मनुष्यों का मारा जाना अधिक उचित माना। तृतीय अंक में

नाटककार ने चाणक्य ही द्वारा इस विषय पर बहुत कुछ कहलाया है। मलयकेतु अंत में छोड़ दिया गया और शकटदास तथा चंदनदास की शूली दिखावट मात्र थी। वधिकों का मारा जाना केवल राक्षस से शस्त्र फेंकवाने के लिये झूठ ही कहा गया था।

पूर्वोक्त विचारों से चाणक्य तथा राक्षस पर आरोपित दोषों का मार्जन हो जाता है। राजनीतिज्ञों का कार्य कितना कठिन है यह नाटककार ने स्वयं ही कहा है (देखिए अंक ४ पं० १५—१८) । नाटक में दो एक बातें विचारणीय हैं। जिस समय चाणक्य जीवसिद्धि, शकटदास तथा चन्दनदास को दण्ड दे रहे थे उस समय तक उन्हें पर्वतक को अपना मित्र ही प्रकट करना ध्येय था, तब राजद्रोही के लिए शूली और राजहंता को केवल निर्वासन कैसा ? क्या इस कारण से कि वह साधु था ? अंक १ पं० ३५० में चाणक्य कहते हैं कि 'ते वक्रनासादिक सचिव नहिं थिर सके करि, नसि चली।' उन वक्रनास आदि सचिवों ने राक्षस के समान बदला लेने का कोई प्रयत्न नहीं किया या वे उदासीन हो गए इसका नाटक में कोई उल्लेख नहीं है। नाटकारंभ में चाणक्य का पहले पहल रंगस्थल पर 'खुली हुई शिखा को फटकारते हुए' प्रवेश होता है पर अंक ३ पं० ३८६ में चाणक्य द्वारा एक बार यह कहलाया गया है कि 'शिखां मोक्तुं बद्धामपि पुनरयं धावति करः।' परंतु दूसरी बार चाणक्य कहते हैं कि 'मया पूर्ण प्रतिज्ञेन केवलं बध्यते शिखा' (अंक ७ पं० २१८) । बँधी हुई शिखा का फिर कैसा बाँधना ? टीकाकार ढुंढिराज ने इसका समाधान 'तीर्णप्रतिज्ञत्वाद्बद्धमिष्टामपि न बध्नामि' लिखकर किया है। पर्वतक की मृत्यु के अनंतर भी मलयकेतु को कुमार लिखने का कोई उचित कारण नहीं ज्ञात होता।

१० नाटकोल्लिखित स्थानों तथा जातियों का विवरण ।

जैसा पाटलिपुत्र की स्थिति के विषय पर लिखा जायगा कि नाटककार ने अपने समय की स्थिति का ही नाटक में वर्णन किया है वैसे ही नाटक में उल्लिखित स्थानों तथा जातियों के विषय में भी कहा जा सकता है। वस्तुतः नाटककार ने केवल इतिहास से कथावस्तु की घटना मात्र ले ली है और उसका विस्तार अपने समय की भौगोलिक, सामाजिक, राजनैतिक आदि सत्य तथा निज अनुभव से प्राप्त विवरणों से किया है। इस कथन की पुष्टि के लिये शक या हूण जाति का नामोल्लेख या बौद्ध की सामाजिक स्थिति का वर्णन ही पर्याप्त है। इनमें कई नाम ऐसे भी हैं जो चन्द्रगुप्त मौर्य के बहुत पहले विद्यमान थे तथा नाटककार के शताब्दियों अनन्तर आधुनिक समय तक प्रचलित हैं पर उनके विषय में भी जो कुछ विशेष उल्लेख इस नाटक में किया गया है वह उसी समय का आभास देता है। अब प्रत्येक जाति तथा स्थान का वर्णानुक्रम से विवरण देकर उन पर पुनः विचार किया जायगा।

काश्मीर—पंजाब के उत्तर हिमालय पर्वतमाला से घिरा हुआ प्रान्त जो अपने प्राकृतिक दृश्यों के लिये प्रसिद्ध है। इस प्रान्त का यह नाम बहुत प्राचीन है। इस देश का प्राचीन इतिहास कल्हण कृत राजतरंगिणी है। ईसवी सन् की पहली शताब्दि में यह प्रान्त कुशानवंशीय राजाओं के अधीन हो गया जिनका साम्राज्य उत्तरोत्तर वृद्धि करता करता कनिष्क के समय विंध्य पर्वत तक पहुँचा हुआ कहा जाता है। यह भी जनश्रुति है कि कनिष्क ने पाटलिपुत्र पर भी आक्रमण किया था।

इसके पौत्र वासुदेव प्रथम* के समय यह साम्राज्य छिन्न भिन्न हो गया और मथुरा, गुजरात आदि के प्रान्ताध्यक्ष क्षत्रप स्वतंत्र बन बैठे। कश्मीर में उसी समय गोनर्दीय-वंश स्थापित हुआ जिस के आठवें, नवें तथा सत्रहवें राजों के नाम उत्पलाक्ष, हिरण्याक्ष और अक्ष हैं। काश्मीर के राजाओं की सूची में नाटक में दिये गये पुष्कराक्ष नाम से अधिक मिलते हुए पूर्वोक्त नामों के अतिरिक्त अन्य नामों का पता नहीं है। इस वंश का समय कुशान वंश के अंत से [सं० १२१] आरम्भ होता है तथा इक्कीस राजाओं के लिये यदि दो शताब्दि समय माना जाय तो पूर्वोक्त राजाओं का समय विक्रमीय चौथी शताब्दि का आरम्भ आता है जो मान्य है। मेरे विचार से अक्ष पुष्कराक्ष हो सकता है। कल्हण ने अपना ग्रन्थ सं० १०६१-२ में निर्माण किया था जो अक्ष के समय से लगभग आठ शताब्दी बाद पड़ता है और नाटककार यदि उस समय का रहा हो तो उसने उसका पूरा नाम अधिक जानकारी के कारण लिखा हो। यदि पूर्वोक्त विचार ठीक न हो तो यही कहा जा सकता है कि एक भारतीय राजनीति धुरन्धर अपने देश के ही तथा सामयिक एक बड़े राजा का नाम नहीं जानता था और पता भी नहीं लगा सकता था कि जिस से उसे जान बूझ कर एक कल्पित नाम गढ़ लेना पड़ा।

काम्बोज—यह एक जाति का नाम है। नैपाली जन-

---

* कनिष्क के पौत्र तथा हुविष्क के पुत्र का नाम वासुदेव सुनकर आश्चर्य होता है कि विदेशीय लोग पहले कितनी जल्दी भारतीय समाज में मिल जाते थे। म्लेच्छों के नामों पर जो तर्क किया गया है उसमें भी इससे सहायता मिलती है कि तुरुष्क आदि विदेशीय आप ही अपने नामों को भारतीय रूप दे देते थे।

श्रति में तिब्बत के लिये काम्बोज शब्द प्रयुक्त किया गया है। पर आधुनिक खोज से ज्ञात होता है कि काम्बोज जाति ईरानी वर्ग की भाषा बोलती थी और वह हिंदूकुश पर्वत में कहीं बसती थी। कालिदास रघुवंश में रघु के दिग्विजय का वर्णन करते हुए लिखते हैं कि 'पुण्डरीक विजय कर रघु उत्तर की ओर चले और सिन्ध नदी के किनारे पहुँचे। यहाँ हूणों से युद्ध हुआ। इसके अनन्तर काम्बोजों से युद्ध हुआ और तब वह हिमालय की पार्वत्य जातियों तक पहुँचा।' [सर्ग ४ श्लोक ६७-६९] नाटककार ने भी काम्बोज को एक जाति ही लिखा है तथा उसे भारत की पश्चिमोत्तर देशीय जातियों के नामों में गिनाया है। ग्यारहवीं शताब्दी के आरम्भ में काम्बोजों ने बंगाल के पाल वंशी राजा को परास्त कर राज्य स्थापित किया, पर सं० १०५० के लगभग महीपाल ने इस जाति को निकालकर फिर से अधिकार कर लिया। फाहियान के यात्राविवरण में इस जाति का उल्लेख नहीं है। पूर्वोक्त कथनों से ज्ञात होता है कि यह जाति विक्रम संवत् की आरम्भिक शताब्दियों में पश्चिमोत्तर पार्वत्य प्रान्तों में ही बसी थी पर वहां से यात्रा करती दसवीं शताब्दी में तिब्बत आदि होती बंगाल के उत्तरी प्रान्त तक पहुंच गई।

किरात—एक प्राचीन जंगली जाति विशेष। इसका उल्लेख महाभारत [आदि पर्व, सर्ग १७७ श्लोक ३६], भारवि कृत किरातार्जुनीय तथा रघुवंश [सर्ग ४ श्लोक ७६] में है। किरातों का देश हिमालय का पूर्व का पार्वत्य प्रान्त था जिस के अन्तर्गत आधुनिक नैपाल का कुछ पूर्वीय अंश, सिक्किम तथा भूटान माना जाता है।

कुलूत—जालन्धर दोआब के पश्चिम और उत्तर का प्रान्त

जो सतलज के दायें तट पर है और जिसे वर्तमान समय में कुलू कहते हैं। इस स्थान का उल्लेख कादम्बरी तथा बराह-मिहिर में भी है। होएनत्सांग ने इसका जालन्धर से मथुरा तथा थानेस्वर के मार्ग पर होना लिखा है। वृहतसंहिता [सं ०१४ श्लोक २२] में पश्चिमोत्तर की जातियों में मद्र, अस्मक, कुलूत, चहडा आदि का उल्लेख है। उसी के २६ वें श्लोक में पूर्वोत्तर की जातियों के साथ भी कुलूतों का वर्णन है।

खस—यह भी एक पार्वत्य जाति है। राजशेखर ने काव्य-मीमांसा में कथोत्थमुक्तक के उदाहरण में जो श्लोक उद्धृत किया है उसमें खसों का निवासस्थान हिमालय दिया गया है। जस्टिस तैलंग तथा उन्हीं के अनुसार प्रो० विधुभूषण गोस्वामी ने खसों का निवासस्थान गारो तथा खसिया पहाड़ियाँ लिखा है जो आसाम प्रान्त में ब्रह्मपुत्र के बाएँ तट की ओर हैं। इसे मान कर जस्टिस तैलंग ने लिखा है कि इसके अनुसार 'खश' के स्थान पर पाठांतर 'खस' अधिक उपयुक्त है। पूर्वोक्त दोनों विद्वानों ने 'खशमगधगणैः' को ठीक समझते हुए लिखा है कि मगर भी एक पहाड़ी जाति है जो कमायूं के पास के प्रान्त में बसती है और यह खसों के निवासस्थान के पास है। पर कमायूं तथा खसिया पहाड़ी के बीच में मगध राज्य और तीन सौ कोस की दूरी स्थित है ऐसी अवस्था में खसिया की पहाड़ी जाति का शत्रु के प्रबल साम्राज्य को पार कर राक्षस या मलयकेतु के पड़ाव तक जाना ठीक नहीं जँचता। कल्हण ने राजतरंगिणी में खशों के बारे में सं० ११८७ की एक घटना का विवरण देते हुए लिखा है कि बान्हाल दर्रे के दक्षिणी अन्त पर बाणशाला दुर्ग एक खश सरदार के अधिकार में था और इन्हीं खशों की

सहायता से काश्मीर-नरेश जयसिंह अपने कुछ प्रवल शत्रुओं को मार सके थे। खशों का उल्लेख महाभारत [आदि पर्व सर्ग ७७ श्लोक ३६] में भी है। पूर्वोक्त विचारों से यह निश्चित है कि यह एक प्राचीन जाति है जो काश्मीर के पूर्व कमायूँ तथा नैपाल में बसी हुई है। मिस्टर कार्लाइल के अनुसार नैपाल के गोर्खे इन्हीं खश तथा मगर के वंशज है।

गांधार—यह आधुनिक कन्धार हैं यहाँ के बसनेवाले गान्धार कहलाते थे। यह राज्य प्राचीन समय से है तथा कुशान वंश के साम्राज्य की राजधानी भी गांधार थी जिस पर सं० ५३२ के लगभग हूणों ने अधिकार कर लिया था। वैक्रमीय नवीं शताब्दी के मध्य में पाल वंशीय धर्मपाल ने पांचाल नरेश इंद्रायुध को हटाकर उस स्थान पर चक्रायुध को बैठाते समय जिन राजाओं की सम्मति ली थी उनमें गांधार राज्य का भी उल्लेख है।

चेदि—यह देश नर्मदा नदी के दोनों ओर है जिसकी राजधानी त्रिपुरी थी। अन्य प्रतियों में चेदि के स्थान पर पाठांतर चीणाः है जो चीन देशीय समझे जाते हैं। महाभारत [आदिपर्व, स० १६७ श्लोक ३७] में भी चीनों का उल्लेख है। मोक्षमूलर इन्हें चीन देशीय मानने पर सहमत नहीं हैं पर वे कहां के निवासी थे यह निश्चित नहीं कर सके। जो कुछ हो चीना हिमालय के दक्षिण या उत्तर के निवासी थे।

पारस—आर्यों की ही एक शाखा अफगानिस्तान के पूर्व बस गई थी। इससे आर्यावर्त के समान उस प्रान्त का नाम आर्यियान, ऐर्यान या ऐरण हुआ जिस से ईरान शब्द बना। इस देश का एक अंश पार्स या पारस्य प्रान्त कहलाता था

जहां के वासी हखामनीय वंश का वि० सं० से लगभग सात शताब्दी पहले अधिकार होने पर कुल देश पारस कहलाने लगा। महाभारत, विष्णुपुराण, रघुवंश, कथासरित्सागर आदि में पारस्य और पारसीक का उल्लेख मिलता है। विक्रम सं० के आरम्भिक काल में पारद वंश प्रबल था जिस से पारस देश कभी उसके तथा कभी यवनों के अधिकार में था पर तीसरी शताब्दी के अन्त में ससान वंश पारदों को परास्त कर स्वतन्त्र हो गया। इस वंश का सं० ६९७-९ के नहीवंद युद्ध में अन्त कर मुसलमानों ने पारस में आर्य संस्कारों का नाश कर दिया। इसी के साथ योरोप के यूनानी [यवन] जाति का पारस पर जो अधिकार था उसका भी अन्त हो गया। पारस के किसी नरेश का नाम मेघाख्य से मिलता जुलता नहीं मिलता पर यह भी विचारणीय है कि यदि पारस का राजा स्वयं वलवाइयों का साथ देने को इतनी दूर भारत पर चढ़ाई कर आता तो वह घटना ऐसी गुप्त नहीं रहती। स्यात् किसी सेनानी के अधीन कुछ सेना आई हो।

मगध—मुद्राराक्षस में इसे एक जाति माना है [खस मगधगणैः]। स्यात् मगध के उन रहनेवालों से तात्पर्य हो जो चन्द्रगुप्त से द्रोह रखते थे।

मलय—इस नाम के बारे में जस्टिस तैलंग लिखते हैं कि 'यदि मलय पाठ ठीक है तो नाटक में केवल यही एक दक्षिणीय स्थान है। यह पश्चिमीय घाट का दक्षिणी छोर है। मलय नाम को छोड़ कर सभी स्थान उत्तरी भारत के तथा अधिकतर पश्चिमोत्तर सीमा के हैं।' इससे यह ध्वनि निकलती है कि नाटक के मलय को पश्चिमोत्तर सीमा पर, मुख्य कर मलयकेतु के राज्य की सीमा पर होना चाहिये या मलय

पाठ ही अशुद्ध है। चाणक्य के एक चर ने कहा था कि कौलूत, कश्मीर और मलय मलयकेतु का राज्य चाहते हैं इससे इन तीनों का मलयकेतु के राज्य की सीमा पर होना आवश्यक है और मलय को कौलूत तथा कश्मीर के आस पास होना चाहिये। सिकन्दर के समय के पंजाब में मल्ली और मल्लोई नाम की दो जातियों का उल्लेख है। ग्रीक लेखकों ने मल्लोई जाति के पास आक्सीड्रकाई जाति का वर्णन किया है जिन दोनों जातियों का अपिशाली ने 'क्षौद्रक-मालव' समास में उल्लेख किया है तथा महाभारत में भी दोनों जातियों का साथ ही उल्लेख है। मिस्टर के० एच० ध्रुव ने सुएन-च्वांग के यात्राविवरण के अनुसार निश्चित किया है कि काश्मीर की पूर्वीय सीमा और कुलूत के मध्य में मलय जाति का स्थान था। डाक्टर जे० बर्गे ने भी इस शब्द की कुछ विवेचना की है जिस का सारांश भी यहां दे दिया जाता है।* महाभारत [प० ६ श्लोक ३५१] में जातियों की एक सूची में विदेह, मागध, स्वक्ष, मलय और विजय के नाम दिये हैं। विष्णु-पुराण [हॉल संपा० जि० २ पृ० १६५-६] में उसी क्रम से वे ही नाम दिये गये हैं। रामायण [कां० ४ स० ४० श्लो० २५] में सुम्भ, मन्य, विदेह, मलय और काशीकोशल के नाम हैं। इन में मागध, विदेह और काशीकोशल उत्तरी भारत के हैं और उनके साथ साथ रहने से मलयों के भी उत्तरी भारत के होने की सम्भावना है। रत्नकोष में मलय देश का उल्लेख है तथा अष्टाक्षर का मलय देशवासी होना लिखा है। नैपाल में गंडक और राप्ती के तटों पर बसा प्रान्त वर्तमान समय में मलयभूमि कहलाता है। लैसन ने [इंडि० एटलस द्वितीय सं०,

* इंडिअन एंटिक्वेरी जि० १४ पृ० १०४-८ और ३२०।

जि० १ पृ० ३५] इसका नाम पर्वत भी लिखा है। मिस्टर ध्रुव ने सुएनच्वांग के मोप शब्द को मलय मान कर विवेचना की है जिसे जुलीन अशुद्ध मानते हैं पर दूसरा पाठ सांपोह्ने चम्पक या चांबा का द्योतक जान पड़ता है। संभव है कि पर्वतक ने अपने पुत्र का नाम उसी जाति पर रखा हो जिस का वह राजा था और उसी जाति के कुछ विद्रोही जो प्रकट रूप में मलयकेतु से मिले थे उसके राज्य का लोभ रखते रहे हों।

मालवा—एक प्रसिद्ध प्रान्त है जो वर्तमान समय में सेंट्रल इंडिया एजेंसी के अंतर्गत है।

यवन—यह शब्द भी म्लेच्छ के समान अनेक समय में अनेक जातियों के लिये व्यवहृत हुआ है। महाभारत में 'योनिदेशाश्च यवनान्' लिखा है पर यह योनि देश कहाँ है इसका उल्लेख नहीं है। स्यात् योनि और यूनान पर्यायवाची शब्द हों। रघुवंश में लिखा है कि जब रघु दिग्विजय करते पारस पहुँचे तब उन्हें 'यवनीमुखपद्मानां' का सौरभ प्राप्त हुआ था। सिकन्दर के आक्रमण के अनन्तर पारस तथा मध्य एशिया में ग्रीक बसने लगे थे और वहां उनका अच्छा प्रभाव था। विक्रम संवत के पूर्व की दूसरी शताब्दी में मौर्य वंश का अन्त कर जब पुष्यमित्र राजा हुआ तब मिनैण्डर के अधीन ग्रीकों ने भारत पर चढ़ाई की थी पर परास्त होकर उन्हें लौट जाना पड़ा था। इसी पुष्यमित्र ने जब अश्वमेध यज्ञ किया और दिग्विजय के लिये सेना भेजी तब सिन्ध [बुंदेलखण्ड की नदी] नदी के तट पर उसने यवनों को परास्त किया था। मिनैण्डर की चढ़ाई के अनन्तर फिर कोई यूरोपियन आक्रमण स्थल मार्ग से नहीं हुआ। यदि

यवन शब्द यूरोपियन जातियों के लिये प्रयोग किया जाता था तो वह उन्हीं के लिये हो सकता है जो सिकन्दर से मिनैण्डर के समय तक भारत में आकर बस गये थे। जब ये यवन हिन्दुओं में मिल गये तब यह शब्द सभी परदेशी जाति के लिये माना जाने लगा। पर मुद्राराक्षस का यवन शब्द उसी अवस्था का द्योतक है जब वे हिन्दुओं में मिल चले थे। क्योंकि उसके अनन्तर यवन शब्द एक जाति विशेष का सूचक न होकर म्लेच्छ शब्द के समान हिन्दू धर्म से भिन्न सभी अन्य मतावलम्बियों के लिये प्रयुक्त होने लगा।

वाल्हीक—व्यास और सतलज के बीच का प्रान्त जो केकय देश के उत्तर में है [रामायण, अयोध्या० स० ७८]। त्रिकाण्ड शेष में वाल्हीक और त्रिगर्त एक ही देश का नाम बतलाया गया है। महाभारत [कर्ण पर्व स० ४४] में लिखा है कि वाल्हीक जाति रावी और अपगा के पश्चिम में बसती थी, जो झंग प्रान्त कहलाता है। मद्र जिनकी राजधानी शाकल [ग्रीकों का संगाल] थी वाहिक कहलाते थे जो वाल्हीक का अपभ्रंश रूप है। दिल्ली के लौहस्तम्भ पर सिंधु के वाल्हीकों का उल्लेख है। बलख को भी वाल्हीक कहते हैं जो तुर्किस्तान में है और जिसे ग्रीक बैक्ट्रिआना कहते थे। ज़ेंद भाषा में वाल्हीक को वाख्तर कहते थे जिससे ग्रीकों ने बैक्ट्रिआना या बैक्ट्रिया शब्द गढ़ लिया है।

शक—विक्रम शाका के एक शताब्दी से अधिक पूर्व यूएहची नामक एक व्रात्य जाति चीन से निकाल दी गई और इसने सर दरिया के तटस्थ प्रान्त में बसी हुई शक जाति को हटाकर वहाँ अधिकार कर लिया। इसी समय या इस के कुछ पूर्व शकों ने पारस के पश्चिम ओर के प्रान्त पर अधिकार

लिया था जो शकस्थान या आधुनिक समय में सीस्तान कहलाता है। शकों के समूह का कुछ अंश पह्लवों के साथ भारत में भी आया और ग्रीकों के छोटे छोटे राज्यों को अधिकृत करके तक्षशिला तथा मथुरा के आस पास बस गया। इसके अनंतर लगभग दो शताब्दी बाद शकों ने सुराष्ट्र अर्थात् काठियावाड़ पर भी अधिकार कर लिया और वहाँ के क्षत्रप वंश का चौथी शताब्दी के मध्य में चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य ने अन्त किया। इसके अनन्तर शक जाति जिन जिन देशों में बस गई थी वहां के वासियों में मिल गई। महाभारत में भी शकों का उल्लेख है—शकानां पह्लवानाञ्च दरदानाञ्च ये नृपाः। (उद्योगपर्व स० ३ श्लो० १५)

सिंध—भारत के पश्चिम बिलूचिस्तान से सटा हुआ प्रांत सिंध कहलाता है और यहां के बासी सैंधव कहलाये। विष्णुपुराण अंश २ अध्याय ३ श्लो० १७ में ['सौवीराः सैंधवाः हूणाः शास्वा शाकलवासिनः'] सैंधवों का उल्लेख है। सिंध सम्राट् अशोक के साम्राज्य में सम्मिलित था। मौर्य साम्राज्य की अवनति पर पह्लवी जाति का सिंध पर अधिकार हो गया था। वि० सं० की दूसरी शताब्दी में कुशान वंशी सम्राट् कनिष्क ने सिंध देश अपने साम्राज्य में मिला लिया। कुशान वंश की अवनति पर उनके प्रांताध्यक्ष सुराष्ट्र के शक क्षत्रपों का बल इतना बढ़ा कि मालवा, सिन्ध, कच्छ, राजपुताना तथा उत्तरी कोंकण तक उनका राज्य हो गया। सं० ४४५ में चन्द्रगुप्त द्वितीय ने इस राज्य का अन्त किया। इसके अनन्तर सिंध में शूद्रों का राज्य हुआ जिस के अंतर्गत बिलूचिस्तान भी था। उसी प्रान्त की रक्षा में सिन्ध का राज्य स्थापित हुआ। अन्तिम राजा सिंहराय तथा उनके पुत्र साहसी अरबों के युद्ध में

सं० ७०१ तथा ७०३ में मारे गये। तब उनके ब्राह्मण मंत्री चच्च तथा उनके पुत्र दाहिर सिंध के राजा हुए। इन्हीं दाहिर के समय कासिम के पुत्र मुहम्मद ने सिन्ध पर चढ़ाई की थी।

हूण—हूणों का उल्लेख महाभारत, मार्कण्डेय पुराण, रघुवंश, वृहत्संहिता आदि अनेक ग्रन्थों में मिलता है जिससे यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि हूणों का उल्लेख करने के कारण अमुक ग्रन्थकार अमुक समय में हुआ था। भारतवर्ष पर श्वेत हूणों का आक्रमण पाँचवीं तथा छठी शताब्दी में हुआ था पर इसके पूर्व क्या उनमें से कुछ भारत में आकर पंजाब के आस पास नहीं बस सकते थे ? मुद्राराक्षस में हूण विजयगर्वित जाति नहीं है प्रत्युत् मलयकेतु की आक्रमणकारी सेना का एक अंश मात्र उस जाति का था। छठी शताब्दी के पूर्वार्द्ध में हूणों को बालादित्य और यशोधर्मा ने पूर्णतया पराजित कर उनके साम्राज्य का नाश कर दिया जिसके कुछ समय बाद हूणों के नाम का भी एक प्रकार लोप हो गया।

इन सब जातियों तथा स्थानों पर विवेचना करने के अनन्तर यही ज्ञात होता है कि मुद्राराक्षस में इनका जिस प्रकार उल्लेख है उससे नाटक का निर्माण काल पाँचवीं शताब्दी के लगभग रहा होगा।

१० ग्रंथ-निर्माणकाल

इस नाटक के निर्माण का समय निश्चित रूप से ज्ञात नहीं होता पर प्रोफेसर विलसन की सम्मति है कि यह ईसवी ग्यारहवीं या बारहवीं शताब्दी में रचा गया होगा इस सिद्धांत को उन्होंने नाटक के दो श्लोकांशों की भित्ति पर स्थापित किया है। पहला म्लेच्छ शब्द है जिसका नाटक में

कई स्थानों पर प्रयोग है पर मुख्य अन्तिम श्लोक का प्रयोग है—म्लेच्छैरुद्विज्यमाना भुजयुगमधुना संश्रिता राजमूर्तेः। म्लेच्छ शब्द से उन्होंने मुसलमानों का अर्थ लिया है। दूसरा श्लोक पाँचवें अंक के आरम्भ में है—बुद्धिजलनिर्झरैः सिच्यमानादेशकलसैः। दर्शयिष्यति कार्यफलं गुरुकं चाणक्यनीतिलतां॥ इसके उच्चकोटि की अलंकृत शैली पर आप का कथन है कि 'नाटक के निर्माणकाल की रचनाओं में इस प्रकार के रूपक अस्वाभाविक थे और स्यात् हिन्दू अपने पड़ोसियों से इस शैली को ग्रहण कर रहे थे।' प्रोफेसर विलसन की इस सम्मति को उनके अनन्तर के यूरोपियन विद्वान ध्रुव सिद्धांत सा मान कर उसीका प्रचार करते रहे। इस मत के विरुद्ध पहले पहल बम्बई हाइकोर्ट के जज पं० काशीनाथ त्र्यंबक तैलंग ने लेखनी उठाई और विद्वतापूर्ण विवेचना कर दिखालाया कि उसकी भित्ति निर्मूल है। उनके विवेचना का सारांश नीचे दिया जाता है।

म्लेच्छ शब्द से मुसलमानों ही से तात्पर्य है, ऐसा समझने के लिए कोई कारण नहीं है और संस्कृत साहित्य के प्रत्येक युग में इस से वही तात्पर्य निकलता है, ऐसा कहा ही नहीं जा सकता। अब प्रोफे० विलसन का कथन तभी ग्राह्य हो सकता है जब इस के साथ साथ अन्य कोई कारण भी दिया गया हो पर ऐसा नहीं किया गया है। साथ ही नाटक में मलयकेतु म्लेच्छ कहा गया है, पर उसका, उसके चाचा वैरोचक तथा उसके पिता पर्वतक, पर्वतेश्वर या शैलेश्वर के नाम मुसलमानों के नामों से नहीं है * और मृत पिता

* मलयकेतु के नाम पर जो कुछ कहा गया है उसके साथ यह भी उल्लेख करना उचित है कि पारस के राजा का नाम भी मेघनाद, मेघाख्य

को जड़ देने का उल्लेख भी मुद्राराक्षस के म्लेच्छ के मुसलमान होने के सिद्धांत को भ्रांतिमय बतलाता है। हां, यह मानना कि नाटक के उसी श्लोक में म्लेच्छ का अर्थ मुसलमान लिया जाय और उस के पहले के प्रयोगों में वैसा न समझा जाय, एक नया सिद्धाँत स्थापित करना है पर उसके लिए कोई उत्तम कारण नहीं होने से वह मान्य नहीं है। पूर्वोक्त विचारों से प्रोफेसर विलसन की तर्कना का प्रथम उक्ति अत्यंत निर्बल हो जाती है। पर यदि उनकी उस उक्ति को मान भी लिया जाय कि म्लेच्छ से मुसलमानों का अर्थ लिया गया है तब भी यह विचारणीय है कि मुद्राराक्षस का समय ईसवी ग्यारहवीं या बारहवीं शताब्दि कैसे हो सकता है। 'म्लेच्छैरुद्विज्यमाना

या मेघाक्ष दिया गया है। ये नाम भी पारसीय नहीं ज्ञात होते पर ये पारसीय नाम के संस्कृत रूप हैं जैसा भारतेंदु बाबू हरिश्चंद ने अलेक्जेंडर का अलक्षेन्द्र तथा पोरशिया का पुरश्री गढ़ लिया था। पर दोनों में इतनी विभिन्नता है कि पारसीक के बारे में हम जानते हैं कि वे कौन हैं, उस का अर्थ रूढ़ि है तथा उस पर कोई सिद्धांत नहीं खड़ा करना है, पर म्लेच्छ शब्द से किससे तात्पर्य है, इसका अर्थ रूढ़ि नहीं है और इसकी भित्ति पर एक पूरा सिद्धांत खड़ा किया गया है।

म्लेच्छ शब्द का प्रयोग उसी प्रकार का है जिस प्रकार ग्रीकों का बर्बर या बारबेरियन शब्द है। वे ग्रीकों से इतर सभी जातियों को उसी नाम से संबोधन करते थे। मुद्राराक्षस ही में **म्लेच्छराजबलस्यमध्यात् प्रधानतमाः पंच राजानः'** (अं० १पं०२१४) में कौलूत चित्रवर्मा, मलयनरपति सिंहनाद काश्मीरराज पुष्कराक्ष, सिंधु नरेश सिंधुसेन और पारसीक मेघाक्ष सभी परिगणित हैं। ये सभी राजे पश्चिमोत्तर सीमा के हैं। महाभारत में भी म्लेच्छ शब्द का प्रयोग हुआ है (आदि पर्व, सर्ग १७७ श्लो. ३७)।

भुजयुगमधुना संश्रिता राजमूर्तेः' से मुसलमानों के अधिकार स्थापित होने की ध्वनि नहीं निकलती। श्लोकाँश का आशय है कि म्लेच्छों के उपद्रवों से दुखित होकर राज्य-लक्ष्मी विष्णु-रूप तत्सामयिक राजा के बल का आश्रित होती है। इस आशय से यही ज्ञात होता है कि मुसलमानों के आक्रमण उस समय तक क्षणिक थे तथा हिंदुओं द्वारा वे दलित किए गये थे और ग़ज़नवी तथा ग़ोरी की चढ़ाइयों के समान उनका स्थायी प्रभाव भारतवर्ष पर नहीं पड़ा था। इतिहास से ज्ञात होता है कि लगभग एक शताब्दि तक सिंध का ओर से मुसलमानों की चढ़ाइयाँ होती रहीं. पर सभी में वे, एक कासिम के पुत्र मुहम्मद की चढ़ाई को छोड़ कर, असफल-प्रयत्न हुए। सिंध की सीमा के मुसलमान सूबेदार ने बरोच, उज्जैन और मालवा तक सेनाएँ भेजी थीं पर उसके उत्तराधिकारी तामीम के समय 'मुसलमान भारत के अनेक स्थानों से हट आए और उस समय तक वे प्राचीन समय के अधिकार से आगे नहीं बढ़े थे।' + जूनेद की चढ़ाइआँ आठवीं शताब्दि के मध्य की हैं और प्रोफेसर विलसन के सिद्धांत पर उस श्लोकाँश के अनुसार म्लेच्छ शब्द आठवीं शताब्दि के मुसलमानों का द्योतक हो सकता है।

यदि नाटककार का म्लेच्छ शब्द से मुसलमान तात्पर्य था और वे दसवीं या ग्यारहवीं शताब्दी में वर्तमान थे तब उन्हें कांबोज, वाल्हीक आदि नाम लिखने की आवश्यकता नहीं रह गई थी। उस समय तक अफ़ग़ानिस्तान तथा उस के पूर्व के प्रांतों की सभी जातियाँ मुसलमान हो गई थीं तथा वे भिन्न भिन्न जातियाँ नहीं रह गई थीं।

+ इलियट डाउसन जि. १ पृ. १२६।

प्रोफेसर विलसन ने पाँचवें अंक के आरंभिक श्लोक के बारे में जो कुछ कहा है उस के विरुद्ध यही कथन है कि नीतिपादप और उस के पुष्पों का उल्लेख कालिदासकृत मालविकाग्निमित्र पृ० १० में और भवभूति के वीर-चरित पृ० ६३ में है। उस रूपक का यहाँ अधिक अलंकृत होना पूर्वोक्त आलोचना के योग्य नहीं है। प्रोफेसर विल्सन जैन क्षपणक जीवसिद्धि के नाटक में एक पात्र होने को भी मुद्राराक्षस की नवीनता का एक कारण मानते हैं, और जैन के लिए क्षपणक शब्द के प्रयोग को भी 'भारत से बौद्धों के लुप्त होने के बाद के' समय का शाब्दिक गड़बड़ समझते हैं। यहाँ यह समझ लेना चाहिए कि प्रोफेसर विलसन जैनों के समय को बहुत आधुनिक मानते हैं। परंतु आधुनिक खोज से उन की यह युक्ति भी निर्भ्रान्त नहीं रह गई। * क्षपणक शब्द के प्रयोग पर जो आक्षेप है वह भी अयुक्त है क्योंकि उस शब्द का केवल बौद्धों के लिए प्रयोग होता है ऐसा कहने का कोई कारण नहीं ज्ञात होता। पंचतंत्र में जो प्रोफेसर विलसन के उक्त 'समय' के पहले का है, यह शब्द जैनों के लिए आया है पर उस के लिए भी प्रोफेसर साहब वही गड़बड़ी मानते हैं। गोविन्दानन्द की शारीरिक भाष्य की टीका और प्रबोधचंद्रोदय में भी बौद्ध और जैन स्पष्ट भिन्न भिन्न माने गये हैं। प्रोफेसर विलसन ने स्यात् श्रमणक और क्षपणक शब्दों के समझने में

---

* शंकराचार्य ने जैन मत का खंडन किया है जो आठवीं शताब्दि के आरंभ के माने जाते हैं। उन के समय में इस मत की अवश्य ही प्रबलता रही होगी जिसके लिए प्राचीन समय में कई शताब्दियाँ लग गई होंगी। वस्तुतः बौद्ध और जैन मत साथ ही साथ चलाए गए थे।

स्वयं भूल की है। क्षपणक, श्रमणक, अर्हंत, श्रावक और जिन आदि शब्दों का प्रयोग बहुधा दोनों ही मतावलंबियों के लिए पाया जाता है। दोनों मत ब्राह्मणों की दृष्टि में एक ही से हैं, इस से यह गड़बड़ होना स्वाभाविक है। जीवसिद्धि के जैन-मतावलंबी होने पर तथा उसे देखना अशकुन मानने पर भी चाणक्य और राक्षस ने उसे अपना अंतरंग मित्र बनाया था। साथ ही वह जैसे कुकार्यों में लगाया गया था उस से ज्ञात होता है कि धार्मिक कट्टरपन के कम हो जाने पर भी द्वेष का नाश नहीं हो गया था।

प्रोफेसर विल्सन की खंडनात्मक आलोचना करने पर विद्वद्वर पं० तैलंग ने अन्य कारणों से समय निकालने का भी प्रयत्न किया है। पहले दशरूप और सरस्वती-कंठाभरण* में मुद्राराक्षस से उद्धृत अंशों पर विचार किया

---

* हितोपदेश के सुहृदभेद का ११३ वाँ श्लोक भी मुद्राराक्षस से उद्धृत है। वह श्लोक यों है—

अत्युच्छ्रिते मंत्रिणि पार्थिवे च विष्टभ्य पादावुपतिष्ठते श्रीः।
सा स्त्री स्वभावादसहा भरस्य तयोर्द्वयोरेकतरं जहाति॥

फारस के न्यायी नौशेरवाँ ने, जो सं० ६८८-७१२ तक बादशाह था, पहलवी भाषा में एक पुस्तक का अनुवाद कराया था जिसे 'कर्तक और दमनक' कहते थे। पहलवी से अरबी में उसका अनुवाद द्वितीय खलीफा के समय में हुआ और ५१५ हि० में उससे फारसी में अनुवाद हुआ जो 'कलील: दमनः या अनवारे-सुहेली' कहलाता है। कुछ विद्वानों का मत है कि यह पंचतंत्र का और कुछ विद्वानों का मत है कि यह हितोपदेश का अनुवाद है। हितोपदेश का एक आधार पंचतंत्र भी है।

गया है। दशरूप में मुद्राराक्षस का तीन बार † उल्लेख है— पहले उद्धात्यक प्रस्तावना का इस से पूरा उदाहरण लिया गया है, दूसरे स्थान पर नाटक के कुछ पात्रों का उल्लेख है और तीसरी बार नाटक का आधार वृहत्कथा को बतलाया गया है । सरस्वतीकंठाभरण में मुद्राराक्षस के नाम का उल्लेख नहीं है पर एक विशेष अंश दोनों में समान रूप से है जिसे मुद्राराक्षस से उद्धृत मानना चाहिए और दूसरा मुद्राराक्षस के एक प्राकृत श्लोक ‡ का संस्कृत अनुवाद है जिनकी दूसरी पंक्तियों में कुछ भिन्नता है। दशरूप के लेखक धनंजय परमार-वंशीय राजा मुंज के समय में हुए जो राजा भोज के दादा थे। सरस्वतीकंठाभरण इन्हीं राजा भोज की कृति है । मुंज की मृत्यु सं० १०५० और १०५४ के बीच में हुई और राजा भोज के सिंहासनारूढ होने का समय सं० १०६६ या उस के पूर्व है* ।

† दशरूपक में एक श्लोक मुद्राराक्षस से उद्धृत है जिसे भर्तृहरिशतक से लिया गया लिखा गया है । वह यह श्लोक यों है—

प्रारभ्यते न खलु विघ्नभयेन नीचैः
प्रारभ्य विघ्नविहता विरमंति मध्याः ।
विघ्नैः पुनः पुनरपि प्रतिहन्यमानाः
प्रारब्धमुत्तमगुणास्त्वमिवोद्वहंति ॥

पर नीतिशतक में अंतिम पद 'प्रारब्धमुत्तमगुणा न परित्यजंति' है और 'त्वमिवोद्वहंति' मुद्राराक्षस का पाठ है जो उस के लिए उपयुक्त है क्योंकि विराधगुप्त राक्षस को प्रयत्न करते रहने के लिए उत्तेजना दे रहा है।

‡ *उवरि घणं घणरडिअं दूरेदइदा किमेददावदिआम् ।*
हिमवदि दिव्वोसहिओ सीसे सप्पो समाविट्टो ॥

* देखिए नागरी प्रचारिणी पत्रिका, नया सन्दर्भ भा० १ पृ० १२३–४ ।

पूर्वोक्त विचारों से यह निश्चित हो गया कि मुद्राराक्षस नाटक सं० १०४४ वि० के पूर्व की कृति है । ‡

भारत-वाक्य यहाँ पूर्ण उद्धृत कर देना आवश्यक जान पड़ता है क्योंकि इसे लेकर दो अन्य विद्वानों ने और भी कुछ तर्क किया है ।

वाराहीमात्मयोनेस्तनुमवनविधावास्थितस्यानुरूपां
यस्य प्रागदंतकोटिं प्रलयपरिगता शिश्रियेभूतधात्री ।
म्लेच्छैरुद्विज्यमाना भुजयुगमधुना संश्रिता राजमूर्तेः
स श्रीमद्‌बंधुभृत्यश्चिरमवतु महीं पार्थिवश्चंद्रगुप्तः ॥

मिस्टर काशीप्रसाद जायसवाल ने 'म्लेच्छैरुद्विज्यमाना,' 'अधुना,' और 'चंद्रगुप्तः' शब्दों पर विचार करते हुए निश्चित किया था कि नाटककार ने अपने समय के राजा गुप्तवंशीय चंद्रगुप्त द्वितीय का उल्लेख किया है 'जो हूणों को परास्त करेंगे'। इस प्रकार नाटक का निर्माणकाल उन्होंने चंद्रगुप्त द्वितीय का समय अर्थात् पाँचवीं शताब्दि निश्चित किया । *मिस्टर वी०जे० अंतानी ने इन विचारों का खंडन किया है ।† उनका कथन है कि

---

‡'आरभ्यते न खलु......' श्लोक कुछ भेदों के साथ भर्तृहरिशतक और मुद्राराक्षस दोनों में पाया जाता है । प्रोफेसर मकडोनल ने भर्तृहरि का समय सातवीं शताब्दि के लगभग माना है । यदि विशाखदत्त ने यह श्लोक भर्तृहरि तक से उद्धृत किया तो उन्हों सातवीं शताब्दि के अनन्तर मुद्राराक्षस की रचना की है और यदि मुद्राराक्षस से शतक में लिया गया है तो वे उसके पहले रहे होंगे ।

* इंडिअन ऐंटिक्वेरी जि० ४२ पृ० २६५-६७ ।

† इंडि० एंटि० जि० ५१ सन् १९२२ पृ० ४९-५२ ।

म्लेच्छैरु ज्यमाना के म्लेच्छ शब्द से हूण का तात्पर्य क्यों लिया गया है और ऐसा अर्थ लेने को उद्विज्यमाना का भविष्य में अर्थ क्यों लगाया गया है ? वस्तुतः म्लेच्छ शब्द हूण, यवन, शक आदि किसी भी जाति का पर्यायवाची नहीं हो सकता पर उसका अर्थ इस व्यापक रूप में अवश्य लिया जाता था कि सनातन-धर्म मानने वाले भारतीयों से इतर सभी अन्य जातियाँ उसी विशेषण से विभूषित की जाती थीं। स्कंदगुप्त के जूनागढ़ के लेख से 'रिपवोऽपि आमूलभग्नदर्पा निर्वचना म्लेच्छदेशेषु' उल्लेख कर मिस्टर अंतानी ने दिखलाया भी है कि उस म्लेच्छ से हूण का भी तात्पर्य लिया जाता था। चंद्रगुप्त द्वितीय के समय हूणों की भारत पर न ऐसी चढ़ाई हुई थी और वे ऐसे प्रबल भी न हो पाए थे कि जिनको परास्त करने के कारण चंद्रगुप्त को वाराह अवतार की उपमा देनी सुसंगत होती। नृसिंह बालादित्य तथा यशोधर्मन के समय वस्तुतः हूण परास्त किए गए थे और उनका प्रबल राज्य छिन्न भिन्न हुआ था। यह सब ऐतिहासिक तर्क वितर्क केवल 'अधुना' शब्द पर उठाया गया था जिस का अर्थ मिस्टर जायसवाल ने वर्तमान लिया था।

नाटककार ने भरतवाक्य के पहले चंद्रगुप्त से निम्नलिखित श्लोक कहलाया है—

राक्षसेन समं मैत्री राज्येचारोपिता वयम्।
नंदाश्चोन्मूलिताः सर्वे किं कर्तव्यमतः प्रियम्॥

इस पर राक्षस मंत्री के कहने का तात्पर्य है कि 'अब राजा चंद्रगुप्त राज्य करें'। इस प्रकार अधुना केवल भूतकालिक क्रियाओं के अनंतर 'अब' का ही अर्थ देता है। ग्रंथ-निर्माण का समय कुछ भी हो पर चंद्रगुप्त से भरत-वाक्य में मौर्य चंद्रगुप्त ही का भास होता है गुप्तवंशीय चंद्रगुप्त का नहीं।

मिस्टर अंतान ने यशोधर्मन् के मंदसोर-स्तंभलेख के श्लोकों से तथा भरतवाक्य और एक अन्य श्लोक (२ अंक ३ पं० १६४–७) में समानता दिखलाई है। उसे भी यहाँ उद्धृत किया जाता है—

भरत-वाक्य तथा लेख के जिस दूसरे अंतिम श्लोक की दो पंक्तियों में समानता दिखलाई है वह यों है—

आविर्भूतावलेपैरविनयपटुभिल्लंघिताचारमार्गै-
र्मोहादैदंयुगीनैरपशुभरतिभिः पीड्यमाना नरेंद्रैः।
यस्य क्ष्मा शार्ङ्गपाणेरिव कठिनधनुर्ज्याकिणांकप्रकोष्ठं
बाहुं लोकोपकारव्रतसफलपरिस्पंदधीरं प्रपन्ना॥

मुद्राराक्षस

आशैलेंद्राच्छिलांतःस्खलितसुरनदीशीकरासाररशीता-
त्तीरान्तानैकरागस्फुरितमणिरुचो दक्षिणस्यार्णवस्य।
आगत्यागत्य भीतिप्रणतनृपशतैः शश्वदेव क्रियंतां
चूडारत्नांशुगर्भास्तव चरणयुगस्यांगुलीरंध्रभागाः॥

मंदसोर-स्तंभलेख का पाँचवा श्लोक

आलौहित्योपकंठात्तलवनगहनोपत्यकादामहेंद्रा-
दागंगाश्लिष्ट सानोस्तुहिनशिखरिणः पश्चिमादापयोधेः।
सामंतैर्यस्य बाहुद्रविणहृतमदैः पादयोरानमद्भि-
श्चूडारत्नांशुराजिव्यतिकरशबला भूमिभागाः क्रियंते॥

मंदसोर-स्तंभलेख के छठे श्लोक की अंतिम दो पंक्ति-

नीचैस्तेनापि यस्य प्रणति भुजबलावर्जनक्लिष्टमूर्ध्ना
चूडापुष्पोपहारैर्मिहिरकुलनृपेणार्चितं पादयुग्मम्॥

जस्टिस तैलंग ने जिन हस्तलिखित प्रतियों से मिलान किया है उनमें से एक में अंतिम श्लोक के चंद्रगुप्त के स्थान पर अवंति-वर्मा पाठ है। इस पर आप लिखते हैं कि इस नाम के दो राजाओं का पता चलता है एक काश्मीर-नरेश और दूसरे कान्यकुब्जा-धिपति हर्षवर्धन के बहनोई मौखरीवंश के ग्रहवर्मा के पिता थे। काश्मीर-नरेश अवंतिवर्मा के बारे में आपका कथन है कि जिस प्रति में वह नाम दिया गया है वह उस राज्य से इतने दूर प्रांत में मिली है कि उस संबंध से काश्मीर के राजा अवंति-वर्म्मा का ही नाटक में उल्लेख मानना उचित नहीं है। परंतु इस पर विचार करने से कि यदि कुछ प्राचीन हस्तलिखित प्रतियों का इतिहास लिखा जाय तो ज्ञात होगा कि उनमें से बहुतों ने दूर दूर की यात्रा की है पूर्वोक्त तर्क को अव्यर्थ नहीं माना जा सकता। नाटककार ने चंद्रगुप्त के स्थान पर अंवतिवर्मा का नाम अपने आश्रयदाता की कीर्ति बढ़ाने के लिए ही लिखा होगा पर यदि अवंतिवर्म्मा को काश्मीर का राजा मानिये तो यह कठिनाई उत्पन्न होती है कि कवि काश्मीर राज्य के यशः सौरभ को काश्मीर-नरेश पुष्कराक्ष के रूप में मलयकेतु के अधीन तथा उसीके द्वारा उसकी अपमृत्यु कराकर मलिन न करते। इस विचार से काश्मीर के अवंति-वर्म्मा का श्लोक में उल्लेख होना अग्राह्य है। अब दूसरे अवंतिवर्म्मा के संबंध में विचार करना चाहिये। जस्टिस तैलंग ने तथा उन्हीं के आधार पर विधुभूषण गोस्वामी ने अवंतिवर्म्मा को पश्चिमीय मगध अर्थात् विहार का राजा तथा हर्षवर्द्धन को कन्नौज का राजा मान लिया है। परंतु यह ठीक नहीं है। थानेश्वर के वैसवंशी राजा प्रभाकरवर्द्धन को तीन संतति थी—राज्यवर्द्धन, हर्षवर्द्धन और राज्यश्री। इसी

राज्यश्री से कन्नौज के राजा अवंतिवर्मा के पुत्र ग्रहवर्मा का विवाह हुआ था। अवंतिवर्मा के सिक्कों पर गु० सं० २५० (वि० सं० ६१२) मिला है जिससे ज्ञात होता है कि ये गुप्त वंश के अधीन थे *। मालवराज देवगुप्त ने कन्नौज पर चढ़ाई कर ग्रहवर्म्मा को मार डाला और इसके अनंतर राज्यवर्द्धन ने मालव-नरेश से इस चढ़ाई का बदला लिया। राज्यवर्द्धन के मारे जाने पर हर्षवर्द्धन ने दिग्विजय कर कन्नौज को अपनी राजधानी बनाया। विशाखदत्त का इन्हीं अवंतिवर्म्मा के समय में नाटक रचना अधिक संभव है और इन्होंने हूणों को पराजित करने में गुप्तों की तथा अन्य मित्र राजाओं की अधिक सहायता की होगी जिस कारण इनके नाम का उस श्लोक में चंद्रगुप्त के स्थान पर प्रयोग हुआ है। उस श्लोक में म्लेच्छ शब्द इन्हीं हूणों के लिए आया होगा। इन विचारों से कवि विशाखदत्त का समय ईसवी छठी शताब्दि का उत्तरार्द्ध निश्चित होता है।

परन्तु साथ ही यह भी विचारणीय है कि यदि नाटककार को अपने आश्रयदाता की कीर्ति बढ़ाना ही ध्येय होता तो वह प्रस्तावना में क्या उसके विषय में कुछ नहीं लिख सकता था? भरत-वाक्य ही में अनुपयुक्त स्थान पर उचित पात्र का नाम हटाकर अपने आश्रयदाता की कीर्तिकौमुदी के प्रस्फुटित करने का कुप्रयत्न तो स्यात् साधारण नाटककार भी न करेगा। ऐसी अवस्था में यही ज्ञात होता है कि उस प्रति के लिपिकार ही ने किसी कारण वश ऐसा दुस्साहस किया है।

निर्माणकाल के निरूपण का दूसरा मार्ग पाटलिपुत्र नगर की स्थिति का विचार है। नाटक का रंगस्थल अधिकतर

* प्राचीन राजवंश भाग २. पृ० ३३४–५ और ३७५।

पाटलिपुत्र, कुसुमपुर, या पुष्पपुर में ही है। जस्टिस तैलंग ने इस विषय पर जो कुछ विचार किया है वह भी यहां दे दिया जाता है। नाटक में पाटलिपुत्र का जो भूगोल मिलता है वह मौर्य सम्राट् चन्द्रगुप्त के समय की स्थिति के अनुकूल न होगा प्रत्युत नाटककार के समय के ही अनुकूल होगा और यह तर्क विलकुल सारहीन नहीं है। पूर्वोक्त तर्क इस विचार से अधिक पुष्ट होता है कि नाटककार ने भौगोलिक स्थिति का जो कुछ वर्णन किया है उसका नाटक में अन्य तात्पर्य से ही उल्लेख हो गया है। नाटक से ज्ञात होता है कि पाटलिपुत्र सोन नदी के दक्षिण में था और सुगांगप्रासाद गंगाजी पर था। इससे यह भी मान लेना ठीक है कि नाटक-रचना के समय पाटलिपुत्र बसा हुआ नगर था। यह विचार तभी मान्य है जब हम नाटक में दी हुई भौगोलिक स्थिति के संबन्ध में जो तर्कना ऊपर कर आये हैं वह ठीक हो। चीनी यात्री फाहियान, जो सन् ३११ तक यात्रा करता रहा पाटलिपुत्र को मगध की राजधानी लिखता है पर सुएनच्वांग, जिसने सन् ६२१ और ६४३ के बीच यात्रा की थी, इसे बहुत दिनों से उजड़ा हुआ लिखता है अर्थात् उस समय तक पाटलिपुत्र वर्तमान था। पर सन् ७५६ के चीनी वर्णन से ज्ञात होता है कि 'होलंग नदी का तट टूट गया और लुप्त हो गया'। अनुवादक ने होलंग से गंगा जी का तात्पर्य लिया है। मिस्टर कनिंगहम तथा मिस्टर बेगलर ने यही मान कर लिखा कि गंगाजी के तट के टूटने से पाटलिपुत्र नष्ट हुआ। इस विचार से मुद्राराक्षस की रचना आठवीं शताब्दि ईसवी के पूर्वार्द्ध की है। माटेनलिन के विवरण की फिर से प्रकाशित प्रति में वह अंश इस प्रकार दिया गया है कि 'सन् ६६८ में चीन ने होलङ्ग देश खोया और भारतवर्ष

के राजों ने उस समय से दरबार आना छोड़ दिया।' इस प्रकार से दोनों अनुवाद एक दूसरे से भिन्न हैं इसलिए इस विषय पर अधिक नहीं लिखा जाता हैं। आधुनिक पटना शेर शाह का बसाया हुआ हैं। पाटलिपुत्र की स्थिति के बारे में अन्य विद्वानों ने जो कुछ तर्क किया हैं उसमें प्रोफेसर विलसन के अनुसार मुद्राराक्षस का रचनाकाल ग्यारहवीं शताब्दि मान लिया हैं। उस तर्क वितर्क में जेनरल कनिंगहम ने नाट-ककार के अनुसार पाटलिपुत्र को दोनों नदियों के प्राचीन मार्ग के मध्य में माना हैं पर ऐसा ठीक नहीं हैं, वह दोनों नदियों के दक्षिण में स्थित था।

यहाँ तक जस्टिस तैलङ्ग के इस सम्बन्ध की विवेचना का दिग्दर्शन हुआ। अब इसी विषय को लेकर दूसरी प्रकार से विवेचना की जायगी। मौर्य सम्राट् चन्द्रगुप्त के समय के पाटलिपुत्र की स्थिति या अवस्था सेल्यूकस के भेजे हुए राजदूत मेगास्थनीज के विवरण में इस प्रकार दी हुई हैं। 'यह नगर ८० स्टेडिया* लंबा और १५ स्टेडिया चौड़ा था। इसके चारों ओर लकड़ी की चहारदीवारी थी जिसमें तीर चलाने के छिद्र बने हुए थे। इसमें ६४ फाटक और ५७० बुर्ज थे। नगर के एक ओर गंगा और दूसरी ओर सोन की धारा बहती थी। चहारदीवारी के चारों ओर ६०० फीट चौड़ी ३० हाथ गहरी खाई थी जिसमें सोन का जल भरा जाता था।' अब कवि विशाखदत्त ने पाटलिपुत्र की स्थिति नाटक में किस प्रकार दी है इसकी विवेचना आवश्यक है। तृतीय अंक में चन्द्रगुप्त

---

* स्टेडियम का बहुवचन स्टेडिया है। अनुमानतः एक अंग्रेजी मील लगभग दस स्टेडिया के होता है। (स्मिथ की अर्ली हिस्ट्री आफ इंडिया पृ० १३५ टि०)

को सुगांगप्रासाद पर खड़ा कर नाटककार वहाँ से दीखती हुई गंगा पर कटाक्ष करते हुए शरत पर कविता करते हैं 'गंगां शरन्नयति सिंधुपतिं प्रसन्नाम्' । इसके अनन्तर चन्द्रगुप्त चारों ओर घूम कर देखते हैं कि कौमुदीमहोत्सव नहीं मनाया गया है। इन दोनों अंशों से इतना मालूम हुआ कि सुगांगप्रासाद से गङ्गा दिखलाती थी और उसके चारों ओर नगर बसा हुआ था अर्थात् गङ्गाजी के तट पर नगर था तथा अच्छी प्रकार बसा हुआ था। चौथे अंक में मलयकेतु अपने हाथियों की प्रशंसा करता हुआ कहता है-शोणं सिंदूरशोणा मम गजपतयोः पास्यंति शतशः। इससे यह निश्चित है कि पाटलिपुत्र तक पहुँचने के लिए मलयकेतु को सोन नदी पार करना था। उसी अंक में इसके अनन्तर क्षपणक मुहूर्त बतलाते हुए कहता है कि 'तुम्हाणं उत्तलाए दिसाए दक्खिणं दिसं पत्थिदाणं'। इससे यह ज्ञात हुआ कि पाटलिपुत्र सोन के दक्षिण है। पूर्वोक्त विचारों से यह निश्चितरूप से ज्ञात हो गया कि नाटक का पाटलिपुत्र गंगा के तट पर बसा हुआ था और सोन नदी के दक्षिण की ओर था अर्थात् गंगा और सोन के मध्य में नहीं रह गया था।

चंद्रगुप्त मौर्य के समय के मेगास्थनीज वर्णित तथा मुद्राराक्षस नाटक के वर्णित पाटलिपुत्र नामक नगर की स्थितियों में यह विभिन्नता है कि पहले समय वह गंगाजी तथा सोन नदी के मध्य में था पर दूसरे समय सोन के दक्षिण और गंगाजी के तट पर था। इस कारण यह निश्चितरूप से कहा जा सकता है कि कवि ने घटनाकाल के पाटलिपुत्र की स्थिति का नाटक में समावेश नहीं किया है वरन् अपने ही समय की स्थिति का। अब यह विचारणीय है कि यह स्थिति-परिवर्तन

कब हुआ। फाहियान ने अपने यात्राविवरण में पाँचवीं शताब्दि के आरंभ के पाटलिपुत्र का जो वर्णन दिया है, वह संक्षेप में यों हैं। 'गंडक-सोनादि का जहाँ गंगाजी से संगम हुआ है वहाँ से नदी उतर कर एक योजन (साढ़े छ मील) दक्षिण किनारे किनारे चलने पर मगध राज्य की राजधानी पुष्पपुर पहुँचा।' नगर में अशोक के राजप्रासाद और सभा-भवन की प्रशंसा करते हुए लिखा है कि मध्यदेश में यह नगर सब से बड़ा तथा समृद्धिशाली है। उस समय की रथयात्रा, पाठशाला, सदावर्त और औषधालय का भी वर्णन है। फाहियान के पूर्वोक्त वर्णन से यह जाना जाता है कि पाटलिपुत्र सोन के दक्षिण में तथा वैभवशाली होते हुए मगध की राजधानी थी। यह वर्णन नाटककार के समय के पाट-लिपुत्र का चित्र सा ज्ञात होता है।

सुएनच्वाँग ने अपने यात्राविवरण में पाटलिपुत्र का इस प्रकार वर्णन किया है। 'गंगाजी के दक्षिण में सत्तर ली के घेरे का एक प्राचीन नगर है। यद्यपि यह बहुत दिनों से ऊजाड़ है पर अभी तक बाहरी दीवालें खड़ी हैं। सत्ययुग में इसका नाम कुसुमपुर था क्योंकि राजा के महल में फूल बहुत थे। त्रेता में इसका नाम पाटलिपुत्र था।...प्राचीन महल के उत्तर एक ऊँचा स्तंभ है...उसीके पास स्तूप का खंडहर है ....' सुएनच्वाँग के कथनानुसार पाटलिपुत्र सातवीं शताब्दि के पूर्वार्द्ध के बहुत पहले उजाड़ हो गया था। इससे यह निश्चित हो जाता है कि नाटक लिखने के समय पाटलिपुत्र की जो अवस्था थी वह सातवीं शताब्दि के बहुत पहले की थी। अर्थात् नाटकरचना का समय फाहियान की यात्रा के समय के आसपास तथा सुएनच्वाँग के बहुत पहले था।

ऊपर लिखे गए अनेक विद्वानों के सिद्धांतों तथा तर्कों पर विचार करने से जो सार निकलता है वह संक्षेपतः इस प्रकार है। प्रोफेसर विलसन के सिद्धांतों की खंडनात्मक आलोचना करने पर जस्टिस तैलंग ने उनके सिद्धांतों में म्लेच्छ शब्द की भित्ति पर खड़े किए सिद्धांत के विषय में लिखा है कि यदि इसे निस्सार न माना जाय तो यह आठवीं शताब्दि का द्योतक हो सकता है। मुद्राराक्षस नाटक से जो अंश अन्य ग्रंथों में उद्धृत किए गए हैं उनसे यह निश्चित हो जाता है कि यह सं० १०५४ से पूर्व की रचना है। मुद्राराक्षस की हस्तलिखित प्रतियों तथा भरतवाक्य के विषय में तर्क करते हुए उसका निर्माणकाल लगभग छठी शताब्दि में माना गया है। पाटलिपुत्र की स्थिति पर विचार करते हुए जस्टिस तैलंग ने आठवीं शताब्दी में निर्माणकाल का होना संभवित माना है पर अन्य प्रकार से विचार करने पर उसका पाँचवीं शताब्दि के आसपास होना अधिक संभव है। गंगा-सोन संगम भी एक भौगोलिक वैचित्र्य है जिसकी यात्रा के विषय में 'आर्किऔलोजिस्ट्स' ने कोई स्वतंत्र तर्क या विचार नहीं किया वरन् वे प्रोफेसर विलसन के सिद्धांत ही को अकाट्य मान कर चले हैं। यह गंगा-सोन-संगम चंद्रगुप्त मौर्य के समय पटना के पूर्व था पर फाहियान के समय तक लगभग एक सहस्र वर्ष में पश्चिम को यात्रा करता हुआ पटना से एक योजन पश्चिम पहुँच गया। इसके अनंतर लगभग चौदह शताब्दि में इसने सत्रह अठारह कोस की और यात्रा की है। जब सुगांग प्रसाद से चंद्रगुप्त ने गंगाजी का वर्णन किया तब यदि सोन भी वहाँ से दीखती तो नाटककार उसके विषय में भी कुछ कहलाता। साथ ही मलयकेतु द्वारा सोन नद पार करना

कहलाकर उसका पटना के पास होना भी प्रगट करता है क्योंकि इस प्रकार तो सेना को अनेक नदी उतरनी पड़ी होगी पर उन सबका उल्लेख करना नाटककार का ध्येय न था। जिस नगर पर अधिकार करना हो उसे परिखा के समान घेरनेवाली नदी विशेष उल्लेखनीय है और मलयकेतु भी सोन के दक्षिण चल कर पार करना चाहता था इससे यह ज्ञात होता है कि सोन पटना से बहुत दूर उस समय तक नहीं हट चुकी थी।

पूर्वोक्त विचारों से यही स्पष्ट होता है कि नाटक का निर्माणकाल पाँचवीं शताब्दि के आसपास है।

पूर्व कथा

(क *)

पूर्व काल में भारतवर्ष में मगध राज्य एक बड़ाभारी जन-स्थान था। जरासंध आदि अनेक प्रसिद्ध पुरुवंशी राजा यहाँ बड़े प्रसिद्ध हुए हैं। इस देश की राजधानी पाटलिपुत्र अथवा पुष्पपुर थी। इन लोगों ने अपना प्रताप और शौर्य इतना बढ़ाया था कि आज तक इनका नाम भूमंडल पर प्रसिद्ध है। किंतु कालचक्र बड़ा प्रबल है कि किसी को भी एक अवस्था में रहने नहीं देता। अन्त में नंदवंश † ने पौरवों को निकालकर वहाँ अपनी जयपताका उड़ाई ; वरंच सारे भारतवर्ष में अपना प्रबल प्रताप बिस्तारित कर दिया।

---

* भारतेन्दुजी लिखित।

† नन्दवंश सम्मिलित क्षत्रियों का वंश था। ये लोग शुद्ध क्षत्री नहीं थे।

इतिहासग्रंथों में लिखा है कि एक सौ अड़तीस वरस नंदवंश ने मगध देश का राज्य किया। इसी वंश में महानंद का जन्म हुआ। यह बड़ा प्रसिद्ध और अत्यंत प्रतापशाली राजा हुआ। जब जगद्विजयी सिकंदर (अलक्षेंद्र) ने भारतवर्ष पर चढ़ाई किया था तब असंख्य हाथी, बीस हजार सवार और दो लाख पैदल लेकर महानंद ने उसके विरुद्ध प्रयाण किया था*। सिद्धान्त यह कि भारतवर्ष में उस समय महानन्द सा प्रतापी और कोई राजा न था।

महानन्द के दो मंत्री थे। मुख्य का नाम शकटार और दूसरे का राक्षस था। शकटार शूद्र और राक्षस† ब्राह्मण था। ये दोनों अत्यन्त बुद्धिमान् और महा प्रतिभासम्पन्न थे। केवल भेद इतना था कि राक्षस धीर और गंभीर था, उसके विरुद्ध शकटार अत्यन्त उद्धत था। यहाँतक कि अपने प्राचीनपने के अभिमान से कभी कभी यह राजा पर भी अपना प्रभुत्व जमाना चाहता था। महानंद भी अत्यन्त उग्र, असहनशील और क्रोधी था, जिसका परिणाम यह हुआ कि महानंद ने अंत को

---

* सिकन्दर के कान्यकुब्ज से आगे न बढ़ने से महानन्द से उससे मुकाबिला नहीं हुआ।

† वृहत्कथा में राक्षस मंत्री का नाम कहीं नहीं है, केवल वररुचि से एक सच्चे राक्षस से मैत्री की कथा यों लिखी है—एक बड़ा प्रचण्ड राक्षस पाटलिपुत्र में फिरा करता था। वह एक रात्रि वररुचि से मिला और पूछा कि इस नगर में कौन सुन्दर है?" वररुचि ने उत्तर दिया—"जो जिसको रुचे वही सुन्दर है।" इसपर प्रसन्न होकर राक्षस ने उससे मित्रता की और कहा कि हम सब बात में तुम्हारी सहायता करेंगे और फिर सदा राजकाज में ध्यान में प्रत्यक्ष होकर राक्षस वररुचि की सहायता करता।

शकटार को क्रोधांध होकर बड़े निविड़ बंदीखाने में कैद किया और सपरिवार उसके भोजन को केवल दो सेर सत्तू देता था×।

शकटार ने बहुत दिनतक महामात्य का अधिकार भोगा था इससे यह अनादर उसके पक्ष में अत्यन्त दुखदाई हुआ। नित्य सत्तू का बरतन हाथ में लेकर अपने परिवार से कहता कि जो एक भी नंदवंश को जड़ से नाश करने में समर्थ हो वह यह सत्तू खाय। मंत्री के इस वाक्य से दुःखित होकर उसके परिवार का कोई भी सत्तू न खाता। अंत में कारागार की पीडा से एक एक करके उसके परिवार के सबलोग मरगये।

× बृहत्कथा में यह कहानी और ही चाल पर लिखी है। वररुचि, व्याड़ि और इंद्रदत्त तीनों को गुरुदक्षिणा देने के हेतु करोड़ों रुपये के सोने की आवश्यकता हुई। तब इन लोगों ने सलाह किया कि नन्द (सत्यनन्द) राजा के पास चलकर उससे सोना लें। उन दिनों राजा का डेरा अयोध्या में था, ये तीनों ब्राह्मण वहां गये, किंतु संयोग से इन्हीं दिनों राजा मर गया। तब आपस में सलाह करके इंद्रदत्त योगबल से अपना शरीर छोड़कर राजा के शरीर में चला गया, जिससे राजा फिर जी उठा। तभी से उसका नाम योगानन्द हुआ। योगानन्द ने वररुचि को करोड़ रुपये देने की आज्ञा किया। शकटार बड़ा बुद्धिमान था; उसने सोचा कि राजा का मरकर जीना और एकबारगी एक अपरिचित को करोड़ रुपया देना, इसमें हो न हो कोई भेद है। ऐसा न हो कि अपना काम करके फिर राजा का शरीर छोड़कर यह चला जाय। यह सोचकर शकटार ने राज्यभर में जितने मुरदे मिले उनको जलवा दिया, इसीमें इन्द्रदत्त का भी शरीर जल गया। जब व्याड़ि ने यह वृत्तान्त योगानन्द से कहा तो यह सुनकर पहले तो वह दुःखी हुआ पर फिर वररुचि को अपना मंत्री बनाया। अंत में शकटार की उग्रता से संतप्त हो कर उसको अंधे कूएँ में कैद किया। बृहत्कथा में शकटार के स्थान पर शकटाल नाम लिखा है।

एक तो अपमान का दुःख, दूसरे कुटुम्ब का नाश दोनों कारणों से शकटार अत्यंत तनछीन मनमलीन दीन हीन हो गया। किंतु अपने मनसूबे का ऐसा पक्का था कि शत्रु से बदला लेने की इच्छा से अपने प्राण नहीं त्याग किये और थोड़े बहुत भोजन इत्यादि से शरीर को जीवित रक्खा। रात दिन इसी सोच में रहता कि किस उपाय से वह अपना बदला ले सकेगा।

कहते हैं कि राजा महानंद एक दिन हाथ मुँह धोकर हँसते हँसते जनाने में आ रहे थे। विचक्षणा नाम की एक दासी जो राजा के मुँह लगने के कारण कुछ धृष्ट हो गयी थी, राजा को हँसता देखकर हँस पड़ी। राजा उसकी ढिठाई से बहुत चिढ़े और उससे पूछा—तू क्यों हँसी? उसने उत्तर दिया—"जिस बात पर महाराज हँसे उसी पर मैं भी हँसी।" महानंद इस बात पर और भी चिढ़ा और कहा कि अभी बतला कि मैं क्यों हँसा, नहीं तो तुझ को प्राणदंड होगा। दासी से और कुछ उपाय न बन पड़ा और उसने घबड़ाकर इसके उत्तर देने को एक महीने की मुहलत चाही। राजा ने कहा कि "आज से ठीक एक महीने के भीतर जो उत्तर न देगी तो कभी तेरे प्राण न बचेंगे।"

विचक्षणा के प्राण उस समय तो बच गये पर महीने के जितने दिन बीतते थे मारे चिंता के वह उतनी ही मरी जाती थी। कुछ सोच विचार कर वह एक दिन कुछ खाने पीने की सामग्री लेकर शकटार के पास गयी और रो रो कर अपना सब विपत्ति कहने लगी। मंत्री ने कुछ देर तक सोचकर उस अवसर की सब घटना पूछी और हँसकर कहा—"मैं जान गया राजा क्यों हँसे थे। कुल्ला करने के समय पानी के छोटे

छींटों पर राजा को वटबीज की याद आई, और यह भी ध्यान हुआ कि ऐसे बड़े बट वृक्ष इन्हीं छोटे बीजों के अंतर्गत हैं। किंतु भूमि पर पड़ते ही वह जल के छींटें नाश हो गये। राजा अपनी इसी भावना को याद करके हँसते थे।" विचक्षणा ने हाथ जोड़कर कहा—"यदि आप के अनुमान से मेरे प्राण की रक्षा होगी तो मैं जिस तरह से होगा, आप को कैदखाने से छुड़ाऊँगी और जन्मभर आपकी दासी होकर रहूँगी।"

राजा ने विचक्षण से एक दिन फिर हँसने का कारण पूछा, तो विचक्षणा ने शकटार से जैसा सुना था कह सुनाया। राजा ने चमत्कृत होकर पूछा—"सच बता तुझ से यह भेद किसने कहा?" दासी ने शकटार का सब वृत्तान्त कहा और राजा को शकटार की बुद्धि की प्रशंसा करते देख अवसर पाकर उसके मुक्त होने की भी प्रार्थना की। राजा ने शकटार को बंदी से छुड़ाकर राक्षस के नीचे मंत्री बनाकर रक्खा।

ऐसे अवसर पर राजा लोग बहुत चूक जाते हैं। पहले तो किसी की अत्यंत प्रतिष्ठा बढ़ानी ही नीति-विरुद्ध है। यदि संयोग से बढ़ जाय तो उसकी बहुत सी बातों को तरह देकर टालना चाहिये, और जो कदाचित् बड़े प्रतिष्ठित मनुष्य का राजा अनादर करे तो उसकी जड़ काटकर छोड़े, फिर उसका कभी विश्वास न करे। प्रायः अमीर लोग पहले तो मुसाहिबों या कारिंदों को बेतरह सिर चढ़ाते हैं, और फिर छोटी छोटी बातों पर उनकी प्रतिष्ठा हीन कर देते हैं। इसीसे ऐसे लोग राजाओं के प्राण के गाहक हो जाते हैं और अंत में नंद की भाँति उनका सर्वनाश होता है।

शकटार यद्यपि बंदीखाने से छूटा और छोटा मन्त्री भी हुआ, किंतु अपनी अप्रतिष्ठा और परिवार के नाश का शोक

उसके चित्त में सदा पहिले ही सा जागता रहा। रातदिन वह यही सोचता कि किस उपाय से ऐसे अव्यवस्थित-चित्त उद्धत राजा को नाश करके अपना बदला लें। एक दिन घोड़े पर वह हवा खाने जाता था। नगर के बाहर एक स्थान पर देखता है कि एक काला सा ब्राह्मण अपनी कुटी के सामने मार्ग की कुशा उखाड़ उखाड़ कर उसकी जड़ में मठा डालता जाता है। पसीने से लथपथ है, परंतु शरीर की ओर कुछ भी ध्यान नहीं देता। चारों ओर कुशा के बड़े बड़े ढेर लगे हुए हैं। शकटार ने आश्चर्य्य से ब्राह्मण से इस श्रम का कारण पूछा। उसने कहा—मेरा नाम विष्णुगुप्त चाणक्य है। मैं ब्रह्मचर्य में नीति, वैद्यक, ज्योतिष, रसायन आदि संसार की उपयोगी सब विद्या पढ़कर विवाह की इच्छा से नगर की ओर आया था, किंतु कुश गड़ जाने से मेरे मनोरथ में विघ्न हुआ, इससे जब तक इन बाधक कुशाओं का सर्वनाश न कर लूंगा और काम न करूंगा। मठा इस वास्ते इनकी जड़ में देता हूँ जिससे पृथ्वी के भीतर इनका मूल भी भस्म हो जाय।"

शकटार के जी में यह ध्यान आया कि ऐसा पक्का ब्राह्मण जो किसी प्रकार राजा से क्रुद्ध हो जाय तो उसका जड़ से नाश कर के छोड़े। यह सोचकर उसने चाणक्य से कहा कि जो आप नगर में चलकर पाठशाला स्थापित करें तो अपने को मैं बड़ा अनुगृहीत समझूं। मैं इसके बदले बेलदार लगाकर यहाँ की सब कुशाओं को खुदवा डालूँगा। चाणक्य इसपर सम्मत हुआ और नगर में आकर एक पाठशाला स्थापित की। बहुत से विद्यार्थी लोग पढ़ने आने लगे और पाठशाला बड़े धूम धाम से चल निकली।

अब शकटार इस सोच में हुआ कि चाणक्य से राजा से

किस चाल से बिगाड़ हो। एक दिन राजा के घर में श्राद्ध था, उस अवसर को शकटार अपने मनोरथ सिद्ध होने का अच्छा समय सोचकर चाणक्य को श्राद्ध का न्यौता देकर अपने साथ ले आया और श्राद्ध के आसन पर विठलाकर चला गया। क्योंकि वह जानता था कि चाणक्य का रंग काला, आँखें लाल और दाँत काले होने के कारण नंद सको आसन पर से उठा देगा, जिससे चाणक्य अत्यन्त क्रुद्ध होकर उसका स नाश करैगा।

और ठीक ऐसा ही हुआ—जब राक्षस के साथ नंद श्राद्ध-शाला में आया और एक अनिमंत्रित ब्राह्मण को आसन पर बैठा हुआ और श्राद्ध के अयोग्य देखा तो चिढ़कर आज्ञा दिया कि इसको बाल पकड़ कर यहाँ से निकाल दो। इस अपमान से ठोकर खाए हुए सर्प की भाँति अत्यंत क्रोधित होकर शिखा खोलकर चाणक्य ने सबके सामने प्रतिज्ञा की कि जब तक इस दुष्ट राजा का सत्यानाश न कर लूँगा तबतक शिखा न बाँधूंगा। यह प्रतिज्ञा कर के बड़े क्रोध से राजभवन से चला गया।

शकटार अवसर पाकर चाणक्य को मार्ग में से अपने घर ले आया और राजा की अनेक निंदा करके उसका क्रोध और भी बढ़ाया और अपनी सब दुर्दशा कहकर नंद के नाश में सहायता करने की प्रतिज्ञा किया। चाणक्य ने कहा कि जब तक हम राजा के घर का भीतरी हाल न जानें कोई उपाय नहीं सोच सकते। शकटार ने इस विषय में विचक्षणा की सहायता देने का वृत्तांत कहा और रात को एकांत में बुला-कर चाणक्य के सामने उससे सब बात का करार ले लिया।

महानन्द को नौ पुत्र थे। आठ विवाहिता रानी से और

एक चंद्रगुप्त मुरा नाम की एक नाइन स्त्री से। इसीसे चंद्रगुप्त को मौर्य और वृषल भी कहते हैं। चंद्रगुप्त वड़ा बुद्धिमान् था। इसीसे और आठों भाई इससे भीतरी द्वेष रखते थे। चंद्रगुप्त की बुद्धिमानी की बहुत सी कहानियां हैं। कहते हैं कि एक वेर रूम के बादशाह ने महानंद के पास एक कृत्रिम सिंह लोहे की जाली के पिंजड़े में बंद करके भेजा और कहला दिया कि पिंजड़ा टूटने न पावे और सिंह इसमें से निकल जाय। महानंद और उसके आठ औरस पुत्रों ने इसको बहुत कुछ सोचा, परंतु बुद्धि ने कुछ काम न किया। चंद्रगुप्त ने विचारा कि यह सिंह अवश्य किसी ऐसे पदार्थ का वना होगा जो या तो पानी से या आग से गल जाय, यह सोचकर पहले उसने उस पिंजड़े को पानी के कुण्ड में रक्खा और जब वह पानी से न गला तो उस पिंजड़े के चारों तरफ आग वलवाई, जिसकी गर्मी से वह सिंह, जो लाह और राल का बना था, गल गया। एक वेर ऐसे ही किसी बादशाह ने एक अँगीठी में दहकती हुई आग,* एक बोरा सरसों और एक मीठा फल महानंद के

---

* दहकती आग की कथा "जरासंधमहाकाव्य" में भी है कि जरासंध ने उग्रसेन के पास अँगीठी भेजी थी; शायद उसी से यह कथा निकाली गई हो, कौन जाने।

सवैया—रूप की रूपनिधान अनूप अँगीठी नई गढ़ि मोल मँगाई।
ता मधि पावकपुंज धर्यो गिरिधारन जामें प्रभा अधिकाई॥
तेज सों ताके ललाई भई रज में मिली आसु सबै रजताई।
मानो प्रवाल की थाल बनायके लाल की रास विसाल लगाई॥१॥
ढांक के पावक दूत के हाथ दै बात कही इहि भांति बुझायके।
भोज भुआल सभा महँ सन्मुख राखिके यों कहिये सिर नायके॥

पास अपने दूत के द्वारा भेज दिया। राजा की सभा का कोई भी मनुष्य इस का आशय न समझ सका, किंतु चंद्रगुप्त ने सोचकर कहा कि अँगीठी यह दिखलाने को भेजी है कि मेरा क्रोध अग्नि है और सरसों यह सूचना कराती है कि मेरी सेना असंख्य हैं और फल भेजने का आशय यह है कि मेरी मित्रता का फल मधुर है। इसके उत्तर में चंद्रगुप्त ने एक घड़ा जल और एक पिंजड़े में थोड़े से तीतर और एक अमूल्य रत्न भेजा जिसका आशय यह था कि तुम्हारा क्रोध हमारी नीति से सहज ही बुझाया जा सकता है और तुम्हारी सेना कितनी भी असंख्य क्यों न हो हमारे वीर उसको भक्षण करने में समर्थ हैं और हमारी मित्रता सदा अमूल्य और एक रस है। ऐसे ही तीन पुतलीवाली कहानी भी इसी के साथ प्रसिद्ध है। इसी बुद्धिमानी के कारण चंद्रगुप्त से उसके भाई लोग बुरा मानते

याहि पठायो जरासुत नै अवलोकहु नीके अधीरज लाय कै।
पुत्र स्वपाय के नातिन पाय कै जीहौ जे पाय कै कौन उपाय कै ॥२॥
दोहा—सुनत चार तिहि हाथ लै, गयो भौम दरबार।
बासव ऐसे कैक सब, जहँ बैठे सरदार॥ ३॥
अड़िल्ल—जाय जरासुतदूत भैमपति पदपर्‌यौ। देखि जराऊ जगह हिये संभ्रम भर्‌यौ।
जगतजरावनद्रव्यपातआगे धर्‌यौ। सोचजराह्वै अभयहालबरननकर्‌यौ ॥४॥
सुनिविहँसेजदुबीरजीतकीचायसों। हँसिबोले गोविन्द कहहु यह रायसों।
उचितससुरपन कीन चन्द्रकुलन्यायसों। चही दमाद सहाय सुताकी हायसों ५
सोरठा—इमि कहि दुत गहि चाय, आप आप सिखि में दियो।
तुरतहि गयो बुझाय, ज्ञान पाय मन भ्रांत जिमि॥ ६॥
बिदा कियो नृप दूत, उर में सर को अंक करि।
निरखि वृहदरथ-पूत, सबन सहित कोप्यो अतिहि॥ ७॥

थे, और महानंद भी अपने औरस पुत्रों का पक्ष करके इससे कुढ़ता था। यह यद्यपि शूद्रा के गर्भ से था, परंतु ज्येष्ठ होने के कारण अपने को राज का भागी समझता था, और इसीसे इसका राजपरिवार से पूर्ण वैमनस्य था। चाणक्य और शकटार ने इसीसे निश्चय किया कि हम लोग चंद्रगुप्त को राज का लोभ देकर अपनी ओर मिला लें और नंदों का नाश कर के इसीको राजा बनावें।

यह सब सलाह पक्की हो जाने के पीछे चाणक्य तो अपनी पुरानी कुटी में चला गया और शकटार ने चन्द्रगुप्त और विचक्षणा को तब तक सिखा पढ़ाकर पक्का करके अपनी ओर फोड़ लिया। चाणक्य ने कुटी में जाकर हलाहल विष मिले हुए कुछ ऐसे पकवान तैयार किये जो परीक्षा करने में न पकड़े जायं, किन्तु खाते ही प्राण-नाश होजाय। विचक्षणा ने किसी प्रकार से महानन्द को पुत्रों समेत यह पकवान खिला दिया जिससे बेचारे सब के सब एक साथ परमधाम को सिधारे *।

---

* नाटककार ने अं० ४ श्लोक १२ में नंदों के नाश का कारण चाणक्य-कृत अभिचार ही लिखा है। (संपा०)

भारतवर्ष की कथाओं में लिखा है कि चाणक्य ने अभिचार से मारण का प्रयोग करके इन सभों को मार डाला। विचक्षणा ने उस अभिचार का निर्माल्य किसी प्रकार इन लोगों के अंग में छुला दिया था। किंतु वर्तमान काल के विद्वान् लोग सोचते हैं कि उस निर्माल्य में मन्त्र का बल नहीं था, चाणक्य ने कुछ औषध ऐसे विषमिश्रित बनाये थे कि जिनके भोजन वा स्पर्श से मनुष्य का सद्यः नाश हो जाय। भट्ट सोमदेव के कथा-सरित्सागर के पीठलंबक के चौथे तरंग में लिखा है—"योगानन्द को ऊँची अवस्था में नये प्रकार की कामवासना उत्पन्न हुई। वररुचि ने यह सोचकर कि राजा

चन्द्रगुप्त इस समय चाणक्य के साथ था। शकटार अपने दुःख और पापों से सन्तप्त होकर निविड़ वन में चला गया और अनशन करके प्राण त्याग किये। कोई कोई इतिहास-लेखक कहते हैं कि चाणक्य ने अपने हाथ से शस्त्रद्वारा नन्द का वध किया और फिर क्रम से उसके पुत्रों को भी मारा,

---

को तो भोगविलास से छुट्टी ही नहीं है, इससे राजकाज का काम शकटार से निकाला जाय तो अच्छी तरह से चले : यह विचार कर और राजा से पूछ कर शकटार को अंधे कूएँ से निकालकर वररुचि ने मंत्रीपद पर नियत किया। एक दिन शिकार खेलने में गंगा में राजा ने अपनी पाँचो उँगलियों की परछाईं वररुचि को दिखलायी। वररुचि ने अपनी दो उँगलियों की परछाईं ऊपर से दिखा। जिस से राजा की हाथ की परछाईं छिप गई। राजा ने इन संज्ञाओं का कारण पूछा। वररुचि ने कहा—आपका यह आशय था कि पाँच मनुष्य मिलकर सब कार्य साध सकते हैं। मैंने यह कहा कि जो दो चित्त एक हो जाय तो पाँच का बल व्यर्थ है। इस बात पर राजा ने वररुचि की बड़ी स्तुति की। एक दिन राजा ने अपनी रानी को एक ब्राह्मण से खिड़की में से बात करते देखकर उस ब्राह्मण को मारने की आज्ञा किया, किंतु अनेक कारणों से वह बच गया। वररुचि ने कहा कि आपके सब महल की यही दशा है और अनेक स्त्री वेषधारी पुरुष महल में रहते हैं और उन सबों को पकड़कर दिखला दिया और इसीसे उस ब्राह्मण के प्राण बचे। एक दिन योगानंद की रानी के एक चित्र में, जो महल में लगा हुआ था, वररुचि ने जाँघ में तिल बना दिया। योगानंद के गुप्त स्थान में वररुचि के तिल बनाने से उस पर भी संदेह हुआ और शकटार को आज्ञा दिया कि तुम वररुचि को आज ही रात को मार डालो। शकटार ने उसको अपने घर में छिपा रक्खा और किसी और को उसके बदले मारकर उसका मारना प्रगट किया। एक बेर राजा का पुत्र हिरण्यगुप्त जंगल में शिकार खेलने गया था,

किन्तु इस विषय का कोई दृढ़ प्रमाण नहीं है। चाहे जिस प्रकार से हो चाणक्य ने नंदों का नाश किया किंतु केवल पुत्र-सहित राजा के मारने ही से वह चंद्रगुप्त को राजसिंहासन पर न बैठा सका इससे अपने अंतरंग मित्र जीवसिद्धि को क्षपणक के वेष में राक्षस के पास छोड़कर आप राजा लोगों से सहायता लेने की इच्छा से विदेश निकला। अंत में अफ़गानिस्तान वा उसके उत्तर ओर के निवासी पर्वतक नामक

वहाँ रात को सिंह के भय से एक पेड़ पर चढ़ गया। उस वृक्ष पर एक भालू था, किंतु इसने उसको अभय दिया। इन दोनों में यह बात ठहरी कि आधी रात तक कुँवर सोवें भालू पहरा दे, फिर भालू सोवे कुँवर पहरा दें। भालू ने अपना मित्रधर्म निवाहा और सिंह के बहकाने पर भी कुँअर की रक्षा की किंतु अपनी पारी में कुँअर ने सिंह के बहकाने से भालू को ढकेलना चाहा, जिस पर उसने जागकर मित्रता के कारण कुँअर को मारा तो नहीं किंतु कान में मूत दिया, जिससे कुँअर गूंगा और बहिरा हो गया। राजा को बेटे की इस दुर्दशा पर बड़ा सोच हुआ और कहा कि वररुचि जीता होता तो इस समय उपाय सोचता। शकटार ने यह अवसर समझकर राजा से कहा कि वररुचि जीता है और लाकर राजा के सामने खड़ा कर दिया। वररुचि ने कहा—कुँअर ने मित्रद्रोह किया है उसी का यह फल है। यह वृत्तान्त कहकर उसको उपाय से अच्छा किया। राजा ने पूछा—तुमने यह सब वृत्तांत किस तरह जाना? वररुचि ने कहा—योगबल से, जैसे रानी का तिल। (ठीक यही कहानी राजा भोज, उसकी रानी भानुमती, और उसके पुत्र और कालिदास की भी प्रसिद्ध है) यह सब कहकर और उदास होकर वररुचि जंगल में चला गया। वररुचि से शकटार ने राजा को मारने को कहा था, किंतु वह धर्मिष्ठ था इससे सम्मत न हुआ। वररुचि के चले जाने पर शकटार ने अवसर पाकर चाणक्य द्वारा कृत्या से नंद को मारा।

लोभपरतंत्र एक राजा से मिलकर और जीतने के पीछे मगध राज्य का आधा भाग देने के नियम पर उसको पटने पर चढ़ा लाया। पर्वतक के भाई का नाम वैरोधक * और पुत्र का मलयकेतु था। और पाँच म्लेच्छ राजाओं को पर्वतक अपनी सहायता को लाया था।

इधर राक्षस मंत्री राजा के मरने से दुःखी होकर उसके भाई सर्वार्थसिद्धि को सिंहासन पर बैठाकर राजकाज चलाने लगा। चाणक्य ने पर्वतक की सेना लेकर कुसुमपुर चारों ओर से घेर लिया। पन्द्रह दिन तक घोरतर युद्ध हुआ। राक्षस का सेना और नागरिक लोग लड़ते लड़ते शिथिल हो गए; इसी समय में गुप्तरीति से जीवसिद्धि के बहकाने से राजा सर्वार्थसिद्धि वैरागी होकर बन में चला गया। इस कुसमय में राजा के चले जाने से राक्षस और भी उदास हुआ। चंदन-दास नामक एक बड़े धनी जौहरी के घर में अपने कुटुंब को छोड़कर और शटकदास कायस्थ तथा अनेक राजनीति जाननेवाले विश्वासपात्र मित्रों को और कई आवश्यक काम सौंपकर राजा सर्वार्थसिद्धि के फेर लाने को आप तपोवन की ओर गया।

चाणक्य ने जीवसिद्धि द्वारा यह सब सुनकर राक्षस के पहुँचने के पहले ही अपने मनुष्यों से राजा सर्वार्थसिद्धि को मरवा डाला। राक्षस जब तपोवन में पहुँचा और सर्वार्थसिद्धि को मरा देखा तो अत्यंत उदास होकर वहीं रहने लगा। यद्यपि सर्वार्थसिद्धि के मार डालने से चाणक्य की नंदकुल के

---

* लिखी पुस्तकों में यह नाम वैरोधक, वैरोचक, वैवोधक, विरोध, वैरोध इत्यादि कई चाल से लिखा है।

नाश की प्रतिज्ञा पूरी हो चुकी थी, किंतु उसने सोचा कि जब तक राक्षस चंद्रगुप्त का मंत्री न होगा तब तक राज्य स्थिर न होगा। वरंच बड़े विनय से तपोवन में राक्षस के पास मंत्रित्त्व स्वीकार करने का संदेसा भेजा, परंतु प्रभुभक्त राक्षस ने उसको स्वीकार नहीं किया।

तपोवन में कई दिन रहकर राक्षस ने यह सोचा कि जब तक पर्वतक को हम न फोड़ेंगे, काम न चलेगा। यह सोच कर वह पर्वतक के राज्य में गया और वहाँ उसके बूढ़े मंत्रीसे कहा कि चाणक्य बड़ा दगाबाज है, वह आधा राज कभी न देगा, आप राजा को लिखिए, वह मुझसे मिलें तो मैं सब राज्य उनको दूँ। मंत्री ने पत्रद्वारा पर्वतक को यह सब वृत्त और राक्षस की नीतिकुशलता लिख भेजा और यह भी लिखा कि मैं अत्यंत वृद्ध हूँ, आगे से मंत्री का काम राक्षस को दीजिये। पाटलिपुत्र विजय होने पर भी चाणक्य आधा राज्य देने में विलंब करता है, यह देखकर सहज लोभी पर्वतक ने मंत्री की बात मान ली और पत्रद्वारा राक्षस को गुप्त रीति से अपना मुख्य अमात्य बनाकर इधर ऊपर के चित्त से चाणक्य से मिला रहा।

जीवसिद्धि के द्वारा चाणक्य ने राक्षस का सब हाल जान कर अत्यंत सावधानतापूर्वक चलना आरंभ किया। अनेक भाषा जाननेवाले बहुत से धूर्त पुरुषों को वेष बदल बदलकर भेद लेने को चारों ओर नियुक्त किया। चंद्रगुप्त को राक्षस का कोई गुप्तचर धोखे से किसी प्रकार की हानि न पहुँचावे इसका भी पक्का प्रबंध किया और पर्वतक की विश्वासघातकता का बदला लेने को दृढ़ संकल्प से, परंतु अत्यंत गुप्त रूप से, उपाय सोचने लगा।

राक्षस ने केवल पर्वतक की सहायता से राज के मिलने की आशा छोड़कर कुलूत,* मलय, काश्मीर, सिंधु और पारस इन पाँच देशों के राजा से सहायता ली। जब इन पाँचों देश के राजाओं ने बड़े आदर से राक्षस को सहायता देना स्वीकार किया तो वह तपोवन के निकट से फिर लौट आया और वहाँ से चंद्रगुप्त के मारने को एक विषकन्या+भेजी और अपना विश्वासपात्र समझकर जीवसिद्धि को उसके साथ कर दिया। चाणक्य ने जीवसिद्धि द्वारा यह सब बात जानकर और पर्वतक की धूर्तता और विश्वासघातकता से कुढ़कर प्रगट में इस उपहार को बड़ी प्रसन्नता से ग्रहण किया और लानेवाले को बहुत सा पुरस्कार देकर विदा किया। साँझ होने के पीछे धूर्ताधिराज चाणक्य ने इस कन्या को पर्वतक के पास भेज दिया और इंद्रियलोलुप पर्वतक उसी रात को उस कन्या के संग से मर गया। इधर चाणक्य ने यह सोचा कि मलयकेतु यहाँ रहेगा तो उसको राज्य का हिस्सा देना पड़ेगा, इससे किसी तरह इसको यहाँ से भगावें तो काम चले। इस कार्य के हेतु भागुरायण नामक एक प्रतिष्ठित

---

* कुलूत देश—किलात वा कुल्लू देश।

+ विषकन्या शास्त्रों में दो प्रकार की लिखी हैं। एक तो थोड़े से ऐसे बुरे योग हैं कि उस लग्न में उस प्रकार के ग्रहों के समय जो कन्या उत्पन्न हो उसके साथ जिसका विवाह हो वा जो उसका साथ करे वह साथ ही वा शीघ्र ही मर जाता है। दूसरे प्रकार की विषकन्या वैद्यक रीति से बनाई जाती थीं। छोटेपन से वरन गर्भ से कन्या को दूध में वा भोजन में थोड़ा थोड़ा विष देते देते बड़ी होने पर उसका शरीर ऐसा विषमय हो जाता था कि जो उसका अंगसंग करता वह मर जाता।

विश्वासपात्र पुरुष को मलयकेतु के पास सिखा पढ़ाकर भेज दिया। उसने पिछली रात को मलयकेतु से जाकर उसका बड़ा हित बनकर उससे कहा कि आज चाणक्य ने विश्वासघातकता करके आपके पिता को विषकन्या के प्रयोग से मार डाला और औसर पाकर आपको भी मार डालेगा। मलयकेतु बेचारा इस बात के सुनते ही सन्न हो गया और पिता के शयनागार में जाकर देखा तो पर्वतक को बिछौने पर मरा हुआ पाया। इस भयानक दृश्य के देखते ही मुग्ध मलयकेतु के प्राण सूख गये और भागुरायण की सलाह से उसी रात को छिपकर वहाँ से भागकर अपने राज्य की ओर चला गया। इधर चाणक्य के सिखाये भद्रभट इत्यादि चंद्रगुप्त के कई बड़े बड़े अधिकारी प्रगट में राजद्रोही बनकर मलयकेतु और भागुरायण के साथ ही भाग गये।

राक्षस ने मलयकेतु से पर्वतक के मारे जाने का समाचार सुनकर अत्यंत सोच किया और बड़े आग्रह तथा सावधानी से चंद्रगुप्त और चाणक्य के अनिष्टसाधन में प्रवृत्त हुआ।

चाणक्य ने कुसुमपुर में दूसरे दिन यह प्रसिद्ध कर दिया कि पर्वतक और चंद्रगुप्त दोनों समान बंधु थे, इससे राक्षस ने विषकन्या भेजकर पर्वतक को मार डाला और नगर के लोगों के चित्त पर, जिनको यह सब गुप्त अनुसंधि न मालूम थी इस बात का निश्चय भी करा दिया।

इसके पीछे चाणक्य और राक्षस के परस्पर नीति की जो चोटें चली हैं उसीका इस नाटक में वर्णन है।

—*—

(ख *)

जब नंद रोग शय्या से उठे तब बड़े अत्याचारी हो गए और कुल राज्य-प्रबंध अपने प्रधान मंत्री शकटार के हाथ में दे दिया जो स्वतंत्रता से सब कार्य करने लगा। एक दिन वृद्ध राजा मंत्री के साथ नगर के दक्षिण पहाड़ों में अहेर खेलने गए और वहाँ तृषित होने पर रक्षकों को छोड़ कर मंत्री के साथ एक सुंदर तालाब पर गए जो एक बड़े वृक्ष की छाया में था। इसीके पास की पहाड़ी में पाताल कंदरा नामक गुफा है जो पाताल जाने का रास्ता कहा जाता है। यहाँ शकटार ने राजा को तालाब में फेंक दिया और ऊपर से पत्थर डाल दिया। संध्या को राजा का घोड़ा लेकर राजधानी को लौटा और सूचना दी कि स्वामी रक्षकों को छोड़कर जंगल में चले गए तथा वे क्या हुए यह उसे ज्ञात नहीं। यह घोड़ा एक वृक्ष के नीचे चरता हुआ मिल गया। कुछ दिन अनंतर शकटार और एक राजमंत्री वक्रनास ने उग्रधन्वा को गद्दी पर बिठाया जो नंद का सबसे छोटा पुत्र था।

युवक राजा को शकटार की सूचना से संतोष नहीं हुआ इससे वह अन्य मंत्रियों से पूछताछ करता रहा पर उससे जब कुछ नहीं हुआ तब उसने राज सभा के सभी प्रधान पुरुषों को एकत्र किया और उन्हें मृत्युदंड की धमकी दी कि वे तीन दिन के भीतर उसके पिता की मृत्यु का ठीक समाचार लावें। इस धमकी ने काम किया। चौथे दिन उन्होंने सूचना दी कि शकटार ने वृद्ध राजा को मार डाला और उनका

---

* विल्फोर्ड की 'क्रोनौलौजी ऑव इण्डिया से उद्धृत (विलिअम फ्रैंकलिन्स 'द एंशेंट साइट ऑव पालीबोथ्रा, सन् १८१७)

शव पाताल कंदरा के पास एक तालाव में पत्थर के नीचे दबा हुआ पड़ा है। उग्रधन्वा ने ऊँटों सहित मनुष्यों को तुरंत भेजा जो शव और पत्थर दोनों ले आए। तब शकटार ने दोष मान लिया। इस पर वह सपरिवार एक छोटी कोठरी में बंद किया गया जिसका द्वार चुन दिया गया था और केवल भोजन देने भर मोखा खुला रहा। कुछ दिनों में सब मर गए केवल सबसे छोटा पुत्र विकटार बच गया जिसे युवा राजा ने छुड़ा कर नौकर रख लिया।

विकटार ने बदला लेने का निश्चय किया। एक दिन राजा ने उसे श्राद्ध के लिए ब्राह्मण लाने को कहा। विकटार उद्धत स्वभाव के एक कुरूप ब्राह्मण को लिवा लाया।कि राजा ऐसे ब्राह्मण को देखकर घृणा से उसका अपमान करेगा और वह शाप देगा। उसका यह षड्यंत्र ठीक उतरा। राजा ने उस ब्राह्मण को निकाल देने की आज्ञा दी और उसने कठोर शाप देते हुए प्रतिज्ञा की कि जब तक वह उसका नाश न कर लेगा तब तक शिखा न बाँधेगा। वह कुपित ब्राह्मण यह कहता हुआ वहाँ से निकला कि 'जो राजा होना चाहता हो वह मेरे पीछे आवे।' चंद्रगुप्त उसी समय अपने आठ मित्रों के साथ उठकर उसके साथ चला गया। वे वहुत जल्द गंगाजी पार उतरे और नैपाल के राजा पर्वतेश्वर* के पास गए जिसने इनका अच्छा स्वागत किया। इन लोगों ने उसकी प्रार्थना की कि वह उनकी धन और सेना से सहायता करे। चंद्रगुप्त ने साथही प्रतिज्ञा की कि सफलता प्राप्त होने पर वह प्रासी का आधा राज्य उसे देगा। पर्वतेश्वर ने कहा कि वह इतनी सेना

---

* इम्पीरियल गजे० जि० १६ में यह किरात वंश का लिखा गया है।

एकत्र नहीं कर सकता कि ऐसे बलशाली राज्य पर अधिकार कर सके पर उसकी यवनों (ग्रीक), शकों, काम्बाजों (गजनी के) और किरातों (पूर्वी नैपाल के पहाड़ी) से मित्रता है और वह उनकी सहायता ले सकता है।

उग्रधन्वा ने चंद्रगुप्त के इस व्यवहार पर क्रोधित होकर उसके भाइयों को मरवा डाला। पर्वतेश्वर ने बहुत बड़ी सेना तैयार की और अपने भाई वैरोचक तथा पुत्र मलयकेतु को साथ लिया। मित्र राजे जल्दी प्रासी का राजधानी के पास पहुँचे और वहाँ का राजा भी सेना सहित युद्धार्थ बाहर निकला। युद्ध हुआ जिसमें उग्रधन्वा परास्त हुआ और बहुत मारकाट के अनंतर स्वयं भी मारा गया। नगर घिर गया और वहाँ के दुर्गाध्यक्ष सर्वार्थसिद्धि ऐसे प्रबल शत्रु से नगर की रक्षा को असम्भव समझ कर विंध्य पर्वत में चले गये तथा साधु हो गए। राक्षस पर्वतेश्वर से मिल गया।

चन्द्रगुप्त ने गद्दी मिलने पर सुमाल्यादिकों का नाश किया और मित्र राजों को उनके सहायतार्थ अच्छा पुरस्कार देकर विदा किया। यवनों को अपने पास रख लिया और पर्वतेश्वर को प्रासी का अर्द्ध राज्य देने से नाहीं कर दिया। वह बलात् अपने स्वत्व पर अधिकार करने में अपने को अयोग्य समझ कर बदला लेने की इच्छा सहित स्वदेश लौट गया। राक्षस की राय से पर्वतेश्वर ने एक घातक चन्द्रगुप्त को मारने के लिए नियत किया पर विष्णुगुप्त ने शंका कर केवल उस षड्यंत्र को निष्फल ही न किया वरन् शत्रु पर उलट दिया अर्थात् घातक को मिलाकर उसे पर्वतेश्वर को मारने भेजा जिसमें वह सफल हुआ। राक्षस ने मलयकेतु को पिता

का वदला लेने के लिए उभाड़ा और वह इस सम्मति से प्रसन्न भी हुआ पर उसने यह कहकर नहीं माना कि चन्द्र-गुप्त ने बहुत से यवनों को नौकर रख लिया है। राजधानी में दुर्ग बनवाकर उसमें सेना रखकर सुरक्षित कर लिया है तथा प्रत्येक फाटकों पर हाथियों को रक्षार्थ रखा है और इधर इसके मित्र राजे चन्द्रगुप्त के बल से डरकर या उसके कृपा से संतुष्ट होकर अलग हो गए हैं जिससे उसका प्रभाव ऐसा जम गया है कि सफलता पूर्वक उसके। विरुद्ध कोई प्रयत्न नहीं किया जा सकता।

—*—

(ग *)

विष्णुपुराण के अनुसार नंदवंश अंतिम क्षत्रिय राजवंश था। कलियुग के आरंभ में इनका राज्य था। नंदवंश के सर्वार्थ-सिद्धि नामक राजा बहुत प्रसिद्ध हुए। वक्रनासादि अनेक योग्य ब्राह्मण मंत्री थे पर उनमें राक्षस प्रधान थे। राजा की दो रानियां थीं जिनमें एक सुनंदा क्षत्रियाणी थी और दूसरी मुरा नाम्नी शूद्रा थी पर अपने रूप लावण्य से राजा को अधिक प्रिय थी। एक दिन किसी तपोनिष्ठ ब्राह्मण का राजा ने आतिथ्य किया और चरणोदक को दोनों रानियों पर छिड़का। नव विंदु सुनन्दा पर और एक मुरा पर पड़ा पर इसने उस विंदु को बड़े आग्रह से ग्रहण किया जिससे वह तपस्वी बहुत प्रसन्न हुआ। इसे मौर्य नामक एक पुत्र हुआ। सुनंदा ने मांस का एक टुकड़ा प्रसव किया जिसमें नौ गर्भ के चिन्ह थे। राक्षस ने इन्हें तैल में रखा और कुछ दिन रक्षा करने पर ना

* ढुंढिराज के उपोद्घात का आशय।

बच्चे उत्पन्न हुए जो नवनंद कहलाए। इन्होंने क्रमशः मगध का राज्य किया। मुरा का पुत्र सेनापति हुआ और उसे सौ पुत्र हुए जिनमें चन्द्रगुप्त मुख्य था।

नंदगण मौर्य तथा उसके पुत्रों से द्वेष रखते थे। इस कारण उन्हें कैद कर दिया और बहुत थोड़ा अन्नजल उन्हें देते थे। इससे चन्द्रगुप्त को छोड़कर और सब मर गए। इसी समय सिंहलद्वीप के राजा ने जीवित सिंह के समान की एक मूर्ति पिंजड़े में बंद करवा कर भेजा कि जंगला बिना खोले ही वह बाहर निकाल लिया जाय। चन्द्रगुप्त की मेधा-शक्ति प्रसिद्ध थी इससे वह इस पहेली को हल करने के लिए कैदखाने से बाहर निकाला गया। चन्द्रगुप्त ने उस सिंह को देखकर तुरंत समझ लिया कि यह मोम का बना हुआ है और उसे तप्त छड़ से गला कर निकाल दिया। इससे नंदों का द्वेष और भी बढ़ा और चन्द्रगुप्त ने भी अपने पिता तथा भाई का बदला लेना निश्चित किया।

इसने एक दिन विष्णुगुप्त नामक ब्राह्मण को देखा कि वह कुशों को उखाड़ने तथा जड़ से नष्ट करने के महान उद्यम में लगा हुआ है। चणक का पुत्र होने के कारण इन्हींका नाम चाणक्य था और पैर में गड़ जाने के कारण वह कुशों पर इतना कुपित था। चंद्रगुप्त ने अपनी अर्थ-सिद्धि में इनसे अधिक सहायता पाने की आशा से मैत्री की और चाणक्य ने भी सहायता देने की प्रतिज्ञा की। एक दिन चाणक्य नंद के भोजनागार में जाकर प्रधान आसन पर बैठ गए और मंत्रियों के मना करने पर भी नंदों ने उन्हें उस स्थान से उठवा दिया। चाणक्य ने इस अपमान से क्रोधांध होकर शिखा खोलकर प्रतिज्ञा की कि जब तक नंद वंश का नाश न कर लूंगा तब

तक शिखा न बाँधूँगा। इसके अनंतर अपने सहपाठी इंदुशर्मा नामक ब्राह्मण को क्षपणक के छद्म वेश में राक्षसादि मंत्रियों का भेद लेने भेजा और म्लेच्छराज पर्वतक को मगध का आधा साम्राज्य देने का लोभ देकर नंदों के विरुद्ध उभाड़ा। चंद्रगुप्त ने यह सहायता पाकर कुसुमपुर घेर लिया और नंदों के मारे जाने पर उस पर अधिकार कर लिया। राक्षस वृद्ध सर्वार्थ-सिद्धि को सुरंग द्वारा बाहर एक आश्रम में लिवा गया जहाँ वह चाणक्य के चरों द्वारा मारा गया। राक्षस ने कुछ दिन कुसुमपुर में रहकर चंद्रगुप्त तथा चाणक्य के मारने का प्रयत्न किया पर सब चाणक्य की दूरदर्शिता से निष्फल हुए। चंद्रगुप्त को मारने के लिए राक्षस द्वारा प्रेरित विषकन्या को चाणक्य ने पर्वतक के पड़ाव में भेज दिया जिससे संग करने के कारण वह उसी रात्रि को मर गया। पर्वतक का पुत्र मलय-केतु चाणक्य के भेदियों से यह सुनकर कि उसका पिता चाणक्य ही के द्वारा मारा गया है डर कर तथा बदला लेने की इच्छा से अपने राज्य को भाग गया। राक्षस भी भागकर मलयकेतु के पास चला गया और कुसुमपुर पर आक्रमण करने का विचार किया।

राक्षस और मलयकेतु के आक्रमण का जिस समय शोर मच रहा था उसी समय नाटक का आरंभ होता है।

नाटक के पात्रगण

पुरुष—पात्र

चंद्रगुप्त—पाटलिपुत्र के नए राजा, वृषल तथा मौर्य द्वारा संबोधित और नाटक के नायक।

चाणक्य—विष्णुगुप्त नामक राजनीतिज्ञ ब्राह्मण और राक्षस के मिलाए जाने तक चंद्रगुप्त के मंत्री।

मलयकेतु—पर्वतक का पुत्र और नाटक का प्रतिनायक।

राक्षस – नंद के ब्राह्मण मंत्री जो चंद्रगुप्त के विरुद्ध षड्यंत्र करते रहे पर अंत में चाणक्य द्वारा उनके मंत्री बनाए गए।

भागुरायण—मलयकेतु का मित्र पर चाणक्य का गुप्त भेदिया।

निपुणक, जीवसिद्धि, सिद्धार्थक, समिद्धार्थक—चाणक्य के भेदिये।

शारंगरव—चाणक्य का शिष्य।

चंदनदास, शकटदास—राक्षस के मित्र।

विराधगुप्त, करभक—राक्षस के भेदिए।

प्रियंवदक—राक्षस का सेवक।

भासुरक—भागुरायण का सेवक।

वैहीनरि – चंद्रगुप्त का कंचुकी।

जाजलि—मलयकेतु का कंचुकी।

स्त्री—पात्र

शोणोत्तरा—चंद्रगुप्त की प्रतीहारी।

विजया—मलयकेतु की प्रतीहारी।

अन्य पात्र

सूत्रधार, नटी, द्वारपाल, चंदनदास की स्त्री तथा पुत्र, बंदीजन आदि।

मुद्राराक्षस नाटक

प्रस्तावना

स्थान—रंगभूमि

C. M. V. Sharma

[रंगशाला में नांदी-मंगलपाठ]

भरित नेह नव नीर, नित बरसत सुरस अथोर ।
जयति अपूरब घन कोऊ लखि नाचत मन मोर ॥
'कौन है सीस पै ?' ।
'चंद्रकला' ॥
'कहा याको है नाम यही त्रिपुरारी ?' ।
'हाँ यही नाम है भूल गई किमि जानत हू तुम प्रानपियारी' ॥
'नारिहि पूछत चंद्रहि नाहि' 'कहै बिजया जदि चंद्र लबारी' ।
यों गिरिजै छलि गंग छिपावत ईस हरौ सब पीर तुम्हारी ॥
पाद-प्रहार सों जाय पताल न भूमि सबै तनु-बोझ के मारे ।
हाथ नचाइबे सों नभ मैं इत के उत टूटि परैं नहिं तारे ॥१०
देखन सों जरि जाहिं न लोक, न खोलत नैन कृपा उर धारे ।
यों थल के बिनु कष्ट सों नाचत, सर्व हरौ दुख सर्व तुम्हारे ॥

[नांदी-पाठ के अनंतर]

सूत्रधार—बस, बहुत मत बढ़ाओ। सुनो, आज मुझे सभासदों की आज्ञा है कि 'सामंत बटेश्वरदत्त के पौत्र और महाराज पृथु के पुत्र विशाखदत्त कवि का बनाया मुद्राराक्षस नाटक खेलो।' सच है, जो सभा काव्य के गुण और दोष को सब भाँति समझती है उसी के सामने खेलने में मेरा भी चित्त संतुष्ट होता है।

उपजै आछे खेत में मूरखहू के धान।
सघन होन में धान के चहिय न गुनी किसान॥ २०

तो अब मैं घर से सुघर घरनी को बुलाकर कुछ गाने बजाने का ढंग जमाऊँ। (घूमकर) यही मेरा घर है, चलूँ। (आगे बढ़कर) अहा! आज तो मेरे घर में कोई उत्सव जान पड़ता है, क्योंकि घरवाले सब अपने अपने काम में चूर हो रहे हैं।

पीसत कोऊ सुगंध, कोऊ जल भरिकै लावत।
कोऊ बैठिकै रंग रंग की माल बनावत॥
कहुँ तियगन-हुँकार-सहित, अति स्रवन सोहावत।
होत मुसल को शब्द, सुखद जिय को सुनि भावत॥

जो हो, घर से स्त्री को बुलाकर पूछ लेता हूँ। ३०

(नेपथ्य की ओर देखकर)

री गुनवारी! सब उपाय की जाननवारी!
घर की राखनवारी! सब कुछ साधनवारी!
मो गृह-नीति-सरूप, काज सब करन सँवारी।
वेगि आउ री नटी! बिलंब न करु सुनि प्यारी!

[नटी आती है]

नटी–आर्यपुत्र ! मैं आई, अनुग्रहपूर्वक कुछ आज्ञा दीजिये ।

सूत्र०—प्यारी आज्ञा पीछे दी जायगी, पहले यह बता कि आज ब्राह्मणों का न्योता करके तुमने कुटुंब के लोगों पर क्यों अनुग्रह किया है ? या आप ही से आज अतिथि लोगों ने कृपा किया है कि ऐसे धूम से रसोई चढ़ रही है ?

नटी—आर्य ! मैंने ब्राह्मणों को न्यौता दिया है । ४०

सूत्र०—क्यों ? किस निमित्त से ?

नटी—चंद्रग्रहण लगनेवाला है ।

सूत्र०—कौन कहता है ?

नटी—नगर के लोगों के मुंह सुना है ।

सूत्र०—प्यारी ! मैंने ज्योतिःशास्त्र के चौसठों अंगों में बड़ा परिश्रम किया है । जो हो, रसोई तो होने दो, पर आज तो गहन है यह तो किसी ने तुझे धोखा ही दिया है । क्योंकि—

चंद्र-बिंब पूर न भए क्रूर केतु हठ दाप ।

बल सों करिहैं ग्रास कह

(नेपथ्य में)

हैं ! मेरे जीते चंद्र को कौन बल से ग्रस सकता है ? ५०

सूत्र०— *जेहि बुध रच्छत आप ॥*

नटी—आर्य ! यह पृथ्वी ही पर से चंद्रमा को कौन बचाना चाहता है ?

सूत्र०—प्यारी ! मैंने भी नहीं लखा, देखो, अब फिर से वही पढ़ता हूँ और अब जब वह फिर बोलेगा तो मैं उसकी बोली से पहिचान लूंगा कि कौन है ।

['चंद्रबिंब पूर न भए' फिर से पढ़ता है]

(नेपथ्य में)

हैं ! मेरे जीते चंद्र को कौन बल से ग्रस सकता है ?

सूत्र०—(सुनकर) जाना।

अरे ! अहै कौटिल्य

नटी—(डर नाट्य करती है)

सूत्र०—

दुष्ट टेढ़ी मतिवारो।

नंदवंश जिन सहजहिं निज क्रोधानल जारो॥

चंद्रग्रहण को नाम सुनत निज नृप को मानी।

इतही आवत चंद्रगुप्त पै कछु भय जानी॥

तो अब चलो, हम लोग चलें

(दोनों जाते हैं)

इति प्रस्तावना

६०

प्रथम अंक

स्थान—चाणक्य का घर

[अपनी खुली शिखा को हाथ से फटकारता हुआ चाणक्य आता है]

चाणक्य—बता ! कौन है जो मेरे जीते चंद्रगुप्त को बल से ग्रसना चाहता है ?

सदा दंति के कुंभ को जो बिदारै।

ललाई नए चंद सी जौन धारै॥

अँभाई-सनै काल सो जौन बाढ़ै।
भलो सिंह के दाँत सो कौन काढ़ै ? ॥

और भी

कालसर्पिणी नंदकुल, क्रोध-धूम सी जौन।
अबहूँ बाँधन देत नहिं अहो शिखा मम कौन ?॥
दहन नंदकुल-वन सहज अति प्रज्वलित प्रताप।
को मम क्रोधानल-पतँग भयो चहत अब पाप ? ॥ १०

शारंगरव ! शारंगरव !!

[शिष्य आता है]

शिष्य—गुरु जी ! क्या आज्ञा है ?

चाणक्य—बेटा ! मैं बैठना चाहता हूं।

शिष्य—महाराज ! इस दालान में बेंत की चटाई पहले ही से बिछी है। आप विराजिये।

चाणक्य—बेटा ! केवल कार्य में तत्परता मुझे व्याकुल करती है न कि और उपाध्यायों के तुल्य शिष्यजन से दुःशीलता। (बैठकर आप ही आप) क्या सब लोग यह बात जान गए कि मेरे नंदवंश के नाश से क्रुद्ध होकर राक्षस पितावध से दुखी मलयकेतु से मिलकर यवनराज की सहायता लेकर चंद्रगुप्त २० पर चढ़ाई किया चाहता है। (कुछ सोचकर) क्या हुआ जब मैं नंदवंश-वध की बड़ी प्रतिज्ञारूपी नदी से पार उतर चुका तब यह बात प्रकाशित होने ही से क्या मैं इसको न पूरी कर सकूंगा ? क्योंकि—

दिसि सरिस रिपु-रमनी-वदन-ससि सोक-कारिख लायकै।
लै नीति-पवनहि सचिव-विटपन छार डारि, जरायकै॥

बिनु पुरनिवासी-पच्छिगन, नृप-बंसमूल नसायकै ।
भो शांत मम क्रोधाग्नि यह कछु आन हित नहिं पायकै ॥

और भी

जिन जनन ने अति सोच सों नृप-भय प्रगट धिक नहिं कह्यो ।
पै मम अनादर को अतिहि वह सोच जिय जिनके रह्यौ ॥३०
ते लखहिं आसन सों गिरायो नंद सहित समाज को ।
जिमि सिखर तें बनराज क्रोधि गिरावई गजराज को ॥

सो यद्यपि मैं अपनी प्रतिज्ञा पूरी कर चुका हूँ, तो भी चंद्रगुप्त के हेतु शस्त्र अब भी धारण करता हूं । देखो, मैंने—

नवनंदन को मूल सहित खोद्यो छन भर में ।
चंद्रगुप्त में श्री राखी नलिनी जिमि सर में ॥
क्रोध प्रीति सों एक नासिकै एक बसायो ।
सत्र मित्र को प्रगट सबन फल लै दिखलायो ॥

अथवा जब तक राक्षस नहीं पकड़ा जाता तब तक नंदों के मारने से क्या और चंद्रगुप्त को राज्य मिलने ही से क्या ? ४० (कुछ सोचकर) अहा ! राक्षस की नंदवंश में कैसी दृढ़ भक्ति है । जब तक नंदवंश का कोई भी जीता रहेगा तब तक वह कभी शूद्र का मंत्री बनना स्वीकार न करेगा, इससे उसके पकड़ने में हम लोगों को निरुद्यम रहना अच्छा नहीं । यही समझकर तो नंदवश का सर्वार्थसिद्धि बिचारा तपोवन में चला गया तौ भी हमने मार डाला । देखो, राक्षस मलयकेतु को मिलाकर हमारे बिगाड़ने में यत्न करता ही जाता है। (आकाश में देखकर) वाह ! राक्षस मंत्री वाह । क्यों न हो ! वाह ! मंत्रियों में वृहस्पति के समान वाह ! तू धन्य है, क्योंकि—

जब लौं रहै सुख राज को तब लौं सबै सेवा करैं। ५०
पुनि राज बिगड़े कौन स्वामी? तनिक नहिं चित में धरैं॥
जे विपतिहू में पालि पूरब प्रीति काज सँवारहीं।
ते धन्य नर तुम सारिखे दुरलभ अहैं संसय नहीं॥

इसीसे तो हम लोग इतना यत्न करके तुम्हें मिलाया चाहते हैं कि तुम अनुग्रह करके चंद्रगुप्त के मंत्री बनो, क्योंकि—

मूरख, कातर, स्वामिभक्त कछु काम न आवै।
पंडित हू बिनु भक्ति काज कछु नाहिं बनावै॥
निज स्वारथ की प्रीति करैं ते सब जिमि नारी।
बुद्धि, भक्ति दोउ होय तबै सेवक सुखकारी॥

सो मैं भी इस विषय में कुछ सोता नहीं हूँ; यथाशक्ति उसी के ६० मिलाने का यत्न करता रहता हूं। देखो, पर्वतक को चाणक्य ने मारा यह अपवाद न होगा, क्योंकि सब जानते हैं कि चंद्रगुप्त और पर्वतक मेरे मित्र हैं, तो मैं पर्वतक को मारकर अपना पक्ष निर्बल कर दूंगा ऐसी शंका कोई न करैगा। सब यही कहेंगे कि राक्षस ने विषकन्या-प्रयोग करके चाणक्य के मित्र पर्वतक को मार डाला। पर एकांत में मैंने भागुरायण द्वारा मलयकेतु के जी में यह निश्चय करा दिया है कि तेरे पिता को चाणक्य ही ने मारा, इससे मलयकेतु मुझसे बिगड़ रहा है। जो हो, यदि यह राक्षस लड़ाई करने को उद्यत होगा तो भी पकड़ा जायगा। पर जो हम मलयकेतु को पकड़ेंगे तो लोग निश्चय करलेंगे कि ७० अवश्य चाणक्य ही ने अपने मित्र इसके पिता को मारा और अब मित्रपुत्र अर्थात् मलयकेतु को मारना चाहता है। और भी, अनेक देश की भाषा, पहिरावा, चाल, व्यवहार जाननेवाले

अनेक वेषधारी बहुत से दूत मैंने इसी हेतु चारों ओर भेज रक्खे हैं कि वे भेद लेते रहें कि कौन हम लोगों से शत्रुता रखता है, कौन मित्र है। और कुसुमपुर-निवासी नंद के मंत्री और संबंधियों के ठीक ठीक वृत्तांत का अन्वेषण हो रहा है, वैसे ही भद्रभटादिकों को बड़े बड़े पद देकर चंद्रगुप्त के पास रख दिया है और भक्ति की परीक्षा लेकर बहुत से अप्रमादी पुरुष भी शत्रु से रक्षा करने को नियत कर दिए ८० हैं। वैसे ही मेरा सहपाठी मित्र विष्णुशर्मा नामक ब्राह्मण जो शुक्र-नीति और चौसठों कला से ज्योतिष-शास्त्र में बड़ा प्रवीण है, उसे मैंने पहले ही जैन संन्यासी बनाकर नंदवध की प्रतिज्ञा के अनंतर ही कुसुमपुर में भेज दिया है। वह वहाँ नंद के मंत्रियो से मित्रता, विशेष कर के राक्षस का अपने पर बड़ा विश्वास बढ़ाकर सब काम सिद्ध करेगा। इससे मेरा सब काम बन गया है, परंतु चंद्रगुप्त सब राज्य का भार मेरे ही ऊपर रखकर सुख करता है। सच है, जो अपने बल बिना और अनेक दुःखों के भोगे बिना राज्य मिलता है वही सुख देता है। क्योंकि— ९०

अपने बल सों लावहीं जद्यपि मारि सिकार।
तदपि सुखी नहिं होत हैं राजा-सिंह-कुमार॥

[यम का चित्र हाथ में लिये योगी का वेष धारण किये दूत आता है]

दूत—अरे! और देव को काम नहिं जम को करो प्रनाम।
जो दूज [illegible] भक्त [illegible]न हरत परिनाम॥

और

उलटे ते हूं ब-त है काज किये अति हेत ।
जो जम जी सब को हरत सोई जीविका देत ॥

तो इस घर में चलकर जमपट दिखाकर गावें ।

[घूमता है]

शिष्य—रावल जी ! ड्यौढ़ी के भीतर न जाना ।

दूत—अरे ब्राह्मण ! यह किसका घर है ?

शिष्य—हम लोगों के परम प्रसिद्ध गुरु चाणक्यजी का । १००

दूत—(हँसकर) अरे ब्राह्मण ! तब तो यह मेरे गुरुभाई ही का घर है, मुझे भीतर जाने दे, मैं उसको धर्मोपदेश करूंगा ।

शिष्य—(क्रोध से) छिः मूर्ख ! क्या तू गुरुजी से भी धर्म विशेष जानता है ?

दूत—अरे ब्राह्मण ! क्रोध मत कर, सभी सब कुछ नहीं जानते, कुछ तेरा गुरु जानता है, कुछ मेरे से लोग जानते हैं ।

शिष्य—(क्रोध से) मूर्ख ! क्या तेरे कहने से गुरुजी की सर्वज्ञता उड़ जायगी ?

दूत—भला ब्राह्मण ! जो तेरा गुरु सब जानता है तो बतलावे कि चन्द्र किसको नहीं अच्छा लगता ? ११०

शिष्य—मूर्ख ! इसको जानने से गुरु को क्या काम ?

दूत—यही तो कहता हूं कि यह तेरा गुरु ही समझेगा कि इसके जानने से क्या होता है ? तू तो सूधा मनुष्य है, तू केवल इतना ही जानता है कि कमल को चंद्र प्यारा नहीं है । देख—

जदपि होत सुंदर कमल उलटो तदपि सुभाव ।
जो नित पूरन चंद सों करत विरोध बनाव ॥

चाणक्य—(सुनकर आप ही आप) अहा ! "मैं चंद्रगुप्त के वैरियों को जानता हूँ" यह कोई गूढ़ वचन से कहता है ।

शिष्य—चल मूर्ख! क्या बेठिकाने की बकवाद कर रहा है।
दूत—अरे ब्राह्मना! यह सब ठिकाने की बातें होंगी। १२०
शिष्य—कैसे होंगी?
दूत—जो कोई सुननेवाला और समझनेवाला होय।
चाणक्य—रावल जी! बेखटके चले आइये, यहां आपको सुनने और समझनेवाले मिलेंगे।
दूत—आया (आगे बढ़कर) जय हो महाराज की।
चाणक्य—(देखकर आप ही आप) कामों की भीड़ से यह नहीं निश्चय होता कि निपुणक को किस बात के जानने के लिये भेजा था। अरे जाना, इसे लोगों के जी का भेद लेने को भेजा था। (प्रकाश) आओ आओ, कहो अच्छे हो? बैठो।
दूत—जो आज्ञा (भूमि में बैठता है)। १३०
चाणक्य—कहो, जिस काम को गए थे उसका क्या किया? चंद्रगुप्त को लोग चाहते हैं कि नहीं?
दूत—महाराज! आपने पहले ही से ऐसा प्रबंध किया है कि कोई चंद्रगुप्त से विराग न करे इस हेतु सारी प्रजा महाराज चंद्रगुप्त में अनुरक्त है, पर राक्षस मंत्री के दृढ़ मित्र तीन ऐसे हैं जो चद्रगुप्त की वृद्धि नहीं सह सकते।
चाणक्य—(क्रोध से) अरे! कह, कौन अपना जीवन नहीं सह सकते, उनके नाम तू जानता है?
दूत—जो नाम न जानता तो आपके सामने क्योंकर निवेदन करता।
चाणक्य—मैं सुना चाहता हूँ कि उनके क्या नाम हैं? १४०
दूत—महाराज सुनिये। पहले तो शत्रु का पक्षपात करनेवाला क्षपणक है।
चाणक्य—(हर्ष से आप ही आप) हमारे शत्रुओं का पक्षपाती क्षपणक है? (प्रकाश) उसका नाम क्या है?

दूत—जीवसिद्धि नाम है।

चाणक्य—तूने कैसे जाना कि क्षपणक मेरे शत्रुओं का पक्षपाती है ?

दूत—क्योंकि उसने राक्षस मंत्री के कहने से देव पर्वतेश्वर पर विषकन्या का प्रयोग किया।

चाणक्य—(आप ही आप) जीवसिद्धि तो हमारा गुप्त दूत है। १५०
(प्रकाश) हां, और कौन है ?

दूत—महाराज ! दूसरा राक्षस मंत्री का प्यारा सखा शकटदास कायथ है।

चाणक्य—(हँसकर आप ही आप) कायथ कोई बड़ी बात नहीं है तो भी क्षुद्र शत्रु की भी उपेक्षा नहीं करनी चाहिए, इसी हेतु तो मैंने सिद्धार्थक को उसका मित्र बनाकर उसके पास रक्खा है। (प्रकाश) हां, तीसरा कौन है ?

दूत—(हँसकर) तीसरा तो राक्षस मंत्री का मानो हृदय ही पुष्पपुरवासी चंदनदास नामक वह बड़ा जौहरी है जिसके घर में मंत्री राक्षस अपना कुटुंब छोड़ गया है। १६०

चाणक्य—(आप ही आप) अरे यह उसका बड़ा अंतरंग मित्र होगा क्योंकि पूरे विश्वास बिना राक्षस अपना कुटुंब यों न छोड़ जाता। (प्रकाश) भला तूने यह कैसे जाना कि राक्षस मंत्री वहाँ अपना कुटुंब छोड़ गया ?

दूत—महाराज ! इस "मोहर" की अँगूठी से आपको विश्वास होगा। (अँगूठी देता है)।

चाणक्य—(अँगूठी लेकर और उसमें राक्षस का नाम बाँचकर प्रसन्न होकर आप ही आप) अहा ! मैं समझता हूँ कि राक्षस ही मेरे हाथ लगा। (प्रकाश) भला तुमने यह अँगूठी कैसे पाई ? मुझ से सब वृत्तांत तो कहो। १७०

दूत—सुनिये। जब मुझे आपने नगर के लोगों का भेद लेने भेजा तब मैंने यह सोचा कि बिना भेस बदले मैं दूसरे के घर में न घुसने पाऊँगा, इससे मैं जोगी का भेस करके जमराज का चित्र हाथ में लिये फिरता फिरता चंदनदास जौहरी के घर में चला गया और वहाँ चित्र फैलाकर गीत गाने लगा।

चाणक्य—हाँ, तब ?

दूत—तब, महाराज! कौतुक देखने को एक पाँच बरस का बड़ा सुंदर बालक एक परदे के आड़ से बाहर निकला। उस समय परदे के भीतर स्त्रियों में बड़ा कलकल हुआ कि "लड़का कहां गया ?" इतने में एक स्त्री ने द्वार के बाहर मुख निकालकर १८० देखा और लड़के को झट पकड़ ले गई, पर पुरुष की उँगली से स्त्री की उँगली पतली होती है इससे द्वार ही पर यह अँगूठी गिर पड़ी और मैं उसपर राक्षस मंत्री का नाम देखकर आपके पास उठा लाया।

चाणक्य—वाह वाह! क्यों न हो, अच्छा जाओ, मैंने सब सुन लिया। तुम्हें इसका फल शीघ्र ही मिलैगा।

दूत—जो आज्ञा (जाता है)।

चाणक्य– शारंगरव! शारंगरव!

शिष्य—(आकर) आज्ञा गुरुजी ?

चाणक्य—बेटा! कलम, दावात, कागज तो लाओ। १९०

शिष्य—जो आज्ञा। (बाहर जाकर ले आता है) गुरुजी! ले आया।

चाणक्य—(लेकर आप ही आप) क्या लिखूं, इसी पत्र से राक्षस को जीतना है।

[प्रतिहारी आता

प्रति०—जय हो! महाराज की जय हो!

चाणक्य—(हर्ष से आप ही आप) वाह वाह! कैसा सगुन हुआ

कि कार्यारंभ ही में जय शब्द सुनाई पड़ा। (प्रकाश) कहो शोणोत्तरा ! क्यों आये हो ?

प्रति०—महाराज ! राजा चंद्रगुप्त ने प्रणाम कहा है और पूछा है कि मैं पर्वतेश्वर की क्रिया किया चाहता हूँ इससे आपकी आज्ञा हो तो उनके पहिरे आभरणों को पंडित ब्राह्मणों को दूं। २००

चाणक्य—(हर्ष से आप ही आप) वाह ! चंद्रगुप्त वाह ! क्यों न हो ! मेरे जी की बात सोचकर संदेशा कहला भेजा है। (प्रकाश) शोणोत्तरा ! चंद्रगुप्त से कहो कि "वाह ! बेटा वाह ! क्यों न हो बहुत अच्छा विचार किया, तुम व्यवहार में बड़े ही चतुर हो इससे जो सोचा है सो करो, पर पर्वतेश्वर के पहिरे हुए आभरण गुणवान ब्राह्मणों को देने चाहिएँ, इससे ब्राह्मण मैं चुनके भेजूंगा।"

प्रति०—जो आज्ञा, महाराज ! (जाता है)।

चाणक्य—शारंगरव ! विश्वावसु आदि तीनों भाइयों से कहो कि जाकर चंद्रगुप्त से आभरण लेकर मुझसे मिलें। २१०

शिष्य—जो आज्ञा (जाता है)।

चाणक्य—(आप ही आप) पीछे तो यह लिखें पर पहले क्या लिखें ? (सोचकर) अहा ! दूतों के मुख से ज्ञात हुआ है कि उस म्लेच्छ-राजसेना में से प्रधान पाँच राजा परम भक्ति से राक्षस की सेवा करते हैं।

प्रथम चित्रवर्मा कुलूत को राजा भारी।
मलय-देसपति सिंहनाद दूजो बलधारी॥
तीजो पुसकरनयन अहै कस्मीर देस को।
सिंधुसेन पुनि सिंधु-नृपति अति उग्र भेष को॥

मेघाक्ष पाँचवों प्रवल अति, वहु हय-जुत पारस नृपात । २२०
अव चित्रगुप्त इन नाम कों मेटहिं हम जव लिखहिं हति ॥

(कुछ सोचकर) अथवा न लिखूं अभी सब बात योंही रहे ।

(प्रकाश) शारंगरव ! शारंगरव !

शिष्य—(आकर) आज्ञा, गुरुजी !

चाणक्य—बेटा ! वैदिक लोग कितना भी अच्छा लिखें तो भी उनके अक्षर अच्छे नहीं होते इससे सिद्धार्थक से कहो (कान में कहकर) कि वह शकटदास के पास जाकर यह सब बात यों लिखवाकर और "किसीका लिखा कुछ कोई आपही बाँचे" यह सरनामे पर नाम-बिना लिखवाकर हमारे पास आवे और शकटदास से यह न कहे कि चाणक्य ने २३० लिखवाया है ।

शिष्य—जो आज्ञा (जाता है) ।

चाणक्य—(आप ही आप) आहा ! मलयकेतु को तो जीत लिया ।

[चिट्ठी लेकर सिद्धार्थक आता है]

सि०—जय हो महाराज की, जय हो महाराज ! यह शकटदास के हाथ का लेख है ।

चाणक्य—(लेकर देखता है) वाह ! कैसे सुंदर अक्षर हैं पढ़कर) बेटा, इस पर यह मोहर कर दो ।

सि०—जो आज्ञा (मोहर करके) महाराज, इस पर मोहर हो गई, अब और कहिये क्या आज्ञा है ?

चाणक्य—बेटा ! हम तुम्हें एक अपने निज के काम में भेजा २४० चाहते हैं ।

सि०—(हर्ष से) महाराज, यह तो आपकी कृपा है. कहिये, यह दास आपके कौन काम आ सकता है ?

चाणक्य—सुनो, पहले जहां सूली दी जाती है वहां जाकर रोषपूर्वक फाँसी देनेवालों को दहिनी आँख दबाकर समझा देना और जब वे तेरी बात समझकर डर से इधर उधर भाग जायँ तब तुम शकटदास को लेकर राक्षस मंत्री के पास चले जाना। वह अपने मित्र के प्राण बचाने से तुम पर बड़ा प्रसन्न होगा और तुम्हें पारितोषिक देगा; तुम उसको लेकर कुछ दिनों तक राक्षस ही के पास रहना और जब और भी लोग २५० पहुँच जायँ तब यह काम करना। (कान में समाचार कहता है)

सि०—जो आज्ञा महाराज!

चाणक्य—शारंगरव! शारंगरव!

शिष्य—(आकर) आज्ञा गुरुजी!

चाणक्य—कालपाशिक और दंडपाशिक से यह कह दो कि चंद्रगुप्त आज्ञा करता है कि जीवसिद्धि क्षपणक ने राक्षस के कहने से विषकन्या का प्रयोग करके पर्वतेश्वर को मार डाला, यह दोष प्रसिद्ध करके अपमानपूर्वक उसको नगर से निकाल दें।

शिष्य—जो आज्ञा। (घूमता है)।

चाणक्य—बेटा! ठहर—सुन, और वह जो शकटदास कायस्थ २६० है वह राक्षस के कहने से नित्य हमलोगों की बुराई करता है, यहा दोष प्रगट करके उसको सूली दे दें और उसके कुटुंब को कारागार में भेज दें।

शिष्य—जो आज्ञा महाराज! (जाता है)।

चाणक्य—(चिंता करके आप ही आप) हा! क्या किसी भाँति यह दुरात्मा राक्षस पकड़ा जायगा?

सि०—महाराज! लिया।

चाणक्य—(हर्ष से आप ही आप) अहा! क्या राक्षस को ले लिया? (प्रकाश) कहो, क्या पाया?

सि०—महाराज ! आपने जो संदेशा कहा वह मैंने भलीभांति २७०
समझ लिया, अब काम पूरा करने जाता हूं।
चाणक्य—(मोहर और पत्र देकर) सिद्धार्थक ! जा तेरा काम
सिद्ध हो।
सि०—जो आज्ञा (प्रणाम करके जाता है)।
शिष्य—(आकर) गुरुजी, कालपाशिक, दंडपाशिक आपसे निवे-
दन करते हैं कि महाराज चंद्रगुप्त की आज्ञा पूर्ण करने जाते हैं।
चाणक्य—अच्छा, बेटा ! मैं चंदनदास जौहरी को देखा चाहता हूँ।
शिष्य—जो आज्ञा (बाहर जाकर चंदनदास को लेकर आता है)
इधर आइये, सेठ जी !
चंदन०—(आप ही आप) यह चाणक्य ऐसा निर्दय है कि यह २८०
जो एकाएक किसी को बुलावे तो लोग विना अपराध भी
इससे डरते हैं, फिर कहां मैं इसका नित्य का अपराधी। इसीसे
मैंने धनसेनादिक तीन महाजनों से कह दिया है कि दुष्ट
चाणक्य जो मेरा घर लूट ले तो आश्चर्य नहीं इससे स्वामी
राक्षस का कुटुंब कहीं और ले जाओ, मेरी जो गति
होनी है वह हो।
शिष्य—इधर आइये साहजी !
चंदन०—आया। (दोनों घूमते हैं)
चाणक्य—(देखकर) आइये, साहजी ! कहिये, अच्छे तो हैं ?
वैठिये, यह आसन है। २९०
चंदन०—(प्रणाम करके) महाराज ! आप नहीं जानते कि
अनुचित सत्कार अनादर से भी विशेष दुःख का कारण
होता है, इससे मैं पृथ्वी ही पर बैठूंगा।
चाणक्य—वाह ! आप ऐसा न कहिये। आपको तो हम लोगों के
साथ यह व्यवहार उचित ही है इससे आप आसन पर बैठिये॥

चंदन॰—(आप ही आप) कोई बात तो इस दुष्टने जानी। (प्रकाश) जो आज्ञा (बैठता है)।

चाणक्य—कहिये साहजी! चंदनदासजी! आपको व्यापार में लाभ तो होता है न? २९९

चंदन॰—(स्वगत) यह अधिक आदर शंका उत्पन्न करता है (प्रकाश) महाराज! क्यों नहीं, आपकी कृपा से सब वनिज व्यापार अच्छी भाँति चलता है।

चाणक्य—कहिए, साहजी? पुराने राजाओं के गुण चंद्रगुप्त के दोषों को देखकर कभी लोगों को स्मरण आते हैं?

चंदन॰—(कान पर हाथ रखकर) राम! राम! शरद ऋतु के पूर्ण चंद्रमा की भांति शोभित चंद्रगुप्त को देखकर कौन नहीं प्रसन्न होता?

चाणक्य—जो प्रजा ऐसी प्रसन्न है, तो राजा भी प्रजा से कुछ अपना भला चाहते हैं। ३०९

चंदन॰—महाराज! जो आज्ञा। मुझसे कौन और कितनी वस्तु चाहते हैं?

चाणक्य—सुनिये, साहजी! यह नंद का राज्य नहीं है, चंद्रगुप्त का राज्य है। धन से प्रसन्न होनेवाला तो वह लालची नंद ही था, चंद्रगुप्त तो तुम्हारे ही भले से प्रसन्न होता है।

चंदन॰—(हर्ष से) महाराज! यह तो आपकी कृपा है।

चाणक्य—पर यह तो मुझसे पूछिये कि वह भला किस प्रकार से होगा?

चंदन॰—कृपा करके कहिये। ३२०

चाणक्य—सौ बात की एक बात यह है कि राजा के विरुद्ध कामों को छोड़ो।

चंदन॰—महाराज! वह कौन अभागा है जिसे आप राजविरोधी समझते हैं? ३२१

चाणक्य—उनमें पहले तो तुम्हीं हो।

चंदन०—(कान पर हाथ रखकर) राम ! राम ! राम ! भला तिनके से और अग्नि से कैसा विरोध ?

चाणक्य--विरोध यही है कि तुमने राजा के शत्रु राक्षस मंत्री का कुटुंब अबतक घर में रख छोड़ा है।

चंदन०-महाराज ! यह किसी दुष्ट ने आपसे झूठ कह दिया है।

चाणक्य—सेठ जी ! डरो मत, राजा के भय से पुराने राजा के सेवक लोग अपने मित्रों के पास विना चाहे भी कुटुंब छोड़-कर भाग जाते हैं; इससे इसके छिपाने ही में दोष होगा। ३३०

चंदन०—महाराज ! ठीक है, पहले मेरे घर पर राक्षस मंत्री का कुटुंब था।

चाणक्य—पहले तो कहा कि किसीने झूठ कहा है। अब कहते हो, था। यह गबड़े की बात कैसी ?

चंदन०—महाराज ! इतना ही मुझसे बातों में फेर पड़ गया।

चाणक्य—सुनो, चंद्रगुप्त के राज्य में छल का विचार नहीं होता, इससे राक्षस का कुटुंब दो तो तुम सच्चे हो जाओगे।

चंदन०—महाराज ! मैं कहता हूँ न, पहले राक्षस का कुटुंब था।

चाणक्य—तो अब कहाँ गया ? ३४०

चंदन०—न जाने कहाँ गया।

चाणक्य—(हँसकर) सुनो, सेठजी ! तुम क्या नहीं जानते कि साँप तो सिर पर बूटी पहाड़ पर। जैसा चाणक्य ने नंद को......(इतना कहकर लाज से चुप रह जाता है)।

चंदन०—(आप ही आप)

प्रिया दूर, घन गरजहीं, अहो ! दुःख अति घोर।
ओषधि दूर हिमाद्रि पै, सिर पै सर्प कठोर॥

चाणक्य—चंद्रगुप्त को अब राक्षस मंत्री राज पर से उठा देगा यह आशा छोड़ो, क्योंकि देखो—

नृप नंद जीवत नीतिबल सों मति रही जिनकी भली।
ते वक्रनासादिक सचिव नहिं थिर सके करि, नसि चली॥ ३५०
सो श्री सिमिटि अब आय लिपटी चंद्रगुप्त नरेस सों।
तेहि दूर को करि सकै? चाँदनि छुटत कहुँ राकेस सों?॥

और भी

("सदा दंति के कुंभ को" इत्यादि फिरसे पढ़ता है।)

चंदन०—(आप ही आप) अब तुमको सब कहना फबता है।

(नेपथ्य में) हटो हटो—

चाणक्य—शारंगरव! यह क्या कोलाहल है, देखो तो?

शिष्य—जो आज्ञा। (बाहर जाकर फिर आकर) महाराज राजा चंद्रगुप्त की आज्ञा से राजद्वेषी जीवसिद्धि क्षपणक निरादर-पूर्वक नगर से निकाला जाता है। ३५८

चाणक्य—क्षपणक! आहा! हा! अथवा राजविरोध का फल भोगे। सुनो, चंदनदास! देखो, राजा अपने द्वेषियों को कैसा कड़ा दंड देता है। मैं तुम्हारे भले की कहता हूँ। सुनो और राक्षस का कुटुंब देकर जन्म भर राजा की कृपा से सुख भोगो।

चंदन०—महाराज! मेरे घर राक्षस मंत्री का कुटुंब नहीं है।

(नेपथ्य में कलकल होता है)

चाणक्य—शारंगरव! देख तो, यह क्या कलकल होता है।

शिष्य—जो आज्ञा (बाहर जाकर फिर आता है) महाराज! राजा-की आज्ञा से राजद्वेषी शकटदास कायस्थ को सूली देने ले जाते हैं। ३६७

चाणक्य—राजविरोध का फल भोगे। देखो, सेठजी! राजा अपने विरोधियों को कैसा कड़ा दंड देता है! इससे राक्षस का कुटुंब छिपाना वह कभी न सहेगा। इससे उसका कुटुंब देकर तुमको अपना प्राण और कुटुंब बचाना हो तो बचाओ।

चंदन०—महाराज! क्या आप मुझे डर दिखाते हैं? मेरे यहां अमात्य राक्षस का कुटुंब हई नहीं है, पर जो होता तो भी मैं न देता।

चाणक्य—क्या, चंदनदास! तुमने यही निश्चय किया है? ३७९

चंदन०—हां! मैंने यही दृढ़ निश्चय किया है।

चाणक्य—(आप ही आप) वाह! चंदनदास! वाह! क्यों न हो!

दूजे के हित प्रान दै करै धर्म प्रतिपाल।
को ऐसो शिवि के बिना दूजो है या काल?।

(प्रकाश) क्या, चंदनदास! तुम ने यही निश्चय किया है।

चंदन—हां! हां! मैं ने यही निश्चय किया है।

चाणक्य—(क्रोध से) दुरात्मा दुष्ट बनिया! देख, राजकोप का कैसा फल पाता है!

चंदन०—(बाँह फैलाकर) मैं प्रस्तुत हूं, आप जो चाहिए अभी दंड दीजिए। ३८५

चाणक्य—(क्रोध से) शारंगरव! कालपाशिक, दंडपाशिक से मेरी आज्ञा कहो कि अभी इस दुष्ट बनिये को दंड दें। नहीं ठहरो, दुर्गपाल और विजयपाल से कहो कि इसके घर का सारा धन ले लें और इसको कुटुंब-समेत पकड़कर बाँध रखें, तब तक मैं चंद्रगुप्त से कहूँ। वह आप ही इसके सर्वस्व और प्राण के हरण की आज्ञा देगा।

शिष्य—जो आज्ञा, महाराज! सेठजी! इधर आइए।

चंदन०—लीजिए, महाराज ! यह मैं चला। (उठकर चलता है) (आपही आप) अहा ! मैं धन्य हूं कि मित्र के हेतु मेरे प्राण जाते हैं ! अपने हेतु तो सभी मरते हैं।

[दोनों बाहर जाते हैं]

चाणक्य—(हर्ष से) अब ले लिया है राक्षस को, क्योंकि-

जिमि इन तृन सम प्रान तजि कियो मित्र को त्रान।

तिमि सोऊ निज मित्र अरु कुल रखिहै दै प्रान॥

(नेपथ्य में कलकल)

चाणक्य—शारगरव !

शिष्य—(आकर) आज्ञा, गुरुजी ! ४००

चा०—देख तो यह कैसी भीड़ है ?

शि०—(बाहर जाकर फिर आश्चर्य से आकर) महाराज ! शकटदास को सूली पर से उतारकर सिद्धार्थक लेकर भाग गया।

चा०--(आपही आप) वाह सिद्धार्थक ! काम का अभारं तो किया (प्रकाश) हैं ! क्या ले गया ? (क्रोध से) बेटा ! दौड़कर भागुरायण से कहो कि उसको पकड़े।

शि०--(बाहर जाकर आता है और विषाद से) गुरुजी ! भागुरायण तो पहले ही से कहीं भाग गया है।

चा०—(आप ही आप) निज काज साधने के लिए जाय। (क्रोध से प्रकाश) भद्रभट, पुरुषदत्त, हिंगुरात, बलगुप्त, राजसेन, रोहिताक्ष और विजयवर्मा से कहो कि दुष्ट भागुरायण को पकड़ें। ४१२

शि०—जो आज्ञा (बाहर जाकर फिर आकर विषाद से) महाराज ! बड़े दुःख की बात है कि सब बेड़े का बेड़ा हलचल हो रहा है। भद्रभट इत्यादि तो सब पिछली ही रात भाग गये।

चा०--(आप ही आप) सब काम सिद्ध करें (प्रकाश) बेटा, सोच मत करो ।

जे बात कछु जिय धारि भागे, भले सुख सों भागहीं ।
जे रहे तेहू जाहिं, तिनको सोच मोहि जिय कछु नहीं ॥
सत सेन हूँ सो अधिक साधिनि काज की जेहि जग कहै
सो नंदकुल की खननहारी बुद्धि नित मोमें रहै ॥ ४२१

(उठकर और आकाश की ओर देखकर) अभी भद्रभटादिकों को पकड़ता हूँ (आपही आप) दुरात्मा राक्षस ! अब मुझसे भागकर कहाँ जायगा ? देख—

एकाकी मद-गलित गज जिमि नर लावहिं बाँधि ।
चंद्रगुप्त के काज मैं तिमि तोहि धरिहौं साधि ॥

[सब जाते हैं—जवनिका गिरती है]

इति प्रथमांक

द्वितीय अंक

स्थान- राजपथ

[मदारी आता है]

मदारी—अललललललल ! नाग लाए, साँप लाए !

तंत्र युक्ति सब जानहीं मंडल रचहिं विचार ।
मंत्र रच्छही ते करहिं अहि-नृप को उपचार ॥

(आकाश में देखकर) महाराज ! क्या कहा ? 'तू कौन है ?' महाराज ! मैं जीर्णविष नाम सँपेरा हूं । (फिर आकाश की ओर देखकर) क्या कहा कि 'मैं भी साँप का मंत्र जानता हूँ खेलूंगा' ? तो आप काम क्या करते हैं, यह तो कहिए ? (फिर आकाश की ओर देखकर) क्या कहा—'मैं राज-सेवक हूँ' ? तो आप तो साँप के साथ खेलते ही हैं । (फिर ऊपर देखकर) क्या कहा, 'कैसे ?' मंत्र और जड़ी बिना मदारी और आँकुस बिना मतवाले हाथी का हाथीवान, वैसे ही नये अधिकार के संग्राम-विजयी राजा के सेवक, ये तीनों अवश्य नष्ट होते हैं । (ऊपर देखकर) यह देखते देखते कहां चला गया ? (फिर ऊपर देखकर) क्या महाराज ! पूछते हो कि 'इन पिटारियों में क्या है ?' इन पिटारियों में मेरी जीविका के सर्प हैं । (फिर ऊपर देखकर) क्या कहा कि 'मैं देखूंगा ?' वाह वाह महाराज ! देखिए देखिए, मेरी बोहनी हुई, कहिये इसी स्थान पर खोलूं ? परतु यह स्थान अच्छा नहीं है । यदि आपको देखने की इच्छा हो तो आप इस स्थान में आइए मैं दिखाऊं। (फिर आकाश की ओर देखकर) क्या कहा कि 'यह स्वामी राक्षस मंत्री का घर है, इसमें मैं घुसने न पाऊँगा ?' तो आप

जायँ, महाराज ! मैं तो अपनी जीविका के भाव से सभी के घर जाता आता हूँ। अरे ! क्या वह गया ? (चारों ओर देखकर) अहा ! बड़े आश्चर्य की बात है, जब मैं चाणक्य की रक्षा में चंद्रगुप्त को देखता हूँ तब समझता हूँ कि चंद्रगुप्त ही राज्य करेगा, पर जब राक्षस की रक्षा में मलयकेतु को देखता हूँ तब चंद्रगुप्त का राज गया सा दिखाई देता है। क्योंकि— २८

चाणक्य ने लै जदपि बाँधी बुद्धिरूपी डोर सों।
करि अचल लक्ष्मी मौर्यकुल में नीति के निज जोर सों॥

पै तदपि राक्षस चातुरी करि हाथ में ताकों करै।
गहि ताहि खींचत आपनी दिसि मोहिं यह जानी परै॥

सो इन दोनों परम नीतिचतुर मंत्रियों के विरोध में नंदकुल की लक्ष्मी संशय में पड़ी है।

दोऊ सचिव-विरोध सों जिमि बिच जुग गजराय।
हथिनी सी लक्ष्मी विचल इत उत झोंका खाय॥

तो चलूँ अब मंत्री राक्षस से मिलूँ।

[जवनिका उठती है और आसन पर बैठा राक्षस और पास प्रियंवदक नामक सेवक दिखाई देते हैं।]

राक्षस—(ऊपर देखकर आँखों में आँसू भरकर) हा ! बड़े कष्ट की बात है—

गुन, नीति, बल सों जीति अरि जिमि आपु जादवगन हयो। ४०
तिमि नंद को यह विपुल कुल विधि वाम सों सब नसि गयो॥
यहि सोच मैं मोहि दिवस अरु निसि नित्य जागत बीतहीं।
यह लखौ चित्र विचित्र मेरे भाग के बिनु भीतहीं॥

अथवा

बिनु भक्ति भूले, बिनहिं स्वारथ-हेतु हम यह पन लियो।
बिनु प्रान के भय, बिनु प्रतिष्ठा-लाभ सब अबलौं कियो॥
सब छाँड़िकै परदासता यहि हेतु नित प्रति हम करैं।
जो स्वर्ग में हूं स्वामि मम निज सत्रु हत लखि सुख भरैं॥

(आकाश की ओर देखकर दुःख से) हा! भगवती लक्ष्मी! तू बड़ी अगुणज्ञा है। क्योंकि—

निज तुच्छ सुख के हेतु तजि गुनरासि नंद नृपाल को। ५०
अब सूद्र में अनुरक्त ह्वै लपटी सुधा मनु व्याल कों॥
ज्यों मत्त गज के मरत मद की धार ता साथहि नसै।
त्यों नंद के साथहि नसी किन? निलज! अजहूँ जग बसै॥

अरे पापि

का जग में कुलवंत नृप जीवत रह्यौ न कोय?।
जो तू लपटी सूद्र सों नीच-गामिनी होय॥

अथवा

बारबधू-जन को अहै सहजहिं चपल सुभाव।
तजि कुलीन गुनियन करहिं ओछे जन सों चाव॥ ५८

तो हम भी अब तेरा आधार ही नाश किए देते हैं। (कुछ सोचकर) हम मित्रवर चंदनदास के घर अपना कुटुंब छोड़कर बाहर चले आए सो अच्छा ही किया। वहाँ के निवासी महाराज नंद में अनुरक्त हैं और हमारे सब उद्योगों में सहायक होते हैं, क्योंकि वे समझते हैं कि राक्षस कुसुमपुर के आक्र-

मए के बारे में उदासीन नहीं हैं। वहाँ विषादिक से चंद्रगुप्त के नाश करने को और सब प्रकार से शत्रु का दाँव घात व्यर्थ करने को बहुत सा धन देकर शकटदास को छोड़ ही दिया है। प्रति क्षण शत्रुओं का भेद लेने को और उनका उद्योग नाश करने को जीवसिद्धि इत्यादि सुहृद नियुक्त ही हैं। सो अब तो—

विषवृक्ष, अहिसुत, सिंहपोत समान जा दुखरास कों।
नृपनंद निज सुत जानि पाल्यो, सकुल निज असु नास कों॥ ७०
ता चंद्रगुप्तहिं बुद्धिसर मम तुरत मारि गिरायहै।
जो दुष्ट दैव न कवच बनिकै असह आड़े आयहै॥

[कंचुकी आता है]

कंचुकी—(आप ही आप)

नृपनंद काम-समान चानक-नीति-जर जरजर भयो।
पुनि धर्म सम नृपचंद्र, तिन तन पुरहु क्रम सों बढ़ि लयो॥
अवकास लहि तेहि लोभ राक्षस जदपि जीतन जायहै।
पै सिथिल बल भे नाहिं कोऊ बिधिहु सों जय पायहै।

(देखकर) यह मंत्री राक्षस है। (आगे बढ़कर) मंत्री! आपका कल्याण हो।

राक्षस—जाजलक ! प्रणाम करता हूँ। अरे प्रियंवदक ! आसन ला। ८१

प्रियंवदक—(आसन लाकर) यह आसन है, आप बैठें।

कंचुकी—(बैठकर) मंत्री ! कुमार मलयकेतु ने आपको यह कहा है कि "आपने बहुत दिनों से अपने शरीर का सब शृंगार छोड़ दिया है, इससे मुझे बड़ा दुःख होता है। यद्यपि आपको अपने स्वामी के गुण साहस नहीं भूलते और उनके वियोग

के दुःख में यह सब कुछ नहीं अच्छा लगता तथापि मेरे कहने से आप इनको पहिरें।" (आभरण दिखाता है) मंत्री ! ये आभरण कुमार ने अपने अंग से उतारकर भेजे हैं; आप इन्हें धारण करें। ९०

राक्षस--जाजलक ! कुमार से कह दो कि तुम्हारे गुणों के आगे मैं स्वामी के गण भूल गया। पर--

इन दुष्ट वैरिन सों दुखी निज अंग नाहिँ सँवारिहौं।
भूषन वसन सिंगार तब लौं हौं न तन कछु धारिहौं॥
जब लौं न सब रिपु नासि पाटलिपुत्र फेरि बसायहौं।
हे कुँवर ! तुमको राज दै सिर अचल छत्र फिरायहौं॥

कंचुकी--अमात्य ! आप जो न करो सो थोड़ा है, यह बात कौन कठिन है ? पर कुमार की यह पहली विनती तो मानने ही के योग्य है।

राक्षस--मुझे तो जैसी कुमार की आज्ञा माननीय है वैसी ही तुम्हारी भी; इससे मुझे कुमार की आज्ञा मानने में कोई विचार नहीं है। १०२

कंचुकी--(आभूषण पहिराता है) कल्याण हो महाराज ! मेरा काम पूरा हुआ।

राक्षस—मैं प्रणाम करता हूं।

कंचुकी—मुझको जो आज्ञा हुई थी सो मैंने पूरी की। (जाता है)

राक्षस—प्रियंवदक ! देख तो मेरे मिलने को द्वार पर कौन खड़ा है।

प्रियंवदक—जो आज्ञा। (आगे बढ़कर सँपेरे के पास आकर) आप कौन हैं ?

सँपेरा—मैं जीर्णविष नामक सँपेरा हूँ और राक्षस मंत्री के सामने मैं साँप खेलना चाहता हूँ। मेरी यही जीविका है। ११

प्रियंवदक—तो ठहरो, हम अमात्य से निवेदन कर लें। (राक्षस के पास जाकर) महाराज! एक सँपेरा है, वह आपको अपना करतब दिखलाया चाहता है।

राक्षस—(बांई आँख का फड़कना देखकर, आप ही आप) हैं, आज पहले ही साँप दिखाई पड़े। (प्रकाश) प्रियंवदक! मेरा साँप देखने को जी नहीं चाहता सो; इसे कुछ देकर विदा कर।

प्रियंवदक—जो आज्ञा। (सँपेरे के पास जाकर) लो, मंत्री तुम्हारा कौतुक बिना देखे ही तुम्हें यह देते हैं, जाओ। १२०

सँपेरा—मेरी ओर से यह विनती करो कि मैं केवल सँपेरा ही नहीं हूँ, किंतु भाषा का कवि भी हूं। इससे जो मंत्री जी मेरी कविता मेरे मुख से न सुना चाहें तो यह पत्र ही दे दो पढ़ लें (एक पत्र देता है)।

प्रियंवदक—(पत्र लेकर राक्षस के पास आकर) महाराज! वह सँपेरा कहता है कि मैं केवल सँपेरा ही नहीं हूं, भाषा का कवि भी हूँ; इससे जो मंत्रीजी मेरी कविता मेरे मुख से सुनना न चाहें तो यह पत्र ही दे दो पढ़ लें (पत्र देता है)।

राक्षस—(पत्र पढ़ता है)

सकल कुसुम-रस पान करि, मधुप रसिक सिरताज। १३०
जो मधु त्यागत ताहि लै-होत सबै जगकाज॥

(आप ही आप) अरे!! "मैं कुसुमपुर का वृत्तांत जाननेवाला आपका दूत हूँ" इस दोहे से यह ध्वनि निकलती है। अह! मैं तो कामों से ऐसा घबड़ा रहा हूँ कि अपने भेजे भेदिया लोगों को भी भूल गया। अब स्मरण आया, यह तो सँपेरा बना हुआ विराधगुप्त कुसुमपुर से आया है। (प्रकाश) प्रियंवदक! इसको बुलाओ, यह सुकवि है। मैं भी इसकी कविता सुना चाहता हूँ।

प्रियंवदक—जो आज्ञा (सँपेरे के पास जाकर) चलिए, मंत्रीजी आपको बुलाते हैं।

सँपेरा—(मंत्री के सामने जाकर और देखकर आप ही आप) अरे यही मंत्री राक्षस हैं? अहा! १४१

लै वाम बाहु-लताहि राखत कंठ सों खसि खसि परै।

तिमि धरे दच्छिन बाहु को हू गोद में बिच लै गिरै॥

जा बुद्धि के डर होय संकित नृप-हृदय कुच नहिं धरै।

अजहूँ न लक्ष्मी चंद्रगुप्तहिं गाढ़ आलिंगन करै॥

(प्रकाश) मंत्री की जय हो।

राक्षस—(देखकर) अरे विराध—(संकोच से बात उड़ाकर) प्रियंवदक! मैं जब तक सर्पों से अपना जी बहलाता हूँ—तबतक सबको लेकर तू बाहर ठहर।

प्रियंवदक—जो आज्ञा। (बाहर जाता है) १५०

राक्षस—मित्र विराधगुप्त! इस आसन पर बैठो।

विराधगुप्त—जो आज्ञा (बैठता है)।

राक्षस—(खेद के सहित निहारकर) हा! महाराज नंद के आश्रित लोगों की यह अवस्था! (रोता है)

विराधगुप्त—आप कुछ सोच न करें। कुछ ही दिनों में आपकी कृपा से शीघ्र ही वही अवस्था होगी।

राक्षस—मित्र विराधगुप्त! कहो, कुसुमपुर का वृत्तांत कहो।

विराधगुप्त—महाराज! कुसुमपुर का वृत्तांत बहुत लंबा चौड़ा है, इससे जहाँ से आज्ञा हो वहाँ से कहूँ।

राक्षस—मित्र! चंद्रगुप्त के नगर-प्रवेश के पीछे मेरे भेजे हुए विष देनेवाले लोगों ने क्या क्या किया यह सुना चाहता हूँ। १६१

विराधगुप्त—सुनिए, शक, यवन, किरात, कांबोज, पारस, वाह्नी-

कादिक देशों के चाणक्य के मित्र राजों की सहायता पाकर चंद्र-गुप्त और पर्वतेश्वर के वलरूपी समुद्र से कुसुमपुर चारों ओर से घिर गया।

राक्षस—(कृपाण खींचकर क्रोध से) हैं! मेरे जीते कौन कुसुमपुर घेर सकता है? प्रवीरक! प्रवीरक!

चढ़ौ लै सरैं धाइ घेरौ अटा कों।
धरौ द्वार पै कुंजरैं ज्यों घटा कों॥
कहौ जोधनै मृत्यु को जीति धावैं। १७०
चलैं संग भै छाड़िकै कीर्ति पावैं॥

विराधगुप्त—महाराज! इतनी शीघ्रता न कीजिए मेरी बात सुन लीजिए। मैं अतीत की बातें कह रहा हूँ।

राक्षस—क्या अतीत की बातें हैं? मैं ने जाना कि इस समय की घटना है। (शस्त्र छोड़कर आखों में आंसू भरकर) हा! देव नंद! राक्षस को तुम्हारी कृपा कैसे भूलेगी?

हैं जहँ झुंड खड़े गजमेघ के अज्ञा करौं तहँ राक्षस जायकै।
त्यों ये तुरंग अनेकन हैं, तिनहूँ के प्रवंधहि राखौ बनायकै॥
पैदल ये सब तेरे भरोसे हैं, काज करौ तिनको चित लायकै।
यों कहि एक हमैं तुम मानत हे—निज काज हजार बनायकै॥

विराधगुप्त—तब चारों ओर से कुसुमनगर के बहुत दिनों तक अवरोधित रहने से नगरवासी बेचारे भीतर ही भीतर घिरे घिरे घबड़ा गये। उनकी उदासी देखकर सुरंग के मार्ग से राजा सर्वार्थसिद्धि तपोवन में चला गया और स्वामी के विरह से आपके सब लोग शिथिल हो गए। जब चंद्रगुप्त की

विजयघोषणा के विरोध से पुरवासियों के भाव का अनुमान करके आप नंदराजा के उद्धारार्थ सुरंग से बाहर चले गए तब जिस विषकन्या को आपने चंद्रगुप्त के नाश हेतु भेजा था उससे तपस्वी पर्वतेश्वर मारा गया. १९०

राक्षस—अहा मित्र! देखो, कैसा आश्चर्य हुआ!

जो विषमयी नृप-चंद्र-वध-हित नारि राखी लायकै।
तासों हत्यो पर्वत उलटि चाणक्य बुद्धि उपायकै॥
जिमि करन शक्ति अमोघ अरजुन-हेतु धरी छिपायकै।
पै कृष्ण के मत सों घटोत्कच पै परी घहरायकै॥

विराधगुप्त—महाराज! समय की सब उलटी गति है। क्या कीजिएगा?

राक्षस—हां! तब क्या हुआ? १९७

विराधगुप्त—तब पिता का वध सुनकर कुमार मलयकेतु नगर से निकलकर चले गए और पर्वतेश्वर के भाई वैरोधक पर उन लोगों नें अपना विश्वास जमा लिया। तब उस दुष्ट चाणक्य नें चंद्रगुप्त का प्रवेशमुहूर्त्त प्रसिद्ध करके नगर के सब बढ़ई और लोहारों को बुलाकर एकत्र किया और उनसे कहा कि "महाराज के नंदभवन में गृहप्रवेश का मुहूर्त्त ज्योतिषियों ने आज ही आधी रात का दिया है, इससे बाहर से भीतर तक सब द्वारों को जाँच लो"। तब उससे बढ़ई लोहारों ने कहा कि "महाराज! चंद्रगुप्त का गृहप्रवेश जानकर दारुवर्म ने प्रथम द्वार तो पहले ही से सोने के तोरणों से शोभित कर रक्खा है। भीतर के द्वारों को हम लोग ठीक करते हैं।" यह सुनकर चाणक्य नें कहा कि "बिना कहे ही

दारुवर्म ने बड़ा काम किया इससे उसको चतुराई का पारितोषिक शीघ्र ही मिलेगा।" २११

राक्षस—(आश्चर्य से) चाणक्य प्रसन्न हों यह कैसी बात है ? इससे दारुवर्म का यत्न या तो उलटा होगा या निष्फल होगा, क्योंकि उसने बुद्धि-मोह से या राजभक्ति से बिना समय ही चाणक्य के जी में अनेक संदेह और विकल्प उत्पन्न कराए। हाँ, फिर ?

विराधगुप्त—फिर उस दुष्ट चाणक्य ने बुलाकर सबको सहेज दिया कि आज आधी रात को प्रवेश होगा—और उसी समय पर्वतेश्वर के भाई वैरोधक और चंद्रगुप्त को एक आसन पर बिठाकर पृथ्वी का आधा आधा भाग कर दिया। २२०

राक्षस—पर्वतेश्वर के भाई वैरोधक को आधा राज मिला क्या यह पहले ही उसने सुना दिया ?

विराधगुप्त—हाँ, तो इससे क्या हुआ ?

राक्षस—(आप ही आप) निश्चय यह ब्राह्मण बड़ा धूर्त है। कि इसने उस सीधे तपस्वी से इधर उधर की चार बातें बनाकर पर्वतेश्वर के मारने के अपयश-निवारण के हेतु यह उपाय सोचा। (प्रकाश) अच्छा कहो, तब ? २२७

विराधगुप्त—तब यह तो उसने पहले ही प्रकाशित कर दिया था कि आज रात को गृहप्रवेश होगा, फिर उसने वैरोधक का अभिषेक कराया और बड़े बड़े बहुमूल्य स्वच्छ मोतियों का उसको कवच पहिराया और अनेक रत्नों से जड़ा सुंदर मुकुट उसके सिर पर रक्खा और गले में अनेक सुगंध के फूलों की माला पहिराई, जिससे वह एक ऐसे बड़े राजा की भाँति हो गया कि जिन लोगों ने उसे सर्वदा देखा था वे भी न पहचान सके। फिर उस दुष्ट चाणक्य की आज्ञा से लोगों ने

उसे चंद्रगुप्त की चंद्रलेखा नाम की हथिनी पर बिठाकर, बहुत से मनुष्य साथ करके बड़ी शीघ्रता से नंदमंदिर में उसका प्रवेश कराया। जब वैरोधक मंदिर में घुसने लगा तब आपका भेजा दारुवर्म बढ़ई उसको चंद्रगुप्त समझकर उसके ऊपर गिराने को कल का बना अपना तोरण लेकर सावधान हो बैठा। इसके पीछे चंद्रगुप्त के अनुयायी राजा सब बाहर खड़े रह गए और जिस बर्बर को आपने चंद्रगुप्त के मारने के हेतु भेजा था वह भी अपनी सोने की छड़ी की गुप्ती, जिसमें एक छोटी कृपाण थी, लेकर वहाँ खड़ा हो गया। २४४

राक्षस—दोनों ने बेठिकाने काम किया। हाँ फिर ?

विराधगुप्त—तब उस हथिनी को मारकर बढ़ाया और उसके दौड़ चलने से कल के तोरण का लक्ष्य, जो चंद्रगुप्त के धोखे वैरोधक पर किया गया था, चूक गया और वहाँ बर्बर जो चंद्रगुप्त का आसरा देखता था वह बेचारा उसी कल के तोरण से मारा गया। जब दारुवर्म ने देखा कि लक्ष्य तो चूक गए, अब मारे जायँगे तब उसने उस कल की लोहे की कील से उस ऊँचे तोरण के स्थान ही पर से चंद्रगुप्त के धोखे तपस्वी वैरोधक को हथिनी ही पर मार डाला।

राक्षस—हाय ! दोनों बातें कैसे दुःख की हुईं कि चंद्रगुप्त तो काल से बच गया और दोनों बेचारे बर्बर और वैरोधक मारे गए। (आप ही आप) दैव ने इन दोनों को नहीं मारा हम लोगों को मारा। (प्रकाश) और वह दारुवर्म बढ़ई क्या हुआ ? २५८

विराधगुप्त—उसको वैरोधक के साथ के मनुष्यों ने मार डाला।

राक्षस—हाय ! बड़ा दुःख हुआ ! हाय ! प्यारे दारुवर्म का हम लोगों से वियोग हो गया। अच्छा ! उस वैद्य अभयदत्त ने

क्या किया ?

विराधगुप्त—महाराज ! सब कुछ किया।

राक्षस—(हर्ष से) क्या चंद्रगुप्त मारा गया ?

विराधगुप्त—दैव ने न मरने दिया।

राक्षस—(शोक से) तब क्या फूलकर कहते हो कि सब कुछ किया।

विराधगुप्त—उसने औषध में विष मिलाकर चंद्रगुप्त को दिया पर चाणक्य ने उसको देख लिया और सोने के बरतन में रखकर उसका रंग पलटा जानकर चंद्रगुप्त से कह दिया कि इस औषध में विष मिला है, इसको न पीना। २७१

राक्षस—अरे वह ब्राह्मण बड़ा ही दुष्ट है। हाँ, तो वह वैद्य क्या हुआ ?

विराधगुप्त—उस वैद्य को वही औषध पिलाकर मार डाला।

राक्षस—(शोक से) हाय हाय ! बड़ा गुणी मारा गया ! भला शयनघर के प्रबंध करनेवाले प्रमोदक ने क्या किया ?

विराधगुप्त—उसने सब चौका लगाया।

राक्षस—(घबड़ाकर) क्यों ?

विराधगुप्त—उस मूर्ख को जो आपके यहाँ से व्यय को धन मिला सो उसने अपना बड़ा ठाट बाट फैलाया। यह देखते ही चाणक्य चौकन्ना हो गया और उससे अनेक प्रश्न किए। जब उसने उन प्रश्नों के उत्तर अंडबंड दिए तब उस पर पूरा संदेह करके दुष्ट चाणक्य ने उसको बुरी चाल से मार डाला। २८४

राक्षस—हा ! क्या दैव ने यहाँ भी उलटा हमी लोगों को मारा ! भला चद्रगुप्त का सोते समय मारने के हेतु जो राजभवन में वीभत्सकादिक वीर सुरंग में छिपा रक्खे थे उनका क्या हुआ ?

विराधगुप्त—महाराज ! कुछ न पूछिए।

राक्षस—(घबड़ाकर) क्या क्या ! क्या चाणक्य ने जान लिया ? २९०

विराधगुप्त—नहीं तो क्या ?

राक्षस—कैसे ?

विराधगुप्त—महाराज ! चंद्रगुप्त के सोने जाने के पहले ही वह दुष्ट चाणक्य उस घर में गया और उसको चारों ओर से देखा तो भीत की एक दरार से चिउँटियाँ चावल के कने लाती हैं। यह देखकर उस दुष्ट ने निश्चय कर लिया कि इस घर के भीतर मनुष्य छिपे हैं। बस, यह निश्चय कर उसने उस घर में आग लगवा दिया। धूएँ से घबड़ाकर निकल तो सके ही नहीं, इससे वे वीभत्सकादिक वहीं भीतर ही जलकर राख हो गए।

राक्षस—(सोच से) मित्र ! देख चंद्रगुप्त का भाग्य कि सबके सब मर गए। (चिंता सहित) अहा ! सखा ! देख इस दुष्ट चंद्रगुप्त का भाग्य ! ३०१

कन्या जो विष की गई ताहि हतन के काज।
तासों मारयो पर्वतक जाको आधो राज॥
सबै नसे कल बल सहित, जे पठए वध हेत।
उलटी मेरी नीति सब मौर्यहि को फल देत॥

विराधगुप्त—महाराज ! तब भी उद्योग नहीं छोड़ना चाहिए—

प्रारंभ ही नहिं विघ्न के भय अधम जन उद्यम सजैं।
पुनि करहिं तौ कोउ विघ्न सों डरि मध्य ही मध्यम तजैं॥
धरि लात विघ्न अनेक पै निरभय न उद्यम ते टरैं।
जे पुरुष उत्तम अंत मैं ते सिद्ध सब कारज करैं॥ ३१०

और भी—

का सेसहि नहिं भार ? पै धरती देत न डारि ।
कहा दिवसमनि नहिं थकत ? पै नहिं रुकत बिचारि ॥

सज्जन ताको हित करत, जेहि किय अंगीकार ।
यहै नेम सुकृतीन को, निज जिय करहु विचार ॥

राक्षस—मित्र ! यह क्या तू नहीं जानता कि मैं प्रारब्ध के भरोसे नहीं हूँ ? हाँ फिर ।

विराधगुप्त—तब से दुष्ट चाणक्य चंद्रगुप्त की रक्षा में चौकन्ना रहता है और इधर-उधर के अनेक उपाय सोचा करता है और पहिचान पहिचान के नंद के मंत्रियों को पकड़ता है ।

राक्षस—(घबड़ाकर) हां ! कहो तो, मित्र ! उसने किसे किसे पकड़ा है ? ३२१

विराधगुप्त—सब के पहले तो जीवसिद्धि क्षपणक को निरादर करके नगर से निकाल दिया ।

राक्षस—(आप ही आप) भला इतने तक तो कुछ चिंता नहीं क्योंकि वह जोगी हैं, उसका घर बिना जी न घबड़ायगा । (प्रकाश) मित्र ! उस पर अपराध क्या ठहराया ?

विराधगुप्त—कि इसी दुष्ट ने राक्षस की भेजी विषकन्या से पर्वतेश्वर को मार डाला ।

राक्षस—(आप ही आप) वाह रे कौटिल्य वाह ! क्यों न हो !

निज कलंक हम पै धरयो, हत्यो अर्ध बँटवार । ३३०
नीतिबीज तुव एक ही फल उपजवत हजार ॥

(प्रकाश) हां फिर ?

विराधगुप्त—फिर चंद्रगुप्त के नाश को इसने दारुवर्मादिक नियत किए थे यह दोष लगाकर शकटदास को सूली दे दी ।

राक्षस—(दुःख से) हा मित्र ! शकटदास ! तुम्हारी बड़ी अयोग्य मृत्यु हुई। अथवा स्वामी के हेतु तुम्हारे प्राण गए इससे कुछ शोच नहीं है। शोच हमीं लोगों का है कि स्वामी के मरने पर भी जीना चाहते हैं।

विराधगुप्त—मंत्री ! ऐसा न सोचिए, आप स्वामी का काम कीजिए। ३४०

राक्षस—मित्र !

केवल है यह शोक, जीव-लोभ अब लौं बचे।
स्वामि गयो परलोक पै कृतघ्न इतही रहे॥

विराधगुप्त—महाराज ! ऐसा नहीं ('केवल है यह' ऊपर का छंद फिर से पढ़ता है)।

राक्षस—मित्र ! कहो, और भी सैकड़ों मित्र का नाश सुनने को ये पापी कान उपस्थित हैं।

विराधगुप्त—यह सब सुनकर चंदनदास ने बड़े कष्ट से आपके कुटुंब को छिपाया।

राक्षस—मित्र ! उस दुष्ट चाणक्य के तो चंदनदास ने विरुद्ध ही किया। ३५०

विराधगुप्त—तो मित्र का बिगाड़ करना तो अनुचित ही था।

राक्षस—हां, फिर क्या हुआ ?

विराधगुप्त—तब चाणक्य ने आपके कुटुंब को चंदनदास से बहुत माँगा पर उसने नहीं दिया, इस पर उस दुष्ट ब्राह्मण ने—

राक्षस—(घबड़ाकर) क्या चंदनदास को मार डाला ?

विराधगुप्त—नहीं, मारा तो नहीं, पर स्त्री पुत्र धन समेत बाँधकर बंदीघर में भेज दिया।

राक्षस—तो ऐसा क्या सुखी हो कर कहते हो कि बंधन में भेज दिया ? अरे ! यह कहो कि मंत्री राक्षस को कुटुंब सहित बाँध रक्खा है। ३६०

[प्रियंवदक आता है]

प्रियंवदक--जय जय जय महाराज ! बाहर शकटदास खड़े हैं।

राक्षस—(आश्चर्य से) सच ही ?

प्रियंवदक—महाराज ! आपके सेवक कभी मिथ्या बोलते हैं ?

राक्षस—मित्र विराधगुप्त ! यह क्या ?

विराधगुप्त - महाराज ! होनहार जो बचाया चाहे तो कौन मार सकता है ?

राक्षस—प्रियंवदक ! अरे जो सच ही कहता है तो उनको झटपट लाता क्यों नहीं ?

प्रियंवदक—जो आज्ञा (जाता है)।

[सिद्धार्थक के संग शकटदास आता है]

शकटदास—(देखकर आप ही आप) ३७०

वह सूली गड़ी जो बड़ी दृढ़ कै,
सोई चंद्र को राज थिर्‌यो पन तें।
लपटी वह फाँस की डोर सोई
मनु श्री लपटी वृषलै मन तें ॥
बजी डौंड़ी निरादर की नृप नंद के,
सोऊ लख्यो इन आँखन तें।
नहिं जानि परै इतनोहू भए
केहि हेतु न प्रान कढ़े तन तें ॥

(राक्षस को देखकर) यह मंत्री राक्षस बैठे हैं। अहा !

नंद गए हू नहिं तजत प्रभुसेवा को स्वाद। ३८०
भूमि बैठि प्रगटत मनहुं स्वामिभक्त-मरजाद ॥

(पास जाकर) मंत्री की जय हो।

राक्षस—(देखकर आनंद से) मित्र शकटदास ! आओ मुझ से मिल लो, क्योंकि तुम दुष्ट चाणक्य के हाथ से बच के आए हो।

शकटदास—(मिलता है)।

राक्षस—(मिलकर) यहां बैठो।

शकटदास—जो आज्ञा (बैठता है)।

राक्षस—मित्र शकटदास ! कहो तो यह आनंद की बात कैसे हुई ?

शकटदास—(सिद्धार्थक को दिखाकर) इस प्यारे सिद्धार्थक ने सूली देनेवाले लोगों को हटाकर मुझको बचाया। ३६०

राक्षस—(आनंद से) वाह सिद्धार्थक ! तुमने काम तो अमूल्य किया है, पर भला ! तब भी यह जो कुछ है सो लो (अपने अंग से आभरण उतारकर देता है)।

सिद्धार्थक—(लेकर आपही आप) चाणक्य के कहने से मैं सब करूंगा। (पैर पर गिरके प्रकाश) महाराज ! यहां मैं पहले पहल आया हूं इससे मुझे यहां कोई नहीं जानता कि मैं उसके पास इन भूषणों को छोड़ जाऊं, इससे आप इसी अँगूठी से इस पर मोहर करके इसको अपने ही पास रक्खें, मुझे जब काम होगा ले जाऊंगा।

राक्षस—क्या हुआ। अच्छा शकटदास ! जो यह कहता है वह करो। ४०१

शकटदास—जो आज्ञा (मोहर पर राक्षस का नाम देखकर धीरे से) मित्र ! यह तो तुम्हारे नाम की मोहर है।

राक्षस—(देखकर बड़े शोच से आप ही आप) हाय! हाय ! इसके तो जब मैं नगर से निकला था तब ब्राह्मणी ने मेरे स्मरणार्थ ले लिया था। यह इसके हाथ कैसे लगी ? (प्रकाश) सिद्धार्थक तुमने यह कैसे पाई ?

सिद्धार्थक—महाराज ! कुसुमपुर में जो चंदनदास जौहरी है उनके द्वार पर पड़ी पाई । ४१०

राक्षस—तो ठीक है ।

सिद्धार्थक—महाराज ! ठीक क्या है ?

राक्षस—यही कि ऐसे धनिकों के घर बिना यह वस्तु और कहाँ मिले ?

शकटदास—मित्र ! यह मंत्री जी के नाम की मोहर है, इससे तुम इसको मंत्री को दे दो तो इसके बदले तुम्हें बहुत पुरस्कार मिलेगा ।

सिद्धार्थक—महाराज ! मेरे ऐसे भाग्य कहाँ कि आप इसे लें ।

(मोहर देता है)

राक्षस—मित्र शकटदास ! इसी मुद्रा से सब काम किया करो ।

शकटदास—जो आज्ञा ।

सिद्धार्थक—महाराज ! मैं कुछ विनती करूं ? ४२०

राक्षस—हां हां ! अवश्य करो ।

सिद्धार्थक—यह तो आप जानते ही हैं कि उस दुष्ट चाणक्य की बुराई करके फिर मैं पटने में घुस नहीं सकता, इससे कुछ दिन आप ही के चरणों की सेवा किया चाहता हूं ।

राक्षस—बहुत अच्छी बात है, हम लोग तो ऐसा चाहते ही थे । अच्छा है, यहीं रहो ।

सिद्धार्थक—(हाथ जोड़कर) बड़ी कृपा हुई ।

राक्षस—मित्र शटकदास ! लेजाओ इसको उतारो और सब भोजनादिक का ठीक करो ।

शकटदास—जो आज्ञा । ४३०

[सिद्धार्थक को लेकर जाता है]

राक्षस—मित्र विराधगुप्त ! अब तुम कुसुमपुर का वृत्तांत जो छूट

गया था सो कहो। वहां के निवासियों को मेरी बातें अच्छी लगती हैं कि नहीं?

विराधगुप्त—बहुत अच्छी लगती हैं, वरन वे सब तो आप ही के अनुयायी हैं।

राक्षस—ऐसा क्यों?

विराधगुप्त—इसका कारण यह है कि मलयकेतु के निकलने के पीछे चाणक्य को चंद्रगुप्त ने कुछ चिढ़ा दिया और चाणक्य ने भी उसकी बात न सहकर चंद्रगुप्त की आज्ञा भंग करके उसको दुःखी कर रक्खा है। यह मैं भली भाँति जानता हूँ। ४४०

राक्षस—(हर्ष से) मित्र विराधगुप्त! इसी सँपेरे के भेस से फिर कुसुमपुर जाओ और वहां मेरा मित्र स्तनकलस नामक कवि है उससे कह दो कि चाणक्य के आज्ञाभंगादिकों के कवित्त बना बना कर चंद्रगुप्त को बढ़ावा देता रहे और जो कुछ काम हो जाय वह करभक से कहला भेजें।

विराधगुप्त—जो आज्ञा (जाता है)।

[प्रियंवदक आता है]

प्रियंवदक—जय हो महाराज! शकटदास कहते हैं कि ये तीन आभरण बिकते हैं, इन्हें आप देखें।

राक्षस—(देखकर) अहा! ये तो बड़े मूल्य के गहने हैं। अच्छा शकटदास से कह दो कि दाम चुका कर ले लें। ४५०

प्रियंवदक—जो आज्ञा (जाता है)।

राक्षस—(आपही आप) तो अब हम भी चलकर करभक को कुसुमपुर भेजें (उठता है)। अहा! क्या उस मृतक चाणक्य से और चंद्रगुप्त से बिगाड़ हो जायगा? क्यों नहीं? क्योंकि सब कामों को सिद्ध ही देखता हूँ—

चंद्रगुप्त निज तेज वल करत सबन को राज।
तेहि समझत चाणक्य यह मेरो दियो समाज॥
अपनो अपनो करि चुके काज रह्यो कछु जौन।
अब जौ आपुस में लड़ैं तौ वड़ अचरज कौन ?॥ ४५६

[जाता है]

इति द्वितीयांक

तृतीय अंक

स्थान—राजभवन की अटारी

[कंचुकी आता है]

कंचुकी—

हे रूप आदिक विषय जो राखे हिये बहु लोभ सों।

सो मिटे इंद्रीगन सहित ह्वै सिथिल अतिही छोभ सों॥

मानत कहो कोउ नाहिं, सब अँग अंग ढीले ह्वै गए।

तौहू न तृष्णे! क्यों तजति तू मोहि बूढोहू भए?॥

(आकाश की ओर देखकर) अरे! अरे! सुगांगप्रासाद के लोगो! सुनो! महाराज चंद्रगुप्त ने तुम लोगों को यह आज्ञा दी है कि 'कौमुदी महोत्सव के होने से परम शोभित कुसुमपुर को मैं देखना चाहता हूँ'। इससे उस अटारी को बिछौने इत्यादि से सज रक्खो। देर क्यों करते हो? (आकाश की ओर देखकर) क्या कहा कि 'क्या महाराज चंद्रगुप्त नहीं जानते कि कौमुदी महोत्सव अबकी न होगा।'? दुर दईमारो! क्या मरने को लगे हो? शीघ्रता करो।

बहु फूल की माल लपेटि कै खंभन धूप-सुगंध सों ताहि धुपाइए।

तापैं चहूं दिसि चंद छपा से सुसोभित चौंर घने लटकाइए

भार सों चारु सिंहासन के मुरछा में धरा परी धेनु सी पाइए।

छींटिकै तापैं गुलाब मिल्यौ जल चंदन ता कहँ जाइ जगाइए

(आकाश की ओर देखकर) क्या कहते हो कि 'हम लोग अपने काम में लग रहे हैं।'? अच्छा अच्छा! झटपट सब सिद्ध करो, देखो! वह महाराज चंद्रगुप्त आ पहुँचे।

वहु दिन श्रम करि नंद नृप वह्यो राज-धुर जौन ॥ २०
बालेपने ही में लियौ चंद सीस निज तौन ॥
डिगत न नेकहु विषम पथ, दृढ़प्रतिज्ञ, दृढ़गात ॥
गिरन चहत, सँभरत वहुरि, नेकु न जिय घबरात ॥

(नेपथ्य में) इधर महाराज ! इधर ।

[राजा और प्रतिहारी आते हैं]

राजा—(आपही आप) राजा उसीका नाम है जिसमें अपनी आज्ञा चले। दूसरे के भरोसे राज करना भी एक बोझा ढोना है, क्योंकि—

जो दूजे को हित करै तौ खोवै निज काज ।
जौ खोयो निज काज तौ कौन बात को राज ? ॥
दूजे ही को हित करै तौ वह परवस मूढ़ ।
कठपुतरी सो स्वाद कछु पावै कबहुँ न कूढ़ ॥ ३०

और राज्य पाकर भी इस दुष्ट राजलक्ष्मी को सँभालना बहुत कठिन है, क्योंकि,

क्रूर सदा भाखति पियहि, चंचल सहज सुभाव ।
नर-गुन औगुन नहिं लखति, सज्जन-खल सम भाव ॥
डरति सूर सों, भीरु कहँ गनति न कछु रतिहीन ।
वारनारि अरु लच्छमी कहौ कौन बस कीन ? ॥

यद्यपि गुरु ने कहा है कि 'तू झूठी कलह करके कुछ समय तक स्वतंत्र होकर अपना प्रबंध आप कर लें' पर यह तो बड़ा पाप सा है। अथवा गुरुजी के उपदेश पर चलने से हम लोग तो सदा ही स्वतंत्र हैं। ४०

जब लौं बिगारै काज नहिं तव लौं न गुरु कछु तेहि कहै !
पै शिष्य जाइ कुराह तौ गुरु सीस अंकुस ह्वै रहै ॥
तासों सदा गुरु-वाक्य-वस हम नित्य पर-आधीन हैं।
निर्लोभ गुरु से संतजन ही जगत में स्वाधीन हैं॥

(प्रकाश) अजी वैहीनर ! सुगांगप्रासाद का मार्ग दिखाओ।

कंचुकी--इधर आइए, महाराज ! इधर।

राजा—(आगे बढ़ता है।)

कंचुकी—महाराज ! सुगांगप्रासाद की यही सीढ़ी है।

राजा—(ऊपर चढ़कर दिशाओं को देखकर) अहा! शरद ऋतु की शोभा से सब दिशाएं कैसी सुंदर हो रही हैं! ६०

सरद विमल ऋतु सोहई निरमल नील अकास।
निसानाथ पूरन उदित सोलह कला प्रकास ॥
चारु चमेली वन रहीं महमह महँकि सुवास।
नदी-तीर फूले लखौ सेत सेत बहु कास ॥
कमल कुमोदिनि सरन में फूले सोभा देत।
भौंर वृंद जापैं लखौ गूंजि गूंजि रस लेत ॥
बसन चांदनी, चंद मुख, उडुगन मोतीमाल।
कासफूल मधु हास, यह सरद किधौं नव बाल ॥

(चारो ओर देखकर) कंचुकी। यह क्या? नगर में चंद्रिकोत्सव कहीं नहीं मालूम पड़ता? क्या तूने सब लोगों से ताकीद करके नहीं कहा था कि उत्सव हो? ६१

कंचुकी—महाराज सबसे ताकीद कर दी थी।

राजा—तो फिर क्यों नहीं हुआ ? क्या लोगों ने हमारी आज्ञा नहीं मानी ?

कंचुकी—(कान पर हाथ रखकर) राम राम ! भला नगर क्या, इस पृथिवी में ऐसा कौन है जो आपकी आज्ञा न माने ?

राजा—तो फिर चंद्रिकोत्सव क्यों नहीं हुआ ? देख न—

गज रथ बाजि सजे नहीं, बँधी न बंदनवार ।
तने वितान न कहुँ नगर, रंजित कहूँ न द्वार ॥
नर नारी डोलत न कहुँ फूलमाल गर डार । ७०
नृत्य-बाद-धुनि गीत नहिं सुनियत श्रवन मँझार ॥

कंचुकी—महाराज ! ठीक है, ऐसा ही है ।

राजा—क्यों ऐसा ही है ?

कंचुकी—महाराज योंही है ।

राजा—स्पष्ट क्यों नहीं कहता ?

कंचुकी—महाराज चंद्रिकोत्सव बंद किया गया है ।

राजा—(क्रोध से) किसने बंद किया है ?

कंचुकी—(हाथ जोड़कर) महाराज यह ! मैं नहीं कह सकता ।

राजा—कहीं आर्य चाणक्य ने तो नहीं बंद किया ?

कंचुकी—महाराज ! और किसको अपने प्राणों से शत्रुता करनी थी ?

राजा—(अत्यंत क्रोध से) अच्छा अब हम बैठेंगे । ८१

कंचुकी—महाराज ! यह सिंहासन है, विराजिए ।

राजा—(बैठकर क्रोध से) अच्छा कंचुकी ! आर्य चाणक्य से कह कि "महाराज आपको देखा चाहते हैं ।"

कंचुकी—जो आज्ञा (बाहर जाता है) ।

[एक ओर परदा उठता है और चाणक्य बैठा हुआ दिखाई पड़ता है]

चाणक्य—(आप ही आप) दुष्ट राक्षस हमारी बराबरी करता है। वह जानता है कि—

जिमि हम नृप-अपमान सों महा क्रोध उर धारि।
करी प्रतिज्ञा नंद-नृप-नासन की निरधारि॥
सो नृप नंद हि पुत्र सह नासि करी हम पूर्ण। ९०
चंद्रगुप्त राजा कियो करि राक्षस-मद चूर्ण॥
तिमि सोऊ मोहि नीति-बल छलन चहत हति चंद।
पै मो आछत यह जतन वृथा तासु अति मंद॥

(ऊपर देखकर क्रोध से) अरे राक्षस! छोड़ छोड़, यह व्यर्थ का श्रम; देख—

जिमि नृप नंदहि मारि कै वृषलहि दीनो राज।
आइ नगर चाणक्य किय दुष्ट सर्प सो काज॥
तिमि सोऊ नृप चंद्र को चाहत करन बिगार।
निज लघु मति लाघ्यौ चहत मो बल-बुद्धि-पहार॥

(आकाश की ओर देखकर) अरे राक्षस! मेरा पीछा छोड़। क्योंकि— १०१

राज काज मंत्री चतुर करत बिना अभिमान।
जैसो तुव नृप नंद हो चंद्र न तौन समान॥
तुम कछु नहिं चाणक्य, जो साजौ कठिनहु काज।
तासों हम सों बैर करि नहिं सरिहै तुव राज॥

अथवा इसमें तो मुझे कुछ सोचना ही न चाहिए। क्योंकि—

मम भागुरायन आदि भृत्यन मलय राख्यौ घेरिकै ।
तिमि गए सिद्धारथक ऐहैं तेउ काज निवेरिकै ॥
अब लखहु करि छल-कलह नृप सों भेद बुद्धि उपाइकै ।
पर्वत जनन सों हम बिगारत राक्षसहिं उलटाइकै । ११०

कंचुकी—(प्रवेश कर) हा ! सेवा बड़ी कठिन होती है ।

नृप सों, सचिव सों, सब मुसाहेब गनन सों डरते रहौ ।
पुनि विटहु जे अति पास के तिनको कह्यो करते रहौ ॥
मुख लखत बीतत दिवस निसि, भय रहत संकित प्रान है ।
निज-उदर-पूरन-हेतु सेवा-वृत्ति श्वान समान है ॥

[चारों ओर घूमकर, देखकर]

अहा ! यही आर्य चाणक्य का घर है । तो चलूं (कुछ आगे बढ़कर और देखकर) ।

अहा हा ! यह राजाधिराज श्रीमंत्रीजी के घर की संपत्ति है—

कहुँ परे गोमय शुष्क, कहुँ सिल परी सोभा दै रही ।
कहुँ तिल, कहूँ जव-रासि लागी बटुन जो भिच्छा लही ॥१२०
कहुँ कुस परे, कहुँ समिध सूखत भार सों ताके नयो ।
यह लखौ छप्पर महा जरजर होइ कैसो झुकि गयो ॥

महाराज चंद्रगुप्त को बड़े भाग्य से ऐसा मंत्री मिला है—

विन गुनहूं के नृपन कों धन हित गुरुजन धाइ ।
सूखो मुख करि झूठहीं बहु गुन कहहिं बनाइ ॥
पै जिनको तृष्णा नहीं ते न लबार समान ।
तिनसों तृन सम धनिक जन पावत कबहुँ न मान ॥

(देखकर डर से) अरे! आर्य चाणक्य यहां बैठे हैं, जिन्होंने-

लोक धरषि चंद्रहि कियो राजा, नंद गिराइ।

होत प्रात रवि के कढ़त जिमि ससि-तेज नसाइ॥ १३०

(प्रगट दंडवत करके) जय हो! आर्य की जय हो!!

चाणक्य—(देखकर) कौन है? वैहीनर! क्यों आया है?

कंचुकी—आर्य! अनेक राजगणों के मुकुट-माणिक्य से सर्वदा जिनके पदतल लाल रहते हैं उन महाराज चंद्रगुप्त ने आपके चरणों में दंडवत करके निवेदन किया है कि 'यदि आपके किसी कार्य में विघ्न न पड़े तो मैं आपका दर्शन किया चाहता हूँ।'

चाणक्य—वैहीनर! क्या वृषल मुझे देखा चाहता है? क्या मैंने कौमुदीमहोत्सव का प्रतिषेध कर दिया है, यह वृषल नहीं जानता?

कंचुकी—आर्य क्यों नहीं? १४०

चाणक्य—(क्रोध से) हैं! किसने कहा बोल तो।

कंचुकी—(भय से) महाराज प्रसन्न हों? जब सुगांगप्रासाद की अटारी पर गए थे तब देखकर महाराज ने आपही जान लिया कि कौमुदीमहोत्सव अब की नहीं हुआ।

चाणक्य—अरे ठहर, मैंने जाना, यह तुम्हीं लोगों ने वृषल का जी मेरी ओर से फेरकर उसे चिढ़ा दिया है। और क्या?

कंचुकी—(भय से नीचा मुँह करके चुप रह जाता है।)

चाणक्य—अरे! राज के कारबारियों का चाणक्य के ऊपर बड़ा ही विद्वेष पक्षपात है। अच्छा वृषल कहाँ है, बता।

कंचुकी—(डरता हुआ) आर्य सुगांगप्रासाद की अटारी पर से महाराज ने मुझे आपके चरणों में भेजा है। १५१

चाणक्य—(उठकर) कंचुकी! सुगांगप्रासाद का मार्ग बता।

कंचुकी—इधर महाराज। (दोनों घूमते हैं)

कंचुकी—महाराज! यह सुगांगप्रासाद की सीढ़ियां हैं। धीरे धीरे चढ़ें।

[दोनों सुगांगप्रासाद पर चढ़ते हैं और चाणक्य के घर का परदा गिरकर छिप जाता है।]

चाणक्य—(चढ़कर और चंद्रगुप्त को देखकर प्रसन्नता से) अहा! वृषल सिंहासन पर बैठा है—

हीन नंद सों रहित नृप चंद्र करत जेहि भोग।
परम होत संतोष लखि आसन राजा जोग॥

(पास जाकर) जय हो वृषल की! १६०

चंद्रगुप्त—(उठकर और पैरों पर गिरकर) आर्य! चंद्रगुप्त दंडवत करता है।

चाणक्य—(हाथ पकड़कर उठाकर) उठो बेटा! उठो।

जहँ लौं हिमालय के सिखर सुरधुनी-कन सीतल रहैं।
जहँ लौं विविध-मणिखंड-मंडित समुद दच्छिन दिसि वहैं॥
तहँ लौं सबै नृप आइ भय सों तोड़ि सीस झुकावहीं।
तिनके मुकुट-मणि-रँगे तुव पद निरखि हम सुख पावहीं॥

चंद्रगुप्त—आर्य! आपकी कृपा से ऐसा ही हो रहा है। बैठिए।

(दोनों यथा स्थान बैठते हैं)

चाणक्य—वृषल! कहो, मुझे क्यों बुलाया है।

चंद्रगुप्त—आर्य के दर्शन से कृतार्थ होने को। १७०

चाणक्य—(हँसकर) भया, बहुत शिष्टाचार हुआ। अब बताओ, क्यों बुलाया है, क्योंकि राजा लोग किसी कर्मचारी को बेकाम नहीं बुलाते।

चन्द्रगुप्त—आर्य ! आपने कौमुदी-महोत्सव के न होने में क्या फल सोचा है ?

चाणक्य—(हँसकर) तो यही उलहना देने को बुलाया है, न ?

चंद्रगुप्त—उलहना देने को कभी नहीं।

चाणक्य— तो क्यों ?

चंद्रगुप्त—पूछने को।

चाणक्य—जब पूछना ही है तब तुमको इससे क्या ? शिष्य को सर्वदा गुरु की रुचि पर चलना चाहिए। १८१

चंद्रगुप्त—इसमें कोई संदेह नहीं, पर आपकी रुचि बिना प्रयोजन नहीं प्रवृत्त होती, इससे पूछा।

चाणक्य—ठीक है, तुमने मेरा आशय जान लिया। बिना प्रयोजन के चाणक्य की रुचि किसी ओर कभी फिरती ही नहीं।

चंद्रगुप्त—इसीसे तो सुने बिना मेरा जी अकुलाता है।

चाणक्य—सुनो, अर्थशास्त्रकारों ने तीन प्रकार के राज्य लिखे हैं—एक राजा के भरोसे, दूसरा मंत्री के भरोसे, तीसरा राजा और मंत्री दोनों के भरोसे। सो तुम्हारा राज्य तो केवल सचिव के भरोसे है, फिर इन बातों के पूछने से क्या ? व्यर्थ मुँह दुखाना है। यह सब हम लोगों के भरोसे है, हम लोग जानें।

(राजा क्रोध से मुँह फेर लेता है)

(नेपथ्य में दो वैतालिक गाते हैं)

प्र० वै०

अहो यह शरद शंभु ह्वै आई। १८२

काँस-फूल फूले चहुँ दिसि तें सोइ मनु भस्म लगाई॥

चंद उदित सोइ सीस अभूषन सोभा लगति सुहाई।

तासों रंजित घन-पटली सोइ मनु गज-खाल बनाई॥

फूले कुसुम मुंडमाला सोइ सोहत अति धवलाई ।
राजहंस सोभा सोइ मानों हास-विभव दरसाई ॥
अहो यह शरद शंभु बनि आई ।

और भी

हरौ हरि-नैन तुम्हारी बाधा ।
सरद-अंत लखि सेस-अंक तें जगे जगत-सुभ-साधा ॥२००
कछु कछु खुले, मुँदे कछु सोभित आलस भरि अनियारे ।
अरुन कमल से मद के माते थिर भे, जदपि ढरारे ॥
सेस-सीस-मनि-चमक-चकौंधन तनिकहुँ नहिं सकुचाहीं ।
नींद-भरे श्रम जगे चुभत जे नित कमला-उर माहीं ॥
हरौ हरि-नैन तुम्हारी बाधा ।

दूसरा वै०—(कड़खे की चाल में)
अहो, जिन कों विधि सब जीव सों बढ़ि दीनो जग काज ।
अरे, दान-सलिल-वारे सदा जे जीतहिं गजराज ॥
अहो, झुक्यौ न जिनको मान ते नृपवर जग सिरताज ।
अरे, सहहिं न आज्ञा-भंग जिमि दंतपात मृगराज ॥२१०
अरे, केवल बहु गहना पहिरि राजा होय न कोय ।
अहो, जाकी नहिं आज्ञा टरै सो नृप तुम सम होय ॥

चाणक्य—(सुनकर आपही आप) भला पहले ने तो देवता-रूप शरद के वर्णन में आशीर्वाद दिया, पर इस दूसरे ने क्या कहा? (कुछ सोचकर) अरे जाना, यह सब राक्षस की करतूत है। अरे दुष्ट राक्षस ! क्या तू नहीं जानता कि अभी चाणक्य सो नहीं गया है ?

चंद्रगुप्त—अजी वैहीनर! इन दोनों गानेवालों को लाख लाख मोहर दिलवा दो।

वैहीनर—जो आज्ञा महाराज। (उठकर जाना चाहता है)

चाणक्य—(क्रोध से) वैहीनर ठहर, अभी मत जा। वृषल! कुपात्र को इतना क्यों देते हो?

चंद्रगुप्त—आप मुझे सब बातों में यों ही रोक दिया करते हैं, तब यह मेरा राज क्या है उलटा बंधन है।

चाणक्य—वृषल! जो राजा आप असमर्थ होते हैं उनमें इतनाही तो दोष है। इससे जो ऐसी इच्छा हो तो तुम अपने राज का प्रबंध आप कर लो।

चंद्रगुप्त—बहुत अच्छा, आज से मैंने सब काम सँभाला।

चाणक्य—इससे अच्छी और क्या बात है? तो मैं भी अपने अधिकार पर सावधान हूँ। २३०

चंद्रगुप्त—जब यही है तब पहले मैं पूछता हूँ कि कौमुदीमहोत्सव का निषेध क्यों किया गया।

चाणक्य—वृषल! मैं भी यह पूछता हूँ कि उसके होने का प्रयोजन क्या था।

चंद्रगुप्त—पहले तो मेरी आज्ञा का पालन।

चाणक्य पहला प्रयोजन यह है कि मैंने आपकी आज्ञा के अपालन के हेतु ही कौमुदी-महोत्सव का प्रतिषेध किया। क्योंकि

आइ चारहू सिंधु के छोरहु के भूपाल।
जो सासन सिर पैं धरैं जिमि फूलन की माल॥
तेहि हम जौ कछु टारहीं सोउ तुव हित-उपदेस। २४०
जासों तुमरो विनय गुन जग में बढ़ै, नरेस!॥

चंद्रगुप्त—और जो दूसरा प्रयोजन है, वह भी सुनूँ।

चाणक्य—वह भी कहता हूँ।

चंद्रगुप्त—कहिए।

चाणक्य—शोणोत्तरे ! अचलदत्त कायस्थ से कहो कि तुम्हारे पास जो भद्रभट इत्यादि का लेखपत्र है वह माँगा है।

प्रती०—जो आज्ञा (बाहर से पत्र लाकर देता है)।

चाणक्य—वृषल ! सुनो।

चंद्रगुप्त—मैं उधर ही कान लगाए हूँ। २४६

चाणक्य—(पढ़ता है) स्वस्ति परम प्रसिद्ध नाम महाराज श्री चंद्रगुप्त देव के साथी जो अब उनको छोड़कर कुमार मलयकेतु के आश्रित हुए हैं उनका यह प्रमाणपत्र है। पहला गजाध्यक्ष भद्रभट, अश्वाध्यक्ष पुरुषदत्त, महाप्रतिहार चंद्रभानु का भांजा हिंगुरात, महाराज के नातेदार महाराज बलगुप्त, महाराज के लड़कपन का सेवक राजसेन, सेनापति सिंहबलदत्त का छोटा भाई भागुरायण, सालव के राजा का पुत्र रोहिताक्ष और क्षत्रियों में सबसे प्रधान विजयवर्मा—(आप ही आप) ये हम सब लोग महाराज का काम सावधानी से साधते हैं (प्रकाश) यही इस पत्र में लिखा है। सुना ?

चंद्रगुप्त—आर्य ! मैं इन सबों के उदास होने का कारण सुनना चाहता हूँ। २६१

चाणक्य—वृषल ! सुनो : वे जो गजाध्यक्ष और अश्वाध्यक्ष थे वे रात दिन मद्य, स्त्री और जूए में डूबकर अपने काम से निरे बेसुध रहते थे, इससे मैंने उनसे अधिकार लेकर केवल निर्वाह के योग्य उनकी जीविका कर दी थी। इससे उदास होकर वे कुमार मलयकेतु के पास चले गए और वहाँ अपना अपना कार्य सुनाकर फिर उन्हीं पदों पर नियुक्त हुए हैं। हिंगुरात और बलगुप्त ऐसे लालची हैं कि कितना भी

दिया परंतु मारे लालच के कुमार मलयकेतु के पास इस लोभ से जा रहे कि वहाँ बहुत मिलेगा। राजसेन, जो आपका लड़कपन का सेवक था, उसने आपकी थोड़ी ही कृपा से हाथी, घोड़ा, घर और धन सब पाया। पर इस भय से भागकर मलयकेतु के पास चला गया कि यह सब छिन न जाय। वह जो, सिंहबलदत्त सेनापति का छोटा भाई, भागुरायण है उससे पर्वतक से बड़ी प्रीति थी सो उसने कुमार मलयकेतु से यह कहा कि "जैसे विश्वासघात करके चाणक्य ने तुम्हारे पिता को मार डाला वैसेही तुम्हें भी मार डालेगा इससे यहाँ से भाग चलो"। ऐसे ही बहकाकर उसने कुमार मलयकेतु को भगा दिया और जब आपके बैरी चंदनदासादिक को दंड हुआ तब मारे डर के मलयकेतु के पास जा रहा। उसने भी यह समझकर कि इसने मेरे प्राण बचाए हैं और मेरे पिता का परिचित भी है उसको कृतज्ञता से अपना अंतरंग मंत्री बनाया है। वे जो रोहिताक्ष और विजयवर्मा थे, वे ऐसे अभिमानी थे कि जब आप उनके नातेदारों का आदर करते थे तब वे कुढ़ते थे, इसीसे वे भी मलयकेतु के पास चले गए। बस यहीं उन लोगों की उदासी का कारण है

चंद्रगुप्त—आर्य जब इन सबके भागने का उद्यम जानते ही थे तो क्यों न रोक रखा? २८८

चाणक्य—ऐसा कर नहीं सके।

चंद्रगुप्त—क्या असमर्थ हो गए, वा कुछ उसमें भी प्रयोजन था?

चाणक्य—असमर्थ कैसे हो सकते हैं? उसमें भी कुछ प्रयोजनही था।

चंद्रगुप्त—आर्य! वह प्रयोजन मैं सुना चाहता हूँ।

चाणक्य—सुनो और भूल मत जाओ।

चंद्रगुप्त—आर्य ! मैं सुनता हुई हूँ. भूलूंगा भी नहीं। कहिए। २९५

चाणक्य—अब जो लोग उदास हो गए हैं या बिगड़ गए हैं उनके दो ही उपाय हैं-या तो फिर से उनपर अनुग्रह करें या उनको दंड द। भद्रभट और पुरुषदत्त से जो अधिकार ले लिया गया है तो अब उनपर अनुग्रह यही है कि फिर उनको उनका अधिकार दिया जाय। पर यह हो नहीं सकता, क्योंकि उनको मृगया मद्यपानादिक का जो व्यसन है उससे वे इस योग्य नहीं हैं कि हाथी घोड़ों को सँभालें और सब सेना की जड़ हाथी घोड़े ही हैं। वैसे ही हिंगुरात और बलगुप्त को कौन प्रसन्न कर सकता है ? क्योंकि उनको सब राज्य पाने से भी संतोष न होगा। राजसेन और भागुरायण तो धन और प्राण के डर से भागे हैं, वे तो प्रसन्न होई नहीं सकते। रोहिताक्ष तथा विजयवर्मा का तो कुछ पूछनाही नहीं है, क्योंकि वे तो और नातेदारों के मान से जलते हैं। उनका कितना भी मान करो, उन्हें थोड़ाही दिखलाता है। तो इसका क्या उपाय है ? यह तो अनुग्रह का वर्णन हुआ। अब दंड का सुनिए। यदि हम प्रधान पद पाकर इन सबों को जो बहुत दिनों से नंदकुल के सर्वदा शुभाकांक्षी और साथी रहे दंड देकर दुखी करें तो नंदकुल के साथियों का हम पर से विश्वास उठ जाय। इससे हमने इन्हें छोड़ ही देना योग्य समझा। सो इन्हीं सब हमारे भृत्यों को पक्षपाती बनाकर राक्षस के उपदेश से म्लेच्छराज की बड़ी सहायता पाकर, और अपने पिता के बध से क्रोधित होकर पर्वतक का पुत्र कुमार मलयकेतु हम लोगों से लड़ने को उद्यत हो रहा है। सो यह लड़ाई के उद्योग का समय है, उत्सव का समय नहीं। इससे गढ़ के संस्कार के समय कौमुदीमहोत्सव क्या होगा ? यही सोचकर उसका प्रतिषेध कर दिया। ३२०

चंद्रगुप्त—आर्य ! मुझे अभी इसमें बहुत कुछ पूछना है।

चाणक्य—भली भाँति पूछो, क्योंकि मुझे भी बहुत कुछ कहना है।

चंद्रगुप्त—यह पूछता हूँ—

चाणक्य—हां ! मैं भी कहता हूँ।

चंद्रगुप्त—कि हम लोगों के सब अनर्थों की जड़ मलयकेतु है। उसे आपने भागती समय क्यों नहीं पकड़ा ? ३२६

चाणक्य—वृषल ! मलयकेतु के भागने के समय भी दो ही उपाय थे--या तो मेल करते या दंड देते। जो मेल करते तो आधा राज देना पड़ता और जो दंड देते तो फिर यह हम लोगों की कृतघ्नता सब पर प्रसिद्ध हो जाती कि इन्हीं लोगों ने पर्वतक को भी मरवा डाला। आधा राज देकर जो अब मेल कर लें ता उस बेचारे पर्वतक के मारने का केवल पाप ही हाथ लगे इससे मलयकेतु को भागते समय छोड़ दिया।

चंद्रगुप्त—और भला राक्षस इसी नगर में रहता था उसका भी आपने कुछ न किया। इसका क्या उत्तर है ? ३३५

चाणक्य—सुनो, राक्षस अपने स्वामी की स्थिरभक्ति से और यहां बहुत दिन रहने से यहां के लोगों का और नंद के सब साथियों का विश्वासपात्र हो रहा है और उसका स्वभाव सब लोग जान गए हैं। उसमें बुद्धि और पौरुष भी है, वैसे ही उसके सहायक भी हैं और उसे कोषबल भी है। इससे जो वह यहाँ रहे तो भीतर के सब लोगों को फोड़कर उपद्रव करे और जो यहाँ से दूर रहे तो वह ऊपरी जोड़तोड़ लगावे पर उनके मिटाने में इतनी कठिनाई न हो, इससे उसके जाने के समय उपेक्षा कर दी गई।

चंद्रगुप्त—तो जब वह यहाँ था तभी उसको वश में क्यों नहीं कर लिया ? ३४५

चाणक्य—वश क्या कर लें ? अनेक उपायों से तो वह छाती में

गड़े काँटे की भाँति निकालकर दूर किया गया है। उसे दूर करने में और कुछ प्रयोजन ही था।

चंद्रगुप्त—तो बल से क्यों नहीं पकड़ रक्खा ?

चाणक्य—वह राक्षस ही है, उस पर जो बल किया जाता तो या वह आप मारा जाता या तुम्हारी सेना का नाश कर देता। दोनों ही प्रकार हानि थी, देखो—

हम खोवैं इक महत नर, जो वह पावै नास।
जो वह नासै सैन तुव, तौहू जिय अति त्रास॥
तासों कल बल करि बहुत अपने बस करि वाहि। ३५५
जिमि गज पकरैं सुघर तिमि बाँधैंगे हम ताहि॥

चंद्रगुप्त—मैं आपकी बात तो नहीं काट सकता, पर इससे तो मंत्री राक्षस ही बढ़ चढ़ के जान पड़ता है।

चाणक्य—(क्रोध से) 'आप नहीं' इतना क्यों छोड़ दिया ? ऐसा कभी नहीं है, उसने क्या किया है, कहो तो ?

चंद्रगुप्त—जो आप न जानते हों तो सुनिए कि वह महात्मा—

जदपि आपु जीती पुरी तदपि धारि कुसलात।
जब लौं जिय चाह्यौ रह्यौ धारि सीस पैं लात॥
डौंड़ी फेरन के समय निज बल जय प्रगटाय।
मेरे बल के लोग कों दीनों तुरत हराय॥ ३६५
मोहे परिजन रीति सों जाके सब बिनु त्रास।
पै मोपैं निज लोकहू आनहिं नहिं विस्वास॥

चाणक्य—(हँसकर) वृषल! राक्षस ने यह सब किया ?

चंद्रगुप्त—हाँ! हाँ! अमात्य राक्षस ने यह सब किया।

चाणक्य—तो हमने जाना कि जिस तरह नंद का नाश करके तुम राजा हुए, वैसे ही अब मलयकेतु राजा होगा। ३७१

चंद्रगुप्त—आर्य! यह उपालंभ आपको नहीं शोभा देता। करने वाला सब दूसरा है।

चाणक्य—रे कृतघ्न!

अतिहि क्रोध करि खोलिकै सिखा प्रतिज्ञा कीन।
सो सब देखत भुव करी नव-नृप-नंद-विहीन॥
घिरी स्वान अरु गीध सों भय-उपजावनिहारि।
जारि नंदहू नहिं भई सांत मसान-दवारि॥

चंद्रगुप्त—यह सब किसी दूसरे ने किया। ३८०

चाणक्य—किसने?

चंद्रगुप्त—नंदकुल के द्वेषी दैव ने।

चाणक्य—दैव तो मूर्ख लोग मानते हैं।

चंद्रगुप्त—और विद्वान् लोग भी यद्वा तद्वा करते हैं।

चाणक्य—(क्रोध नाट्य करके) अरे वृषल! क्या नौकर की तरह मुझ पर आज्ञा चलाता है?

बँधी सिखाहू खोलिवे चंचल भे पुनि हाथ।
(क्रोध से पृथ्वी पर पैर पटककर)
घोर प्रतिज्ञा पुनि चरन करन चहत कर साथ॥
नंद नसे सों निलज ह्वै तू फूल्यौ गरवाय।
सो अभिमान मिटायहौं तुरतहि तोहि गिराय॥

चंद्रगुप्त—(घबड़ाकर आप ही आप) अरे! क्या आर्य को सचमुच क्रोध आ गया! ३९१

फर फर फरकत अधर-पुट, भए नयन जुग लाल।
चढ़ी जाति भौंहैं कुटिल, स्वास तजत जिमि व्याल॥
मनहुँ अचानक रुद्र-दृग खुल्यौ त्रितिय दिखरात।
(आवेग सहित)
धरनी धान्यौ बिनु धँसे हा हा किमि पद-घात॥

चाणक्य—(नकली क्रोध रोककर) तो वृषल! इस कोरी बकवाद से क्या लाभ है? जो राक्षस चतुर है तो यह शस्त्र उसीको दे। (शस्त्र फेंककर और उठकर ऊपर देखते हुए आप ही आप) ह ह ह! राक्षस! यही तुमने चाणक्य को जीतने का उपाय किया। ४००

तुम जान्यो चाणक्य सों नृप चंदहि लरवाय।
सहजहि लैहैं राज हम निज बल बुद्धि उपाय॥
सो हम तुमही कहँ छलन कियो क्रोध परकास।
तुमरोई करिहै उलटि यह तुव भेद बिनास॥

[क्रोध प्रकट करता हुआ चला जाता है]

चंद्रगुप्त—आर्य वैहीनर! "चाणक्य का अनादर करके आज से चंद्रगुप्त सब काम काज आप ही सँभालेंगे," यह लोगों से कह दो।

कंचुकी—(आप ही आप) अरे! आज महाराज ने चाणक्य के पहले 'आर्य' शब्द नहीं कहा! क्यों? क्या सचमुच अधिकार छीन लिया? वा इसमें महाराज का क्या दोष है? ४१०

सचिव-दोष सों होत हैं नृपहु बुरे ततकाल।
हाथीवान-प्रमाद सों गज कहवावत व्याल॥

चंद्रगुप्त—क्यों जी ? क्या सोच रहे हो ?

कंचुकी—यही कि महाराज को 'महाराज' शब्द अब यथार्थ शोभा देता है।

चंद्रगुप्त—(आप ही आप) इन्हीं लोगों के धोखा खाने से आर्य का काम होगा। (प्रकट) शोणोत्तरे ! इस सूखी कलह से हमारा सिर दुखने लगा, इससे शयनगृह का मार्ग दिखलाओ।

प्रतिहारी—इधर आवें महाराज, इधर आवें।

चंद्रगुप्त—(उठकर चलता हुआ आप ही आप) ४२०

गुरु-आयसु छल सों कलह करिहू जीय डराय।
किमि नर गुरुजन सों लरहिं यहै सोच जिय, हाय ! ॥

[सब जाते हैं—जवनिका गिरती है]

इति तृतीयांक

चतुर्थ अंक

स्थान-मंत्री राक्षस के घर के बाहर का प्रांत

[करभक घबड़ाया हुआ आता है]

करभक—अहा हा हा ! अहा हा हा !

अतिसय दुरगम ठाम मैं, सत जोजन सों दूर ।
कौन जात हैं धाइ विनु प्रभु-निदेस भरपूर ॥

अब राक्षस मंत्री के घर चलूँ । (थका सा घूमकर) अरे कोई चौकीदार है ? स्वामी राक्षस मंत्री से जाकर कहो कि 'करभक काम पूरा करके पटने से दौड़ा आता है' ।

(दौवारिक आता है)

दौवारिक—अजी ! चिल्लाओ मत । स्वामी राक्षस मंत्री को राजकाज सोचते सोचते सिर में ऐसी बिथा हो गई है कि अबतक सोने के बिछौने से नहीं उठे, इससे एक घड़ी भर ठहरो । अवसर मिलता है तो मैं निवेदन किए देता हूँ । (परदा उठता है और सोने के बिछौने पर चिंता में भरा राक्षस और शकटदास दिखाई पड़ते हैं)

राक्षस—(आप ही आप)

कारज उलटो होत हैं कुटिल नीति के जोर ।
का कीजै, सोचत यही जागि होय है भोर ॥

और भी

आरंभ पहिले सोचि रचना वेश की करि लावहीं ।
इक बात मैं गर्भित बहुत फल गूढ़ भेद दिखावहीं ॥

कारन अकारन सोचि फैली क्रियन कों सकुचावहीं ।
जे करहिं नाटक वहुत दुख हम सरिस तेऊ पावहीं ॥

और भी वह दुष्ट ब्राह्मण चाणक्य—

दौवारिक—(प्रवेश कर) जय जय । २०

राक्षस—किसी भाँति मिलाया या पकड़ा जा सकता है ।

दौवारिक—अमात्य—

राक्षस—(बाँए नेत्र के फड़कने का अपशकुन देखकर आप ही आप) 'ब्राह्मण चाणक्य जय जय' और 'पकड़ा जा सकता है अमात्य' यह उलटी वात हुई और उसी समय असगुन भी हुआ । तो भी क्या हुआ ? उद्यम नहीं छोड़ेंगे (प्रकाश) भद्र ! क्या कहता है ?

दौवारिक—अमात्य ! पटने से करभक आया है सो आपसे मिला चाहता है ।

राक्षस—अभी लाओ । ३०

दौवारिक—जो आज्ञा (वाहर करभक के पास जाकर, उसको संग ले आकर) भद्र ! मंत्रीजी वह वैठे हैं, उधर जाओ । (जाता है)

करभक—(मंत्री को देखकर) जय हो, जय हो !

राक्षस—अजी करभक ! आओ आओ, अच्छे हो ? वैठो ।

करभक—जो आज्ञा (पृथ्वी पर वैठ जाता है) ।

राक्षस—(आप ही आप) अरे ! मैंने इसको किस काम का भेद लेने को भेजा था, यह कार्य के आधिक्य के कारण भूला जाता है (चिंता करता है) ।

वेंत हाथ में लेकर एक पुरुष आता है]

पुरुष—हटे रहना—वचे रहना—अजी दूर रहो—दूर रहो, क्या नहीं देखते ? ४०

नृप द्विजादि, जिन नरन को मंगल-रूप-प्रकास ।
ते न नीच मुखहू लखहिं; कैसो पास निवास ? ॥

(आकाश की ओर देखकर) अजी क्या कहा कि क्यों हटाते हो ? अमात्य राक्षस के सिर में पीड़ा सुनकर कुमार मलयकेतु उनको देखने को इधर ही आते हैं। (जाता है)

[भागुरायण और कंचुकी के साथ मलयकेतु आता है]

मलयकेतु—(लंबी साँस लेकर—आप ही आप) हा ! देखो, पिता के मरे आज दस महीने हुए और व्यर्थ वीरता का अभिमान करके अबतक हम लोगों ने कुछ भी नहीं किया, वरन् तर्पण करना भी छोड़ दिया। या क्या हुआ मैंने तो पहले यही प्रतिज्ञा ही की है कि— ५०

करवलय उर ताडत गिरे आँचरहु की सुधि नहिं परी ।
मिलि करहिं आरतनाद हाहा अलक खुलि रज सों भरी ॥
जो शोक सों भइ मातुगन की दशा सो उलटायहैं ।
करि रिपु-जुवतिगन की सोई गति पितहि तृप्ति करायहैं ॥

और भी

रन मरि पितु ढिग जात हम, बीरन की गति पाय ।
कै माता दृगजल धरत रिपु-जुवती मुख लाय ॥

(प्रकाश) अजी जाजले ! सब राजा लोगा से कहो कि मैं बिना कहे सुने राक्षस मंत्री के पास अकेले जाकर उनको प्रसन्न करूँगा इससे वे सब लोग उधर ही ठहरें। ६०

कंचुकी—जो आज्ञा। (घूमते घूमते नेपथ्य की ओर देखकर) अजी राजा लोग ! सुनो। कुमार की आज्ञा है कि मेरे साथ कोई न

चले। (देखकर आनंद से) महाराजकुमार! देखिए! आपकी आज्ञा सुनते ही सब राजा रुक गए—

अति चपल जे रथ चलत, ते सुनि चित्र से तुरतहि भए।

जे खुरन खोदत नभ-पथहि, ते बाजिगन झुकि रुकि गए॥

जे रहे धावत, ठिठकि ते गज मूक घंटा सह सधे।

मरजाद तुव नहिं तजहिं नृपगन जलधि से मानहुँ बँधे॥

मलयकेतु—अजी जाजले! तुम भी सब लोगों को लेकर जाओ। एक केवल भागुरायण मेरे संग रहे। ७०

कंचुकी—जो आज्ञा। (सबको लेकर जाता है।)

मलयकेतु—मित्र भागुरायण! जब मैं यहां आता था तो भद्रभट प्रभृति लोगों ने मुझ से निवेदन किया कि "हम राक्षस मंत्री के द्वारा कुमार के पास नहीं रहा चाहते, कुमार के सेनापति शिखरसेन के द्वारा रहेंगे। दुष्ट मंत्री ही के डर से तो चंद्रगुप्त को छोड़कर यहां सब बात का सुबीता जानकर हम लोगों ने कुमार का आश्रय लिया है।" सो उन लोगों की बात का मैंने आशय नहीं समझा।

भागुरायण—कुमार! यह तो ठीक ही है, क्योंकि अपने कल्याण के हेतु सब लोग स्वामी का आश्रय हित और प्रिय के द्वारा करते हैं।

मलयकेतु—मित्र भागुरायण! तो फिर राक्षस मंत्री तो हम लोगों का परम प्रिय और बड़ा हित है। ८२

भागुरायण—ठीक है, पर बात यह है कि अमात्य राक्षस का वैर चाणक्य से है, कुछ चंद्रगुप्त से नहीं है। इससे जो चाणक्य की बातों से रूठकर चंद्रगुप्त उससे मंत्री का काम ले ले और नंद-कुल की भक्ति से "यह नंद ही के वंश का है" यह सोचकर राक्षस चंद्रगुप्त से मिल जाय और चंद्रगुप्त भी अपने बड़े

लोगों का पुराना मंत्री समझकर उसको मिला ले, तो ऐसा न हो कि कुमार हम लोगों पर भी विश्वास न करें।

मलयकेतु—ठीक है, मित्र भागुरायण! राक्षस मंत्री का घर कहां है ?

भागुरायण—इधर कुमार, इधर (दोनों घूमते हैं) कुमार! यही राक्षस मंत्री का घर है, चलिए। ९२

मलयकेतु—चलें (दोनों भीतर जाते हैं)।

राक्षस—अहा! स्मरण आया; (प्रकाश) कहो जी! तुमने कुसुमपुर में स्तनकलस वैतालिक को देखा था ?

करभक—क्यों नहीं ?

मलयकेतु—मित्र भागुरायण! जब तक कुसुमपुर की बातें हों तब तक हम लोग इधर हीं ठहरकर सुनें कि क्या बात होती है। क्योंकि—

भेद न कछु जामैं खुलै याही भय सब ठौर। १००
नृप सों मंत्रीजन कहहिं बात और की और॥

भागुरायण—जो आज्ञा (दोनों ठहर जाते हैं)।

राक्षस—क्यों जी ? वह काम सिद्ध हुआ ?

करभक—अमात्य की कृपा से सब काम सिद्ध ही है।

मलयकेतु—मित्र भागुरायण! वह कौन सा काम है ?

भागुरायण—कुमार! मंत्री के जी की बातें बड़ी गुप्त हैं। कौन जाने ? इससे देखिए अभी सुन लेते हैं कि क्या कहते हैं।

राक्षस—अजी भली भाँति कहो।

करभक—सुनिए। जिस समय आपने आज्ञा दी कि करभक तुम जाकर वैतालिक स्तनकलस से कह दो कि जब जब चाणक्य चंद्रगुप्त की आज्ञा भंग करे तब तब तुम ऐसे श्लोक पढ़ो जिससे उसका जी और भी फिर जाय। ११२

राक्षस—हां, तब ?

करभक—तब मैंने पटने में जाकर स्तनकलस से आपका सँदेसा कह दिया।

राक्षस—तब ?

करभक—इसके पीछे नंदकुल के विनाश से दुखी लोगों का जी बहलाने के हेतु चंद्रगुप्त ने कुसुमपुर में कौमुदी-महोत्सव होने की डौंड़ी पिटा दी और उसको बहुत दिन से बिछुड़े हुए मित्रों के मिलाप की भाँति पुर के निवासियों ने बड़ी प्रसन्नता-पूर्वक स्नेह से मान लिया।

राक्षस—(आँसू भरकर) हा, देव नंद ! १२२

जदपि उदित कुमुदन सहित पाइ चाँदनी चंद।

तदपि न तुम बिन लसत हे नृपससि ! जगदानंद ॥

हाँ, फिर क्या हुआ ?

करभक—तब चाणक्य दुष्ट ने सब लोगों के नेत्र के परमानंददायक उस उत्सव को रोक दिया और उसी समय स्तनकलस ने ऐसे ऐसे श्लोक पढ़े कि राजा का भी मन फिर जाय।

राक्षस—कैसे श्लोक थे।

करभक—('जिन को विधि सब' पढ़ता है)।

राक्षस—वाह मित्र स्तनकलस ! वाह, क्यों न हो ! अच्छे समय में भेदबीज बोया है, फल अवश्य होगा। क्योंकि— १३२

नृप रूठैं अचरज कहा सकल लोग जा संग।

छोटे हू मानैं बुरो परे रंग में भंग ॥

मलयकेतु—ठीक है ('नृप रूठैं' यह दोहा फिर पढ़ता है)

राक्षस—हाँ, फिर क्या हुआ ?

करभक—तब आज्ञाभंग से रुष्ट होकर चंद्रगुप्त ने आपकी बड़ी प्रशसा की और दुष्ट चाणक्य से अधिकार ले लिया।

मलयकेतु—मित्र भागुरायण! देखो, प्रशंसा करके राक्षस में चंद्रगुप्त ने अपनी भक्ति दिखाई।

भागुरायण—गुण-प्रशंसा से बढ़कर चाणक्य का अधिकार लेने से।

राक्षस—क्यों जी, एक कौमुदीमहोत्सव के निषेध ही से चाणक्य चंद्रगुप्त में बिगाड़ हुआ कि कोई और कारण भी है? १४३

मलयकेतु—क्यों मित्र भागुरायण! अब और वैर में यह क्या फल निकालेंगे?

भागुरायण- यह फल निकाला है कि चाणक्य बड़ा बुद्धिमान् है, वह व्यर्थ चंद्रगुप्त को क्रोधित न करावेगा और चंद्रगुप्त भी उसकी बातें जानता है, वह भी विना बात चाणक्य का ऐसा अपमान न करेगा, इससे उन लोगों में बहुत झगड़े से जो बिगाड़ होगा तो पक्का होगा। १५०

करभक—आर्य! और भी कई कारण हैं।

राक्षस—कौन?

करभक—कि जब पहले यहां से राक्षस और कुमार मलयकेतु भागे तब उसने क्यों नहीं पकड़ा?

राक्षस—(हर्ष से) मित्र शकटदास! अब तो चंद्रगुप्त हाथ में आ जायगा।

शकटदास—अब चंदनदास छूटेगा, और आप कुटुंब से मिलेंगे वैसे ही जीवसिद्धि इत्यादि लोग क्लेश से छूटेंगे।

भागुरायण—(आप ही आप) हाँ, अवश्य जीवसिद्धि का क्लेश छूटा।

मलयकेतु—मित्र भागुरायण! 'अब मेरे हाथ चंद्रगुप्त आवेगा' इसमें इनका क्या अभिप्राय है? १६१

भागुरायण—और क्या होगा? यही होगा कि यह चाणक्य से छूटे चंद्रगुप्त के उद्धार का समय देखते हैं।

राक्षस—अजी, अब अधिकार छिन जाने पर वह ब्राह्मण कहाँ है?

करभक—अभी तो पटने ही में है।

राक्षस—(घवड़ाकर) हैं! अभी वहीं है? तपोवन नहीं चला गया? या फिर कोई प्रतिज्ञा नहीं की?

करभक—अब तपोवन जायगा, ऐसा सुनते हैं।

राक्षस—(घवड़ाकर) शकटदास, यह बात तो काम का नहीं।

देव नंद को नहिं सह्यो जिन भोजन-अपमान। १७०
सो निज कृत नृप चंद्र की बात न सहिहै, जान॥

मलयकेतु—मित्र भागुरायण! चाणक्य के तपोवन जाने वा फिर प्रतिज्ञा करने में कौन कार्यसिद्धि निकाली है?

भागुरायण—कुमार! यह तो कोई कठिन बात नहीं है। इसका आशय तो स्पष्ट ही है कि चंद्रगुप्त से जितनी दूर चाणक्य रहेगा उतनी ही कार्यसिद्धि होगी।

शकटदास—अमात्य! आप व्यर्थ सोच न करें, क्योंकि देखें—

सबहि भाँति अधिकार लहि अभिमानी नृप चंद।
नहिं सहिहैं अपमान अब राजा होइ स्वछंद॥
तिमि चाणक्यहु पाइ दुख एक प्रतिज्ञा पूरि।
अब दूजी करिहै न कछु निज उद्यम मद चूरि॥ १८०

राक्षस—ऐसा ही होगा। मित्र शकटदास! जाकर करभक को डेरा इत्यादि दो।

शकटदास—जो आज्ञा।

[करभक को लेकर जाता है]

राक्षस—इस समय कुमार से मिलने की इच्छा है।

मलयकेतु—(आगे बढ़कर) मैं आप ही से मिलने को आया हूँ।

राक्षस—(आसन से उठ कर) अरे कुमार! आप ही आ गए, आइए, इस आसन पर बैठिए।

मलयकेतु—मैं बैठता हूं, आप विराजिए।

[दोनों बैठते हैं]

मलयकेतु—इस समय सिर की पीड़ा कैसी है?

राक्षस—जब तक कुमार के बदले महाराज कहकर आपको नहीं पुकार सकते तब तक यह पीड़ा कैसे छूटैगी? १९२

मलयकेतु—आपने जो प्रतिज्ञा की है तो सब कुछ होईगा। परंतु सब सेना सामंत के होते भी अब आप किस बात का आसरा देखते हैं?

राक्षस किसी बात का नहीं, अब चढ़ाई कीजिए।

मलयकेतु—अमात्य! क्या इस समय शत्रु किसी संकट में है?

राक्षस—बड़े।

मलयकेतु—किस संकट में?

राक्षस—मंत्री संकट में। २००

मलयकेतु—मंत्री-संकट तो कोई संकट नहीं है।

राक्षस—और किसी राजा को न हो तो न हो, पर चंद्रगुप्त को तो अवश्य है।

मलयकेतु—आर्य! मेरी जान में चंद्रगुप्त को और भी नहीं है।

राक्षस—आपने कैसे जाना कि चंद्रगुप्त का मंत्री-संकट संकट नहीं है?

मलयकेतु—क्योंकि चंद्रगुप्त के लोग तो चाणक्य के कारण उससे उदास रहते हैं, जब चाणक्य ही न रहेगा तब उसके सब कामों को लोग और भी संतोष से करेंगे।

राक्षस—कुमार, ऐसा नहीं है। क्योंकि वहाँ दो प्रकार के लोग हैं—एक चंद्रगुप्त के साथी, दूसरे नंद-कुल के मित्र। उनमें जो चंद्रगुप्त के साथी हैं उनको चाणक्य ही से दुःख था कुछ नंदकुल

के मित्रों को नहीं, क्योंकि वे लोग तो यही सोचते हैं कि इसी कृतघ्न चंद्रगुप्त ने राज के लोभ से अपने पितृकुल का नाश किया है पर क्या करें उनका कोई आश्रय नहीं है इससे चंद्रगुप्त के आसरे पड़े हैं। जिस दिन आपको शत्रु के नाश में और अपने पक्ष के उद्धार में समर्थ देखेंगे उसी दिन चंद्रगुप्त को छोड़कर आप से मिल जायँगे। इसके उदाहरण हमी लोग हैं। २१७

मलयकेतु—आर्य ! चंद्रगुप्त पर चढ़ाई करने का एक यही कारण है कि कोई और भी है ?

राक्षस—और बहुत क्या होंगे। एक यही बड़ा भारी है।

मलयकेतु—क्यों आर्य। यही क्यों प्रधान है? क्या चंद्रगुप्त और मंत्रियों द्वारा या आप अपना काम करने में असमर्थ हैं ?

राक्षस—निरा असमर्थ है।

मलयकेतु—क्यों ?

राक्षस—यों कि जो स्वयं राज्य सँभालते हैं या जिनका राज राजा और मंत्री दोनों करते हैं वे राजा ऐसे हों तो हों; परंतु चंद्रगुप्त तो कदापि ऐसा नहीं है। चंद्रगुप्त एक तो दुरात्मा है, दूसरे वह तो सचिव ही के भरोसे सब काम करता है; इससे वह कुछ व्यवहार जानता ही नहीं तो फिर वह सब काम कैसे कर सकता है ? क्योंकि— २३०

लक्ष्मी करत निवास अति प्रबल सचिव-नृप पाय।
पै निज बाल-सुभाव सों इकहि तजत अकुलाय ॥

और भी।

जो नृप बालक सो रहत सदा सचिव की गोद।
बिनु कछु जग देखे सुने सो नहिं पावत मोद ॥

मलयकेतु—(आप ही आप) तो हम अच्छे हैं कि सचिव के अधिकार में नहीं (प्रकाश) अमात्य ! यद्यपि यह ठीक है तथापि जहां शत्रु के अनेक छिद्र हैं वहाँ एक इसी सिद्धि से सब काम न निकलेगा।

राक्षस—कुमार के सब काम इसीसे सिद्ध होंगे। देखिए,

चाणक्य को अधिकार छूट्यौ, चंद्र हैं राजा नए। २४०
पुर नंद में अनुरक्त, तुम निज वल-सहित चढ़ते भए ॥
जव आप हम [कहकर लज्जा से कुछ ठहर जाता है]
तुव वस सकल उद्यम सहित रन मति करी।
वह कौन सी नृप ! वात जो नहि सिद्धि ह्वैहै ता घरी ॥

मलयकेतु—अमात्य ! जो अब आप ऐसा लड़ाई का समय देखते हैं तो देर करके क्यों वैठे हैं ? देखिए—

इनको ऊँचो सीस है, वाको उच्च करार।
श्याम दोऊ, वह जल स्रवत, ये गंडन मधु-धार ॥
उतै भँवर को शब्द, इत भँवर करत गुंजार।
निज सम तेहि लखि नासिहैं दंतन तोरि कछार ॥ २५०
सीस सोन सिंदूर सों ते मतंग वलदाप।
सोन सहज ही सोखिहैं, निश्चय जानहु आप ॥
गरजि गरजि गंभीर रव, वरसि वरसि मधुधार।
शत्रु-नगर गज घेरिहैं, घन जिमि विविध पहार ॥
[शस्त्र उठाकर भागुरायण के साथ जाता है]

राक्षस—कोई है ?

[प्रियंवदक आता है]

प्रियंवदक—आज्ञा ?

राक्षस—देख तो द्वार पर कौन ज्योतिषी है ?

प्रियंवदक—जो आज्ञा (बाहर जाकर फिर आता है) अमात्य ! एक क्षपणक ।

राक्षस—(असगुन जानकर आप ही आप) पहले ही क्षपणक का दर्शन हुआ । २६१

प्रियंवदक—जीवसिद्धि है ।

राक्षस—अच्छा, बुलाकर ले आ ।

प्रियंवदक—जो आज्ञा । (जाता है)

[क्षपणक आता है]

पहले कटु परिणाम मधु, औषध सम उपदेश ।
मोह-व्याधि के वैद्य गुरु, तिनको सुनहु निदेश ॥

[पास जाकर] उपासक ! धर्म लाभ हो ।

राक्षस—ज्योतिषी जी, बताओ, अब हम लोग प्रस्थान किस दिन करें ?

क्षपणक—(कुछ सोचकर) उपासक ! मुहूर्त्त तो देखा । आज भद्रा तो पहर पहले ही छूट गई है और तिथि भी संपूर्ण चंद्रा पौर्णमासी है । आप लोगों को उत्तर से दक्षिण जाना है और नक्षत्र भी दक्षिण ही है । २७२

अथए सूरहि, चंद के उदए गमन प्रशस्त ।
पाइ लगन बुध केतु तौ उदयो हू भो अस्त ॥

राक्षस—अजी पहले तो तिथि नहीं शुद्ध है ।

क्षपणक—उपासक !

एक गुनी तिथि होत है, त्यौं चौगुन नक्षत्र ।
लगन होत चौंसठ गुनो यह भाखत सब पत्र ॥
लगन होत है शुभ लगन छोडि क्रूर ग्रह एक । २८९
जाहु चंद-बल देखिकै पावहु लाभ अनेक ॥

राक्षस—अजी, तुम और ज्योतिषियों से जाकर झगड़ो ।

क्षपणक—आप ही झगड़िए, मैं जाता हूँ ।

राक्षस—क्या आप रूस तो नहीं गए ?

क्षपणक—नहीं, तुमसे ज्योतिषी नहीं रूसा है ।

राक्षस—तो कौन रूसा है ?

क्षपणक—(आप ही आप) भगवान्, कि तुम अपना पक्ष छोड़कर शत्रु का पक्ष ले बैठै हो (जाता है) ।

राक्षस—प्रियंवदक ! देख तो कौन समय है ?

प्रियंवदक—जो आज्ञा । (बाहर से हो आता है) आर्य ! सूर्यास्त होता है । २९१

राक्षस—(आसन से उठकर और देखकर) अहा ! भगवान् सूर्य अस्ताचल को चले—

जब सूरज उदयो प्रबल तेज धारि आकास ।
तब उपवन तरुवर सबै छायानुत भे पास ॥
दूरि परे ते तरु सबै अस्त भए रवि-ताप ।
जिमि धन-बिनु स्वामिहि तजैं भृत्य स्वारथी आप ॥

(दोनों जाते हैं)

इति चतुर्थांक ।

पंचम अंक

[हाथ में मोहर की हुई गहने की पेटी और पत्र लेकर सिद्धार्थक आता है]

सिद्धार्थक—अहा हा !

देशकाल के कलश में सिंची बुद्धि-जल जौन ।
लता-नीति चाणक्य की बहु फल दैहैं तौन ॥

अमात्य राक्षस की मोहर का आर्य चाणक्य का लिखा हुआ यह लेख और मोहर की हुई यह आभूषण की पेटिका लेकर मैं पटने जाता हूँ। (नेपथ्य की ओर देखकर) अरे ! यह क्या क्षपणक आता है ? हाय हाय ! यह तो बुरा असगुन हुआ। तो मैं सूरज को देखकर इसका दोष छुड़ा लूँ ।

[क्षपणक आता है]

क्षपणक—नमो नमो अर्हंत कों जो निज बुद्धि-प्रताप ।
लोकोत्तर की सिद्धि सब करत हस्तगत आप ॥ १०

सिद्धार्थक—भदंत ! प्रणाम ।

क्षपणक—उपासक ! धर्म लाभ हो (भली भाँति देखकर) आज तो समुद्र पार होने का बड़ा भारी उद्योग कर रक्खा है।

सिद्धार्थक—भदंत ! तुमने कैसे जाना ?

क्षपणक—इसमें छिपी कौन बात है ? जैसे समुद्र में नाव पर सब के आगे मार्ग दिखानेवाला माँझी रहता है, वैसे ही तेरे हाथ में यह लखौटा है ।

सिद्धार्थक--अजी भदंत! भला यह तो तुमने ठीक जाना कि मैं परदेश जाता हूँ। पर यह कहो कि आज दिन कैसा है?

क्षपणक- (हँसकर) वाह श्रावक, वाह! तुम मूँड़ मुँड़ाकर भी नक्षत्र पूछते हो? २१

सिद्धार्थक—भला अभी क्या बिगड़ा है? कहते क्यों नहीं? दिन अच्छा होगा जायँगे, न अच्छा होगा न जायँगे।

क्षपणक--चाहे दिन अच्छा हो या न अच्छा हो, मलयकेतु के कटक से बिना मोहर लिए कोई जाने नहीं पाता।

सिद्धार्थक—यह नियम कब से हुआ?

क्षपणक—सुनो, पहले तो कुछ भी रोक टोक नहीं थी, पर जब से कुसुमपुर के पास आए हैं, तब से यह नियम हुआ है कि बिना मोहर के न कोई जाय न आवे। इससे जो तुम्हारे पास भागुरायण को मोहर हो तो जाओ नहीं तो चुप बैठे रहो, क्योंकि पीछे से तुम्हें हाथ पैर न बँधवाना पड़े। ३१

सिद्धार्थक—क्या यह तुम नहीं जानते कि हम राक्षस के अंतरंग खेलाड़ी मित्र हैं? हमें कौन रोक सकता है?

क्षपणक—चाहे राक्षस के मित्र हो चाहे पिशाच के, बिना मोहर के कभी न जाने पाओगे।

सिद्धार्थक—भदंत! क्रोध मत करो. कहो कि काम सिद्ध हो।

क्षपणक—जाओ, काम सिद्ध होगा। हम भी पटने जाने के हेतु भागुरायण से मोहर लेने जाते हैं।

[दोनों जाते हैं]

इति प्रवेशक

[भागुरायण और सेवक आते हैं]

भागुरायण—(आप ही आप) चाणक्य की नीति भी बड़ी विचित्र है। ४०

कहूँ विरल, कहुँ सघन, कहुँ विफल, कहूँ फलवान।
कहुँ कृस, कहुँ अति थूल, कछु भेद परत नहिं जान॥
कहूँ गुप्त अति ही रहत, कबहूँ प्रगट लखात।
कठिन नीति चाणक्य की, भेद न ज्यान्यो जात॥

(प्रकट) भासुरक! मलयकेतु से मुझे क्षण भर भी दूर रहने में दुःख होता है; इससे बिछौना बिछा तो बैठें।

सेवक—जो आज्ञा, बिछौना बिछा है, विराजिए।

भागुरायण-(आसन पर बैठकर) भासुरक! बाहर कोई मुझसे मिलने आवे तो आने देना।

सेवक—जो आज्ञा (जाता है)। ५०

भागुरायण—(आप ही आप करुणा से) राम राम! मलयकेतु तो मुझसे इतना प्रेम करता है, मैं उसका बिगाड़ किस तरह करूँगा? अथवा—

जस कुल तजि, अपमान सहि, धन हित परबस होय।
जिन बेच्यो निज प्रान तन सबै सकत करि सोय॥

[आगे आगे मलयकेतु और पीछे प्रतिहारी आते हैं]

मलयकेतु—(आप ही आप) क्या करें। राक्षस का चित्त मेरी ओर से कैसा है यह सोचते हैं तो अनेक प्रकार के विकल्प उठते हैं, कुछ निर्णय नहीं होता।

नंदवंश को जानिकै ताहि चंद्र की चाह।
कै अपनायो जानि निज मेरो करत निवाह॥ ६०
को हित अनहित तासु को यह नहिं जानो जात।
तासों जिय संदेह अति भेद न कछू लखात॥

(प्रकट) विजये ! भागुरायण कहाँ हैं, देख तो।

प्रतिहारी—महाराजकुमार ! भागुरायण वह बैठे हुए आपकी सेना के बाहर जानेवाले लोगों को परवाना बाँट रहे हैं।

मलयकेतु—विजये ! तुम दबे पाँव उधर से आओ मैं पीछे से जाकर मित्र भागुरायण की आँखें बंद करता हूँ।

प्रतिहारी—जो आज्ञा।

[दोनों दबे पाँव से चलते हैं और भासुरक आता है]

भासुरक—(भागुरायण से) बाहर क्षपणक आया है उसको मोहर चाहिए। ७०

भागुरायण— अच्छा, यहाँ भेज दो।

भासुरक —जो आज्ञा (जाता है)

[क्षपणक आता है]

क्षपणक—श्रावक को धर्म लाभ हो

भागुरायण—(छल से उसकी ओर देखकर) यह तो राक्षस का मित्र जीवसिद्धि है (प्रगट) भदंत ! तुम नगर में राक्षस के किसी काम से जाते होगे ?

क्षपणक —(कान पर हाथ रखकर) छी छी ! हम से राक्षस वा पिशाच से क्या काम ?

भागुरायण—आज तुमसे और मित्र से कुछ प्रेम-कलह हुआ है, पर यह ता वताओ कि राक्षस ने तुम्हारा कौन अपराध किया है ?

क्षपणक-राक्षस ने कुछ अपराध नहीं किया है, अपराधी तो हम हैं।

भागुरायण— ह ह ह ह ! भदंत ! तुम्हारे इस कहने से तो मुझको सुनने की और भी उत्कंठा होती है।

मलयकेतु—(आप ही आप) मुझ को भी।

भागुरायण—तो कहते क्यों नहीं ? ८५

क्षपणक—तुम सुन के क्या करोगे ?

भागुरायण--तो जाने दो हमें कुछ आग्रह नहीं है, गुप्त हो तो मत कहो।

क्षपणक—नहीं उपासक! गुप्त ऐसा नहीं है, पर वह बहुत बुरी बात है।

भागुरायण--तो जाओ हम तुमको परवाना न देंगे। ९०

क्षपणक--(आप ही आप की भाँति) जो यह इतना आग्रह करता है तो कह दें (प्रत्यक्ष) श्रावक! निरुपाय होकर कहना पड़ा। सुनो, मैं पहले कुसुमपुर में रहता था तब संयोग से मुझ से राक्षस से मित्रता हो गई। फिर उस दुष्ट राक्षस ने चुपचाप मेरे द्वारा विषकन्या का प्रयोग कराके बेचारे पर्वतेश्वर को मार डाला।

मलयकेतु—(आँखों में पानी भर के) हाय हाय! राक्षस ने हमारे पिता को मारा, चाणक्य ने नहीं मारा। हा!

भागुरायण—हाँ, तो फिर क्या हुआ?

क्षपणक—फिर मुझे राक्षस का मित्र जानकर उस दुष्ट चाणक्य ने मुझ को नगर से निकाल दिया। तब मैं राक्षस के यहां आया पर राक्षस ऐसा जालिया है कि अब मुझको ऐसा काम करने कहता है कि जिससे मेरा प्राण जाय। १०३

भागुरायण—भदंत! हम तो यह समझते हैं कि पहले जो आधा राज देने कहा था, वह न देने को चाणक्य ही ने यह दुष्ट कर्म किया, राक्षस ने नहीं किया।

क्षपणक—(कान पर हाथ रखकर) कभी नहीं, चाणक्य तो विषकन्या का नाम भी नहीं जानता, यह घोर कर्म उसी दुर्बुद्धि राक्षस ही ने किया है।

भागुरायण—हाय हाय! बड़े कष्ट की बात है। लो, मोहर तो तुम को देते हैं; पर कुमार को भी यह बात सुना दो।

मलयकेतु—(आगे बढ़कर)

सुन्यौ मित्र ! श्रुति-भेद-कर शत्रु कियो जो हाल ।
पिता-मरन को मोहि दुख दुगुन भयो एहि काल ॥

क्षपणक—(आप ही आप) मलयकेतु दुष्ट ने यह बात सुन लिया तो मेरा काम हो गया। (जाता है) ११६

मलयकेतु—(दाँत पीसकर ऊपर देखकर) अरे राक्षस !

जिन तोपै विश्वास करि सौंप्यौ सब धन धाम ।
ताहि मारि दुख दै सबन साँचो किय निज नाम ॥

भागुरायण—(आप ही आप) आर्य चाणक्य की आज्ञा है कि "अमात्य राक्षस के प्राण की सर्वथा रक्षा करना" इससे अब बात फेरें। (प्रकाश) कुमार! इतना आवेग मत कीजिए। आप आसन पर बैठिए तो मैं कुछ निवेदन करूं।

मलयकेतु—मित्र, क्या कहते हो ? (बैठ जाता है)।

भागुरायण—कुमार ! बात यह है कि अर्थशास्त्रवालों की मित्रता और शत्रुता अर्थ ही के अनुसार होती है, साधारण लोगों की भाँति इच्छानुसार नहीं होती। उस समय सर्वार्थसिद्धि को राक्षस राजा बनाया चाहता था तब देव पर्वतेश्वर ही उस कार्य में कंटक थे। सो उस कार्य की सिद्धि के हेतु यदि राक्षस ने ऐसा किया तो कुछ दोष नहीं। आप देखिए— १३०

मित्र शत्रु ह्वै जात हैं, शत्रु करहिं अति नेह ।
अर्थनीति-बस लोग सब, बदलहिं मानहुँ देह ॥

इससे राक्षस को ऐसी अवस्था में दोष नहीं देना चाहिए। और जब तक नंदराज्य न मिले तबतक उस पर प्रगट स्नेह ही रखना नीतिसिद्ध है। राज्य मिलने पर कुमार जो चाहेंगे करेंगे।

मलयकेतु—मित्र ! ऐसा ही होगा। तुमने बहुत ठीक सोचा है। इस समय इसका वध करने से प्रजागण उदास हो जायंगे और ऐसा होने से जय में भी संदेह होगा।

[एक मनुष्य आता है]

मनुष्य—कुमार की जय हो। कुमार के कटकद्वार के रक्षाधिकारी दीर्घचक्षु ने निवेदन किया है कि "मुद्रा लिए विना एक पुरुष कुछ पत्र सहित बाहर जाता हुआ पकड़ा गया है, सो उसको एक बेर आप देख लें।"

भागुरायण—अच्छा, उसको ले आओ।

पुरुष—जो आज्ञा।

[बाहर जाता है और हाथ बँधे हुए सिद्धार्थक को लेकर आता है]

सिद्धार्थक—(आप ही आप) १४५

गुन पै रिझवति, दोस सों दूर बचावति जौन।

स्वामिभक्ति जननी-सरिस, प्रनमत नित हम तौन ॥

पुरुष—(हाथ जोड़कर) कुमार यही मनुष्य है।

भागुरायण—(अच्छी तरह देखकर) यह क्या बाहर का मनुष्य है या यहीं किसी का नौकर है ?

सिद्धार्थक—मैं अमात्य राक्षस का पासवर्ती सेवक हूं।

भागुरायण—तो तुम क्यों मुद्रा लिए बिना कटक के बाहर जाते थे।

सिद्धार्थक—आर्य ! काम की जल्दी से।

भागुरायण—ऐसा कौन काम है जिसके आगे राजाज्ञा को भी कुछ मोल नहीं गिना ?

सिद्धार्थक—(भागुरायण के हाथ में लेख देता है)। १५७

भागुरायण—(लेख लेकर देखकर) कुमार! इस लेख पर अमात्य राक्षस की मुहर है।

मलयकेतु—ऐसी तरह से खोलकर दो कि मुहर न टूटे।

भागुरायण—(पत्र खोलकर मलयकेतु को देता है)।

मलयकेतु—(पढ़ता है) स्वस्ति। यथा स्थान में कहीं से कोई किसी पुरुष विशेष को कहता है। हमारे विपक्ष को निराकरण करके सच्चे मनुष्य ने सचाई दिखाई। अब हमारे पहले के रक्खे हुए हितकारी मित्रों को भी जो जो देने को कहा था वह देकर प्रसन्न करना। यह लोग प्रसन्न होंगे तो अपने आश्रय का विनाश करने पर सब भाँति अपने उपकारी की सेवा करेंगे। सच्चे लोग कहीं नहीं भूलते तो भी हम स्मरण कराते हैं। इनमें से कोई शत्रु का कोष और हाथी चाहते हैं और कोई राज चाहते हैं। हमको सत्यवादी ने जो तीन अलंकार भेजे सो मिले। हमने भी लेख अशून्य करने को कुछ भेजा है सो लेना। और जबानी हमारे अत्यंत प्रामाणिक सिद्धार्थक से सुन लेना। १७३

मलयकेतु—मित्र भागुरायण! इस लेख का आशय क्या है?

भागुरायण—भद्र सिद्धार्थक! यह लेख किसका है?

सिद्धार्थक—आर्य! मैं नहीं जानता।

भागुरायण—धूर्त! लेख लेकर जाता है और यह नहीं जानता कि किसने लिखा है, और सँदेसा किससे कहैगा?

सिद्धार्थक—(डरते हुए की भाँति) आपसे।

भागुरायण—क्यों रे! हम से?

सिद्धार्थक—आपने पकड़ लिया। हम कुछ नहीं जानते कि क्या बात है। १८२

भागुरायण—(क्रोध से) अब जानैगा। भद्र भासुरक! इसको

बाहर ले जाकर जब तक यह सब कुछ न बतलावै तब तक खूब मारो।

पुरुष—जो आज्ञा। (सिद्धार्थक को बाहर लेकर जाता है और हाथ में एक पेटी लिए फिर आता है) आर्य! उसको मारने के समय उसके बगल में से यह मुहर की हुई पेटी गिर पड़ी।

भागुरायण—(देखकर) कुमार! इस पर भी राक्षस की मुहर है। १९०

मलयकेतु—यही लेख अशून्य करने को होगी। इसको भी मुहर बचाकर हमको दिखलाओ।

भागुरायण—(पेटी खोलकर दिखलाता है)।

मलयकेतु—अरे! ये तो वही सब आभरण हैं जो हमने राक्षस को भेजे थे। निश्चय यह चंद्रगुप्त को लिखा है।

भागुरायण—कुमार! अभी सब संशय मिट जाता है। भासुरक! उसको और मारो।

पुरुष—जो आज्ञा। (बाहर जाकर फिर आता है) आर्य! हमने उसको बहुत मारा है, अब कहता है कि अब हम कुमार से सब कह देंगे। २००

मलयकेतु—अच्छा, ले आओ।

पुरुष—जो कुमार की आज्ञा (बाहर जाकर सिद्धार्थक को लेकर आता है)।

सिद्धार्थक—(मलयकेतु के पैरों पर गिरकर) कुमार! हमको अभयदान दीजिए।

मलयकेतु—भद्र! उठो, शरणागत जन यहाँ सदा अभय हैं। तुम इसका वृत्तांत कहो।

सिद्धार्थक—(उठकर) सुनिए। मुझको अमात्य राक्षस ने यह पत्र देकर चंद्रगुप्त के पास भेजा था।

मलयकेतु—ज़बानी क्या कहने कहा था वह कहो। २१०

सिद्धार्थक—कुमार मुझको अमात्य राक्षस ने यह कहने कहा था कि मेरे मित्र कुलूत देश के राजा चित्रवर्म्मा, मलयाधिपति सिंहनाद, काश्मीरेश्वर पुष्कराक्ष, सिंधु-महाराज सिंधुसेन और पारसीक-पालक मेघाक्ष इन पाँच राजाओं से आप से पूर्व में संधि हो चुकी है। इसमें पहले तीन तो मलयकेतु का राज चाहते हैं और बाकी दो खजाना और हाथी चाहते हैं। जिस तरह महाराज ने चाणक्य को उखाड़कर मुझको प्रसन्न किया उसी तरह इन लोगों को भी प्रसन्न करना चाहिए। यही राजसंदेश है।

मलयकेतु—(आप ही आप) क्या चित्रवर्मादिक भी हमारे द्रोही हैं? तभी राक्षस में उन लोगों की ऐसी प्रीति है। (प्रकाश) विजये! हम अमात्य राक्षस को देखा चाहते हैं। २२१

प्रतिहारी—जो आज्ञा (जाती है)।

[एक परदा हटता है और राक्षस आसन पर बैठा हुआ चिन्ता की मुद्रा में एक पुरुष के साथ दिखलाई पड़ता है]

राक्षस—(आप ही आप) चंद्रगुप्त की ओर के बहुत लोग हमारी सेना में भरती हो रहे हैं इससे हमारा मन शुद्ध नहीं है। क्योंकि

रहत साध्य तें अन्वित अरु विलसत निज पच्छहि।
सोई साधन साधक जो नहिं छुअत विपच्छहि॥
जो पुनि आपु असिद्ध, सपच्छ विपच्छहु में सम।
कछु कहुँ नहिं निज पच्छ माँहि जाको है संगम॥
नरपति ऐसे साधनन कों अनुचित अंगीकार करि।
सब भाँति पराजित होत हैं बादी लों बहु विधि बिगरि॥

वा जो लोग चंद्रगुप्त से उदास हो गए हैं वही लोग इधर मिले हैं, मैं व्यर्थ सोच करता हूँ। (प्रगट) प्रियंवदक! कुमार के अनुयायी राजा लोगों से हमारी ओर से कह दो कि अब कुसुमपुर दिन दिन पास आता जाता है, इससे सब लोग अपनी सेना अलग अलग करके जो जहाँ नियुक्त हों वहाँ सावधानी से रहें।

आगे खस अरु मगध चलैं जय ध्वजहिं उड़ाए।
यवन और गंधार रहैं मधि सैन जमाए॥ २४०
चेदि-हून-सक-राज लोग पाछे सों धावहि।
कौलूतादिक नृपति कुमारहि घेरे आवहिं॥

प्रियंवदक—अमात्य की जो आज्ञा (जाता है)

[प्रतिहारी आती है]

प्रतिहारी—अमात्य की जय हो! कुमार अमात्य को देखना चाहते हैं।

राक्षस—भद्रे! क्षण भर ठहरो। बाहर कौन है?

[एक मनुष्य आता है]

मनुष्य—अमात्य! क्या आज्ञा है?

राक्षस—भद्र! शकटदास से कहो कि जब से कुमार ने हमको आभरण पहराया है तब से उनके सामने नंगे अँग जाना हमको उचित नहीं है। इससे जो तीन आभरण मोल लिए हैं उनमें से एक भेज दें। २५१

मनुष्य—जो अमात्य की आज्ञा। (बाहर जाता है, आभरण लेकर आता है) अमात्य! अलंकार लीजिए।

राक्षस—(अलंकार धारण करके) भद्रे! राजकुल में जाने का मार्ग बतलाओ।

प्रतिहारी—इधर से आइए।

राक्षस--(स्वगत) अधिकार ऐसी बुरी वस्तु ह कि निर्दोष मनुष्य का भी जी डरा करता है। कारण—

सेवक प्रभु सों डरत सदाहीं। पराधीन सपने सुख नाहीं ॥

जे ऊँचे पद के अधिकारी। तिनको मनहीं मन भय भारी ॥२६०

सबही द्वेष वड़न सो करहीं। अनुछिन कान स्वामि को भर ॥

जिमि जे जनमे ते मरे, मिले अवसि विलगाहिं।

तिमि जे अति ऊँचे चढ़े गिरिहैं. संसय नाहिं

प्रतिहारी–(आगे बढ़कर) अमात्य! कुमार यह विराजते हैं, आप जाइए।

राक्षस– (देखकर) अरे कुमार यह बैठे हैं।

लखत चरन की ओर हू, तऊ न देखत ताहि।

अचल दृष्टि इक ओर ही, रही बुद्धि अवगाहि ॥

कर पै धारि कपोल निज लसत झुको अवनीस।

दुसह काज के भार सों मनहुँ नमित भो सीस ॥ २७०

(आगे बढ़कर) कुमार की जय हो!

मलयकेतु—आर्य! प्रणाम करता हूँ। आसन पर विराजिए।

राक्षस—(बैठता है।)

मलयकेतु—आर्य! बहुत दिनों से हम लोगों ने आपको नहीं देखा।

राक्षस—कुमार! सेना को आगे बढ़ाने के प्रबंध में फँसने के कारण हमको यह उपालंभ सुनना पड़ा।

मलयकेतु—अमात्य! सेना के प्रयाण का आपने क्या प्रबंध किया है, मैं भी सुनना चाहता हूं।

राक्षस—कुमार ! आपके अनुयायी राजा लोगों को यह आज्ञा दिया है ('आगे खस अरु मगध' इत्यादि छंद पढ़ता है) ।

मलयकेतु—(आप ही आप) हाँ ! जाना ! जो हमारे नाश करने के हेतु चंद्रगुप्त से मिले हैं वही हमको घेरे रहेंगे (प्रकाश) आर्य ! अब कुसुमपुर से कोई आता है या वहाँ जाता है कि नहीं ?

राक्षस—अब यहाँ किसीके आने जाने से क्या प्रयोजन ! पाँच छः दिन में हम लोग ही वहाँ पहुँचेंगे । २८५

मलयकेतु—(आप ही आप) अभी सब खुल जाता है (प्रगट) जो यही बात है तो इस मनुष्य को चिट्ठी लेकर आपने कुसुमपुर क्यों भेजा था ?

राक्षस—(देखकर) अरे ! सिद्धार्थक है । भद्र ! यह क्या ?

सिद्धार्थक—(आँसू भरकर और लज्जा नाट्य करके) अमात्य ! हम को क्षमा कीजिए । अमात्य ! हमारा कुछ दोष भी नहीं है । मार खाते खाते हम आपका रहस्य छिपा न सके ।

राक्षस—भद्र ! वह कौनसा रहस्य है यह हमको नहीं समझ पड़ता ।

सिद्धार्थक—निवेदन करते हैं, मार खाने से । (इतना ही कह लज्जा से नीचा मुँह कर लेता है)

मलयकेतु—भागुरायण ! स्वामी के सामने लज्जा और भय से यह कुछ न कह सकेगा इससे तुम सब बात आर्य से कहो ।

भागुरायण—कुमार की जो आज्ञा । अमात्य ! यह कहता है कि अमात्य राक्षस ने हमको चिट्ठी देकर और संदेश कहकर चंद्रगुप्त के पास भेजा है । ३००

राक्षस—भद्र सिद्धार्थक ! क्या यह सत्य है ?

सिद्धार्थक—(लज्जा नाट्य कर के) बहुत मार खाने से मैंने कह दिया ।

राक्षस—कुमार ! यह झूठ है । मार खाने से लोग क्या नहीं कह देते ।

मलयकेतु—भागुरायण ! चिट्ठी दिखला दो और सँदेसा वह अपने मुँह से कहेगा।

भागुरायण—(चिट्ठी खोलकर 'स्वस्ति कहीं से कोई किसी को' इत्यादि पढ़ता है।)

राक्षस—कुमार ! कुमार ! यह सब शत्रु का प्रयोग है।

मलयकेतु—लेख अशून्य करने को आर्य ने जो आभरण भेजे हैं वह शत्रु कैसे भेजेगा ? (आभरण दिखलाता है) ३११

राक्षस—कुमार ! यह मैंने किसीको नहीं भेजा। कुमार ने यह मुझको दिया और मैंने प्रसन्न होकर सिद्धार्थक को दिया।

भागुरायण—अमात्य ! क्या ऐसे उत्तम आभरणों का, विशेष कर अपने अंग से उतारकर कुमार की दी हुई वस्तु का, यह पात्र है ?

मलयकेतु—और संदेश भी बड़े प्रामाणिक सिद्धार्थक से सुनना यह आर्य ने लिखा है।

राक्षस—कैसा संदेश और कैसी चिट्ठी। यह हमारा कुछ नहीं है।

मलयकेतु—तो मुहर किसकी है ?

राक्षस—धूर्त्त लोग कपटमुद्रा भी बना लेते हैं।

भागुरायण—कुमार ! अमात्य सच कहते हैं। सिद्धार्थक ! यह चिट्ठी किसकी लिखी है ?

सिद्धार्थक—(राक्षस का मुँह देखकर चुपचाप रह जाता है)।

भागुरायण—चुप मत रहो। जी कड़ा करके कहो। ३२५

सिद्धार्थक—आर्य ! शकटदास ने।

राक्षस—शकटदास ने लिखा तो मानों मैंने ही लिखा।

मलयकेतु—विजये ! शकटदास को हम देखा चाहते हैं।

भागुरायण—(आप ही आप) आर्य चाणक्य के लोग बिना निश्चय समझे हुए कोई बात नहीं करते। जो शकटदास आकर यह

चिट्ठी किस प्रकार लिखी गई है यह सब वृत्तांत कह देगा तो मलयकेतु फिर बहक जायगा। (प्रकाश) कुमार ! शकटदास अमात्य राक्षस के सामने लिखा होगा तो भी न स्वीकार करेंगे, इससे उनका कोई और लेख मँगाकर अक्षर मिला लिए जायँ।

मलयकेतु—विजये ! ऐसा ही करो। ३३५

भागुरायण—और मुहर भी आवै।

मलयकेतु—हाँ, दोनों लाओ।

प्रतिहारी—जो आज्ञा (बाहर जाती है और पत्र और मुहर लेकर आती है) कुमार ! यह शकटदास का लेख और मुहर है।

मलयकेतु—(देखकर और अक्षर और मुहर का मिलान करके) आर्य ! अक्षर तो मिलते हैं।

राक्षस—(आप ही आप) अक्षर निःसंदेह मिलते हैं, किंतु शकटदास हमारा मित्र है, इस हिसाब से नहीं मिलते। तो क्या शकटदास ही ने लिखा ? अथवा—

पुत्र दार की याद करि स्वामिभक्ति तजि देत।
छोड़ि अचल जस कों करत चल धन सों जन हेत॥

या इसमें संदेह ही क्या है ?

मुद्रा ताके हाथ में, सिद्धार्थक हू मित्र।
ताही के कर को लिख्यौ, पत्रहु साधन चित्र॥
मिलि कै शत्रुन सों करन भेद भूलि निज धर्म। ३५०
स्वामि-विमुख शकटहि कियो, निश्चय यह खल कर्म॥

मलयकेतु—आर्य ! 'श्रीमान् ने तीन आभरण भेजे, सो मिले,' यह जो आपने लिखा है सो उसीमें का एक आभरण यह भी है। (राक्षस के पहने हुए आभरण को देखकर आप ही आप)

क्या यह पिता के पहने हुए आभरण हैं। (प्रकाश) आर्य ! यह आभरण आपने कहाँ से पाया ?

राक्षस—जौहरी से मोल लिया था।

मलयकेतु—विजये ! तुम इन आभरणों को पहचानती हो ?

प्रतिहारी—(देखकर आँसू भर के) कुमार ! हम सुगृहीत नामधेय महाराज पर्वतेश्वर के पहिरने के आभरणों को न पहचानैंगी ?

मलयकेतु—(आँखों में आँसू भरके) ३६९

भूषण-प्रिय ! भूष भूषण. कुल भषण ! तुम अंग ।
तुव मुख ढिग इमि सोहतो जिमि ससि तारन संग ॥

राक्षस—(आपही आप) ये पर्वतेश्वर के पहिने हुए आभरण हैं। (प्रकाश) जाना, यह भी निश्चय चाणक्य के भेजे हुए जौहरियों ने ही बेंचा है।

मलयकेतु—आर्य ! पिता के पहिने हुए आभरण, और फिर चंद्रगुप्त के हाथ पड़े हुए, जौहरी बेचैं, यह कभी नहीं हो सकता। अथवा हो सकता है।

अधिक लाभ के लोभ सों, क्रूर ! त्यागि सब नेह । ३७०
बदले इन आभरन के तुम बेंच्यो मम देह ॥

राक्षस—(आपही आप) अरे ! यह दाँव तो पूरा बैठ गया।

मम लेख नहिं यह किमि कहैं मुद्रा छपी जब हाथ की ?
बिश्वास होत न शकट तजिहै प्रीति कबहूँ साथ की ॥
पुनि बेचिहैं नृप चंद भूषण, कौन यह पतियाइहै ?
तासों भलो अब मौन रहनो, कथन तें पति जाइहै ॥

मलयकेतु—आर्य ! हम यह पूछते हैं।

राक्षस—जो आर्य हो उससे पूछो, हम अब पापकारी अनार्य हो गए हैं।

मलयकेतु—— ३८०

स्वामि-पुत्र तुव मौर्य, हम मित्रपुत्र सह हेत।
पैहौ उत वाको दियो, इत तुम हमको देत॥
सचिवहु भे उत दास ही, इत तुम स्वामी आप।
कौन अधिक फिर लोभ जो तुम कीनो यह पाप?॥

राक्षस—(आँखों में आँसू भर के) कुमार! इसका निर्णय वो आप हीं ने कर दिया—

स्वामि-पुत्र मम मौर्य, तुम मित्रपुत्र सह हेत।
पैहैं उत वाको दियो, इत हम तुमको देत॥
सचिवहु भे उत दास ही, इत हम स्वामी आप।
कौन अधिक फिर लोभ जो, हम कीनो यह पाप?॥ ३९०

मलयकेतु—(चिट्ठी पेटी इत्यादि दिखलाकर) यह सब क्या है?

राक्षस—(आँखों में आँसू भर के) यह सब चाणक्य ने नहीं किया दैव ने किया।

निज प्रभु सौं करि नेह जे भृत्य समर्पत देह।
तिन सों अपने सुत सरिस सदा निबाहत नेह॥
ते गुनगाहक नृप सबै जिन मारे छन माहिं।
ताही बिधि को दोस यह, औरन को कछु नाहिं॥

मलयकेतु—(क्रोधपूर्वक) अनार्य! अब तक छल किए जाते हो, कि यह सब दैव ने किया।

विष-कन्या दै पितु हत्यो प्रथम प्रीति उपजाय। ४००
अब रिपु सों मिलि हम सबन वधन चहत ललचाय ॥

राक्षस—(दुःख से आप ही आप) हा ! यह और जले पर नमक है। (प्रगट कानों पर हाथ रखकर) नारायण ! देव पर्वतेश्वर का कोई अपराध हम ने नहीं किया।

मलयकेतु—फिर पिता को किसने मारा।

राक्षस—यह दैव से पूछो।

मलयकेतु—दैव से पूछें ? जीवसिद्धि क्षपणक से न पूछें ?

राक्षस—(आप ही आप) क्या जीवसिद्धि भी चाणक्य का गुप्तचर है ? हाय ! शत्रु ने हमारे हृदय पर भी अधिकार कर लिया।

मलयकेतु—(क्रोध से) भासुरक ! शिखरसेन सेनापति से कहो कि राक्षस से मिलकर चंद्रगुप्त को प्रसन्न करने को पाँच राजे जो हमारा बुरा चाहते हैं, उनमें कौलूत चित्रवर्मा, मलयाधिपति सिंहनाद और काश्मीराधीश पुष्कराक्ष ये तीन हमारी भूमि की कामना रखते हैं, सो इनको भूमि ही में गाड़ दे, और सिंधुराज सुखेण और पारसीकपति मेघाक्ष हमारी हाथी की सेना चाहते हैं सो इनको हाथी ही के पैर के नीचे पिसवा दे।

पुरुष—जो कुमार की आज्ञा। (जाता है)

मलयकेतु—राक्षस ! हम मलयकेतु हैं, कुछ तुमसे विश्वासघाती राक्षस नहीं हैं, इससे तुम जाकर अच्छी तरह चंद्रगुप्त का आश्रय करो। ४२०

चंद्रगुप्त चाणक्य सों मिलिए सुख सों आप।
हम तीनहुँ को नासिहैं जिमि त्रिवर्ग कहँ पाप ॥

भागुरायण—कुमार ! व्यर्थ अब कालक्षेप मत कीजिए। कुसुमपुर घेरने को हमारी सेना चढ़ [illegible] है।

उड़िकै तियगन-गंड जुगल कहँ मलिन बनावति ।
अलिकुल से कल अलकन निज कन धवल छ्वावति ॥
चपल तुरगखुर-घात उठी घन घुमड़ि नवीनी ।
सत्रु सीस पैं धूरि परै गजमद सों भीनी ॥

[अपने भृत्यों के साथ मलयकेतु जाता है]

राक्षस—(घबड़ाकर) हाय । हाय ! चित्रवर्मादिक साधु सब व्यर्थ मारे गए। हाय ! राक्षस की सब चेष्टा शत्रु को नहीं, मित्रों ही के नाश करने को होती है । अब हम मंदभाग्य क्या करें ?

जाहिं तपोवन, पै न मन शांत होत सह क्रोध । ४३२
प्रान देहिं रिपु के जियत, यह नारिन को बोध ॥
खींचि खड्ग कर पतँग सम जाहिं अनल अरि पास ।
पै या साहस होइहै चंदनदास-विनास ॥

[सोचता हुआ जाता है ।]

इति पंचमांक

छठा अंक

स्थान—नगर के बाहर

[कपड़ा गहना पहिने हुए सिद्धार्थक आता है।]

सिद्धार्थक—

जलद-नील-तन जयति जय केशव केशी-काल।
जयति सुजन-जन-दृष्टि-ससि चंद्रगुप्त नरपाल॥
जयति आर्य चाणक्य की नीति सहज बलभौन।
बिनही साजे सेन नित जीतति अरि-कुल ज़ौन॥

चलो आज पुराने मित्र समिद्धार्थक से भेंट कर (घूमकर) अरे मित्र समिद्धार्थक आप ही इधर आता है।

[समिद्धार्थक आता है]

समिद्धार्थक—

मिटत ताप नहिं पान सों, होत उछाह विनास।
बिना मीत के सुख सबै औरहु करत उदास॥ १०

सुना है कि मलयकेतु के कटक से मित्र सिद्धार्थक आ गया है। उसीको खोजने को हम भी निकले हैं कि मिले तो बड़ा आनंद हो। (आगे बढ़कर) अहा! सिद्धार्थक तो यही है।

सिद्धार्थक—अहा! मित्र समिद्धार्थक आप ही आ गए। (बढ़कर) कहो मित्र! क्षेम कुशल तो है।

[दोनों गले से मिलते हैं]

समिद्धार्थक—भला यहाँ कुशल कहाँ? जब तुम्हारे ऐसा मित्र बहुत दिन पीछे घर भी आया तो बिना मिले फिर चला गया।

सिद्धार्थक—मित्र! क्षमा करो। मुझको देखते ही आर्य चाणक्य ने आज्ञा दी कि इस प्रिय वृत्तांत को अभी चंद्रमा के सदृश शोभावाले परम प्रिय महाराज प्रियदर्शन से जाकर कहो। मैं उसी समय महाराज के पास चला गया और उनसे निवेदन करके यह सब पुरस्कार पाकर तुमसे मिलने को तुम्हारे घर अभी जाता ही था। २४

समिद्धार्थक—मित्र जो सुनने के योग्य हो तो महाराज प्रियदर्शन से जो प्रिय वृत्तांत कहा है वह हम भी सुनें।

सिद्धार्थक—मित्र तुमसे भी कोई बात छिपी है? सुनो, आर्य चाणक्य की नीति से मोहित-मति होकर उस नष्ट मलयकेतु ने राक्षस को दूर कर दिया और चित्रवर्मादिक पाँचो प्रबल राजों को मरवा डाला। यह देखते ही और सब राजे अपने प्राण और राज्य का संशय समझकर भय से मलयकेतु के पड़ाव को छोड़कर सेना सहित अपने अपने देश चले गए। जब शत्रु ऐसी निर्बल अवस्था में हुआ तो भद्रभट, पुरुषदत्त, हिंगुरात बलगुप्त, राजसेन, भागुरायण, रोहिताक्ष, विजयवर्मा इत्यादि लोगों ने मलयकेतु को कैद कर लिया। ३५

समिद्धार्थक—मित्र! यह तो लोग जानते हैं कि भद्रभट इत्यादि लोग महाराज चंद्रश्री को छोड़कर मलयकेतु से मिल गए हैं। तो क्या कुकवियों के नाटक की भाँति इसके मुख में और तथा निर्वहण में और बात है?

सिद्धार्थक—वयस्य! सुनो, जैसे दैव की गति नहीं जानी जाती वैसे ही आर्य चाणक्य की जिस नीति की भी गति नहीं जानी जाती उसको नमस्कार है!

समिद्धार्थक—हाँ कहो, तब क्या हुआ ?

सिद्धार्थक—तब इधर से सब सामग्री लेकर आर्य चाणक्य बाहर निकले और विपक्ष के शेष राजाओं को निःशेष करके बर्बर लोगों की सब सामग्री लूट ली। ४६

समिद्धार्थक—तो अब वह सब कहाँ है ?

सिद्धार्थक—वह देखो

स्रवत गंड मद गरब गज, नदत मेघ-अनुहार।
चाबुक-भय चितवत चपल खड़े अस्व बहु द्वार॥

समिद्धार्थक—अच्छा यह सब जाने दो, यह कहो कि सब लोगों के सामने इतना अनादर पाकर फिर भी आर्य चाणक्य उसी मंत्री के काम को क्यों करते हैं ?

सिद्धार्थक—मित्र ! तुम अब तक निरे सीधे सादे बने हो। अरे, अमात्य राक्षस भी आर्य चाणक्य की जिन चालों को नहीं समझ सकते उनको हम तुम क्या समझेंगे ?

समिद्धार्थक—वयस्य ! अमात्य राक्षस अब कहाँ हैं ?

सिद्धार्थक—उस प्रलय कोलाहल के बढ़ने के समय मलयकेतु की सेना से निकलकर उंदुर नामक चर के साथ कुसुमपुर ही की ओर वह आते हैं, यह आर्य चाणक्य को समाचार मिला है।

समिद्धार्थक—मित्र ! नंद राज्य के फिर स्थापन की प्रतिज्ञा करके स्वनाम तुल्य-पराक्रम अमात्य राक्षस, उस काम को पूरा किए बिना फिर कैसे कुसुमपुर आते हैं ?

सिद्धार्थक—हम सोचते हैं कि चंदनदास के स्नेह से। ६४

समिद्धार्थक—ठीक है चंदनदास के स्नेह ही से। किंतु तुम सोचते हो कि चंदनदास के प्राण बचैंगे ?

सिद्धार्थक—कहाँ उस दीन के प्राण बचैंगे ? हमीं दोनों को बध-स्थान में ले जाकर उसको मारना पड़ेगा।

समिद्धार्थक--(क्रोध से) क्या आर्य चाणक्य के पास कोई घातक नहीं है कि ऐसा नीच काम हम लोग करें ? ७०

सिद्धार्थक—मित्र ! ऐसा कौन है जिसको इस जीव-लोक में रहना हो और वह आर्य चाणक्य की आज्ञा न माने ? चलो, हम लोग चांडाल का वेष बनाकर चंदनदास को बधस्थान में ले चलें।

[दोनों जाते हैं]

इति प्रवेशक

स्थान—बाहरी प्रांत में प्राचीन बारी

[फाँसी हाथ में लिए हुए एक पुरुष आता है।]

—षट गुन सुदृढ़ गुथी, मुख फाँसी।
जय—उपाय—परिपाटी गाँसी॥
रिपु-बंधन में पटु प्रति पोरी।
जय चाणक्य-नीति की डोरी॥

(इधर उधर घूमते हुए) आर्य चाणक्य के चर उंदुर ने इसी स्थान में मुझको अमात्य राक्षस से मिलने कहा है। (देखकर) यह अमात्य राक्षस सब अंग छिपाए हुए आते हैं। तब तक इस पुरानी बारी में छिपकर हम देखें कि यह कहाँ ठहरते हैं। (छिपकर बैठता है) ८३

[शस्त्र लिए हुए राक्षस आता है]

राक्षस-(आँखों में आँसू भरके) हाय ! बड़े कष्ट की बात है !

आश्रय विनसें और पै जिमि कुलटा तिय जाय।
तजि तिमि नंदहिं चंचला चंद्रहि लपटी धाय॥

देखादेखी प्रजहु सब कीनो ता अनुगौन ।
तजिकै निज नृप-नेह सब कियो कुसुमपुर मौन ॥
होइ बिफल उद्योग में तजिकै कारजभार ।
आप्त मित्र हू थकि रहे सिर बिनु जिमि अहि छार ॥ ९०
तजिकै निज पति भुवनपति सु-कुल-जात नृप नंद ।
श्री वृषली गइ वृषल ढिग, सील त्यागि करि छंद ॥
जाइ तहाँ थिर ह्वै रही निज गुन सहज विसारि ।
बस न चलत जब बाम विधि सब कछु देत बिगारि ॥
नंद मरे, सैलेश्वरहिं देन चह्यो हम राज ।
सोऊ बिनसे, तब कियो ता सुत-हित सो साज ॥
बिगर्‍यौ तौन प्रबंध हू, मिट्‍यौ मनोरथ-मूल ।
दोस कहा चाणक्य को ? दैवहि भो प्रतिकूल ॥

वाह रे म्लेच्छ मलयकेतु की मूर्खता ! जिसने इतना नहीं समझा कि १००

मरे स्वामिहू नहिं तज्यौ जिन निज नृप-अनुराग ।
लोभ छाँड़ि दै प्रान जिन करी सत्रु सों लाग ॥
सोई राक्षस सत्रु सों मिलिहै यह अंधेर ।
इतनों सूझ्यौ वाहि नहिं, दई दैव मति फेर ॥

सो अब भी शत्रु के हाथ में पड़ के राक्षस नाश हो जायगा, पर चंद्रगुप्त से संधि न करैगा। लोग झूठा कहैं, यह अपयश हो, पर शत्रु की बात कौन सहैगा ? (चारों ओर देखकर) हा ! इसी प्रांत में देव नंद रथ पर चढ़कर फिरने आते थे ।

इतहि देव अभ्यास हित सर सजि धनु संधानि ।
रचत रहे भुव चित्र सम रथ सुचक्र परिखानि ॥ ११०
जहँ नृपगन संकित रहे इत उत थमे लखात ।
सोई भुव ऊजर भई, दृगन लखी नहिं जात ॥

हाय ! यह मंदभाग्य अब कहाँ जाय ? (चारों ओर देखकर) चलो, इस पुरानी वारी में कुछ देर ठहरकर मित्र चंदनदास का कुछ समाचार लें। (घूमकर आप ही आप) अहा पुरुषों के भाग्य की उन्नति अवनति की भी क्या क्या गति होती है, कोई नहीं जानता ।

जिमि नव ससि कहँ सब लखत निज निज करहि उठाय ।
तिमि पुरजन हम को रहे लखत अनंद बढ़ाय ॥
चाहत हे नृपगन सबै जासु कृपा-दृग-ोर ।
सो हम इत संकित चलत मानहुँ कोऊ चोर ॥

वा जिसके प्रसाद से यह सब था, जब वही नहीं है तो यह होईगा । (देखकर) यह पुराना उद्यान कैसा भयानक हो रहा है । १२४

नसे विपुल नृप-कुल-सरिस बड़े बड़े गृह-जाल ।
मित्र-नास सों साधुजन हिय-सम सूख्यो ताल ॥
तरुवर भे फलहीन जिमि बिधि बिगरे सब नीति ।
तृन सों लोपी भूमि जिमि मति लहि मूढ़ कुनीति ॥
तीछन परसु-प्रहार सों कटे तरोवर-गात ।
रोअत मिलि पिंडूक सँग ताके घाव लखात ॥

दुखी जानि निज मित्र कहँ अहि मनु लेत उसास।
निज केंचुल मिस धरत हैं फाहा तरु-व्रन पास ॥१३२

तरुगन को सूख्यौ हियो, छिदे कीट सों गात।
दुखी, पत्र फल छाँह विनु, मनु मसान सव जात ॥

तो तब तक हम इस शिला पर, जो भाग्यहीनों को सुलभ है, बैठें। (बैठकर और कान देकर सुनकर) अरे! यह शंख-डंके से मिला हुआ नांदी शब्द कहाँ हो रहा है ?

आति ही तीखन होन सों फोरत श्रोता-कान।
जब न समायो घरन मैं तव इत कियो पयान ॥

संख-पटह-धुनि सों मिल्यौ भारी मंगल-नाद।
निकस्यौ मनहुँ दिगंत की दूरी देखन स्वाद ॥

(कुछ सोचकर) हाँ, जाना। यह मलयकेतु के पकड़े जाने पर राजकुल (रुककर) मौर्यकुल को आनंद देने को हो रहा है। (आँखों में आँसू भरकर) हाय! बड़े दुःख की बात है।

मेरे विनु अव जीति दल, सत्र पाइ बल घोर।
मोहिं सुनावन हेतु ही कीन्हों शब्द कठोर ॥

पुरुष—अब तो यह बैठे हैं, तो आर्य चाणक्य की आज्ञा पूरी कर। (राक्षस की ओर न देखकर अपने गले में फाँसी लगाना चाहता है)

राक्षस—(देखकर आप ही आप) अरे यह फाँसी क्यों लगाता है ? निश्चय कोई हमारा सा दुखिया है। जो हो, पूछें तो सही। (प्रकाश) भद्र यह क्या करते हो ?

पुरुष—(रोकर) मित्रों के दुःख से दुखी होकर हमारे ऐसे मंद-भाग्यों का जो कर्तव्य है।

राक्षस—(आप ही आप) पहले ही कहा था कि कोई हमारा सा दुखिया है। (प्रकाश) भद्र ! जो अति गुप्त वा किसी विशेष कार्य की बात न हो तो हमसे कहो कि तुम क्यों प्राण त्याग करते हो।

पुरुष—आर्य ! न तो गुप्त ही है, न कोई बड़े काम की बात है, परंतु मित्र के दुःख से मैं अब छन भर भी ठहर नहीं सकता।

राक्षस—(आप ही आप दुःख से) मित्र की विपत्ति में हम पराए लोगों की भाँति उदासीन होकर जो देर करते हैं, मानों उसमें शीघ्रता करने की, यह अपना दुःख कहने के बहाने, शिक्षा देता है। (प्रकाश) भद्र ! जो रहस्य नहीं है तो हम सुना चाहते हैं कि तुम्हारे दुःख का क्या कारण है ? १६४

पुरुष—आपको इसमें बड़ा ही हठ है तो कहना पड़ा। इस नगर में जिष्णुदास नामक एक महाजन है।

राक्षस—(आप ही आप) वह तो चंदनदास का बड़ा मित्र है। (प्रकट) उसे क्या हुआ ?

पुरुष—वह हमारा प्यारा मित्र है।

राक्षस—(आप ही आप) कहता है कि वह हमारा प्यारा मित्र है। इस अति निकट संबंध से इसको चंदनदास का वृत्तांत ज्ञात होगा। (प्रकट) भद्र ! उसके विषय में क्या हुआ ? १७२

पुरुष—(रोकर) सो दीन जनों को सब धन देकर वह अब अग्निप्रवेश करने जाता है। यह सुनकर हम यहाँ आये हैं कि इस दुःख वार्ता सुनने के पूर्व ही अपना प्राण दे दें।

राक्षस—भद्र ! तुम्हारे मित्र के अग्निप्रवेश का कारण क्या है ?

के तेहि रोग असाध्य भयो,

कोऊ जाको न औषध नाहिं निदान है ?

पुरुष—नहीं आर्य !

राक्षस—कै विष अग्निहु सो बढ़िकै १८०

नृप-कोप महा फँसि त्यागत प्रान है ?

पुरुष—राम राम ! चंद्रगुप्त के राज्य में लोगों को प्राणहिंसा का भय कहाँ ?

राक्षस—कै कोउ सुंदरी पै जिय देत,

लग्यो हिय माँहि बियोग को बान है ?

पुरुष—राम राम ! महाजन लोगों की यह चाल नहीं, विशेष कर के साधु जिष्णुदास की।

राक्षस—तौ कहुँ मित्रहि को दुख वाहु के

नास को हेतु तुम्हारे समान है ?

पुरुष—हाँ, आर्य। १९०

राक्षस—(घबड़ाकर आप ही आप) अरे, इसके मित्र का प्रिय मित्र तो चंदनदास ही है और यह कहता है कि सुहृद्-विनाश ही उसके विनाश का हेतु है, इससे मित्र के स्नेह से मेरा चित्त बहुत ही घबड़ाता है। (प्रकाश) भद्र ! तुम्हारे मित्र का चरित्र हम सविस्तर सुना चाहते हैं।

पुरुष—आर्य ! अब मैं किसी प्रकार से मरने में बिलंब नहीं कर सकता।

राक्षस—यह वृत्तांत तो अवश्य सुनने के योग्य है, इससे कहो।

पुरुष—क्या करें। आप ऐसा हठ करते हैं तो सुनिए।

राक्षस—हाँ ! जी लगाकर सुनते हैं, कहो। २००

पुरुष—आपने सुना ही होगा कि इस नगर में प्रसिद्ध जौहरी सेठ चंदनदास हैं।

राक्षस—(दुःख से आप ही आप) दैव ने हमारे विनाश का द्वार अब खोल दिया। हृदय ! स्थिर हो, अभी न जाने क्या क्या कष्ट तुम को सुनना होगा। (प्रकाश) भद्र ! हमने भी सुना है कि वह साधु अत्यंत मित्रवत्सल है। उन्हें क्या हुआ ?

पुरुष—वह जिष्णुदास के अत्यंत मित्र हैं।

राक्षस—(आप ही आप) यह सब हृदय के हेतु शोक का वज्र-पात है। (प्रकाश) हाँ, आगे।

पुरुष—सो जिष्णुदास ने मित्र की भाँति चंद्रगुप्त से बहुत विनय किया। २१२

राक्षस—क्या क्या ?

पुरुष—कि देव ! हमारे घर में जो कुछ कुटुंबपालन का द्रव्य है, आप सब ले लें, पर हमारे मित्र चंदनदास को छोड़ दें।

राक्षस—(आप ही आप) वाह जिष्णुदास ! तुम धन्य हो ! तुम ने मित्रस्नेह का निर्वाह किया।

जो धन के हित नारी तजैं पति, पूत तजैं पितु सीलहिं खोई।
भाई सों भाई लरैं रिपु से, पुनि मित्रता मित्र तजै दुख जोई॥
ता धन कों बनिया ह्वै गिन्यौ न, दियो दुख मीत्त सों आरत होई।
स्वारथ अर्थ तुम्हारोई है तुमरे सम और न या जग कोई॥

(प्रकाश) इस बात पर मौर्य ने क्या कहा ? २२२

पुरुष—आर्य ! इस पर चंद्रगुप्त ने उससे कहा कि "जिष्णु-दास ! हमने धन के हेतु चंदनदास को दंड नहीं दिया है।

इसने अमात्य राक्षस का कुटुंब अपने घर में छिपाया और बहुत माँगने पर भी न दिया। अब भी जो यह दे दे तो छूट जाय, नहीं तो इसको प्राणदंड होगा, तभी हमारा क्रोध शांत होगा और दूसरे लोगों को भी इससे डर होगा।" यह कह उसको वध्यस्थान में भेज दिया। जिष्णुदास ने कहा कि "हम कान से अपने मित्र का अमंगल सुनने के पहले मर जायँ तो अच्छी बात है" और अग्नि में प्रवेश करने को वन में चले गए। हमने भी इसी हेतु कि उनका मरण न सुनैं, यह निश्चय किया कि फाँसी लगाकर मर जायँ और इसी हेतु यहाँ आए हैं। २३४

राक्षस—(घबड़ाकर) अभी चंदनदास को मारा तो नहीं ?

पुरुष—आर्य ! अभी नहीं मारा है, बारंबार अब भी उनसे अमात्य राक्षस का कुटुंब माँगते हैं, और वह मित्रवत्सलता से नहीं देते; इसीसें इतना बिलंब हुआ।

राक्षस—(सहर्ष आप ही आप) वाह मित्र चंदनदास ! वाह ! धन्य ! धन्य !

मित्र-परोच्छहु मैं कियो सरनागत प्रतिपाल।
निरमल जस सिबि-सो लियो तुम या काल कराल ॥ २४२

(प्रकाश) भद्र ! तुम शीघ्र जाकर जिष्णुदास को जलने से रोको; हम जाकर अभी चंदनदास को छुड़ाते हैं।

पुरुष—आर्य ! आप किस उपाय से चंदनदास को छुड़ाइएगा ?

राक्षस—(खड्ग मियान से खींचकर) इस दुःख में एकांत मित्र निष्कृप कृपाण से।

समर-साध तन पुलकित, नित साथी मम कर को।
रन महँ बारहिं बार परिछ्यो जिन बल पर को ॥

विगत जलद नभ नील खड्ग यह रोस बढ़ावत।
मीत-कष्ट सों दुखिहु मोहि रनहित उमगावत ॥ २५१

पुरुष—सेठ चंदनदास के प्राण बचने का उपाय मैंने सुना, किंतु ऐसे टेढ़े समय में इसका परिणाम क्या होगा, यह मैं नहीं कह सकता (राक्षस को देखकर पैर पर गिरता है) आर्य ! क्या सुगृहीत नामधेय अमात्य राक्षस आप ही हैं ? यह मेरा संदेह आप दूर कीजिए।

राक्षस—भद्र ! भर्तृकुल विनाश से दुखी और मित्र के नाश का कारण यथार्थनामा अनार्य राक्षस मैं ही हूं।

पुरुष—(फिर पैर पर गिरता है) धन्य हैं ! बड़ा ही आनंद हुआ। आपने हमको आज कृतकृत्य किया।

राक्षस—भद्र ! उठो। देर करने की कोई आवश्यकता नहीं। जिष्णुदास से कहो कि राक्षस चंदनदास को अभी छुड़ाता है। २६३

[खड्ग खींचे हुए 'समर साध' इत्यादि पढ़ता हुआ इधर उधर टहलता है]

पुरुष—(पैर पर गिरकर) अमात्य-चरण ! प्रसन्न हों। मैं यह विनती करता हूँ कि चंद्रगुप्त दुष्ट ने पहले शकटदास के वध की आज्ञा दी थी। फिर न जाने कौन शकटदास को छुड़ा कर उसको कहीं परदेश में भगा ले गया। आर्य शकटदास के वध में धोखा खाने से चंद्रगुप्त ने क्रोध करके प्रमादी समझकर उन वधिकों ही को मार डाला। तब से वधिक जो किसीको वधस्थान में ले जाते हैं और मार्ग में किसीको शस्त्र खींचे हुए देखते हैं, तो छुड़ा ले जाने के भय से अपराधी को बीच ही में तुरंत मार डालते हैं। इससे शस्त्र खींचे हुए

आपके वहाँ जाने से चंदनदास की मृत्यु में और भी शीघ्रता होगी (जाता है)। २७४

राक्षस—(आप ही आप) उस चाणक्य बटु का नीतिमार्ग कुछ समझ नहीं पड़ता, क्योंकि—

सकट बच्यो जो ता कहें तो क्यौं घातक घात ।
जाल भयो का खेल मैं कछु समझ्यो नहिं जात ॥

(सोचकर)

नहिं शस्त्र को यह काल यासों मीत जीवन जाइहै ।
जौ नीति सोचैं या समय तो व्यर्थ समय नसाइहै ॥
चुप रहनहू नहिं जोग जब मम हित विपति चंदन पर्यौ ।
तासों बचावन प्रियहि अब हम देह निज विक्रय कर्यौ ॥

[तलवार फेंककर जाता है]

इति षष्ठांक

सप्तम अंक

स्थान—सूली देने का मसान

[पहला चांडाल आता है]

चांडाल—हटो लोगो हटो, दूर हो भाइयो, दूर हो। जो अपना प्राण, धन और कुल बचाना हो तो दूर हो। राजा का विरोध यत्नपूर्वक छोड़ो—

करि कै पथ्य विरोध इक रोगी त्यागत प्रान।

पै विरोध नृप सों किए नसत सकुल नर, जान॥

जो न मानो तो इस राजा के विरोधी को देखो जो स्त्री-पुत्र समेत यहाँ सूली देने को लाया जाता है। (ऊपर देखकर) क्या कहा 'कि इस चंदनदास के छूटने का कुछ उपाय भी है?' 'भला इस बेचारे के छूटने का कौन उपाय है? पर हाँ जो यह मंत्री राक्षस का कुटुंब दे दे तो छूट जाय।' (फिर ऊपर देख कर) क्या कहा कि 'यह शरणागतवत्सल प्राण देगा, पर यह बुरा कर्म न करैगा।' 'तो फिर इसकी बुरी गति होगी, क्योंकि बचने का तो वही एक उपाय है।' १३

[कंधे पर सूली रक्खे मृत्यु का कपड़ा पहिने चंदनदास उसकी स्त्री और पुत्र और दूसरा चांडाल आते हैं]

स्त्री—हाय हाय! जो हम लोग नित्य अपनी बात बिगड़ने के डर से फूँक-फूँक कर पैर रखते थे उन्हीं हम लोगों की चोरों की भाँति मृत्यु होती है। काल देवता को नमस्कार है, जिसको मित्र उदासीन सभी एक से हैं, क्योंकि—

छोड़ि माँस भख मरन भय जियहिं खाइ तृन घास ।
तिन गरीब मृग को करहिं निरदय व्याधा नास ॥

(चारों ओर देखकर)

अरे भाई जिष्णुदास ! मेरी बात का उत्तर क्यों नहीं देते ? हाय ! ऐसे समय में कौन ठहर सकता है ? २१

चंदन०—(आँसू भरकर) हाय ! ये मेरे सब मित्र बेचारे कुछ नहीं कर सकते, केवल रोते हैं और अपने को अकर्मण्य समझ शोक से सूखा सूखा मुँह किए आँसू भरी आँखों से एक टक मेरी ही ओर देखते चले आते हैं ।

दोनों चांडाल—अजी चंदनदास ! अब तुम फाँसी के स्थान पर आ चुके इससे कुटुँव को बिदा करो ।

चंदन०—(स्त्री से) अब तुम पुत्र को लेकर जाओ, क्योंकि आगे तुम्हारे जाने की भूमि नहीं है ।

स्त्री—ऐसे समय में तो हम लोगों को बिदा करना उचित ही है, क्योंकि आप परलोक में जाते हैं, कुछ परदेश नहीं जाते (रोती है) । २२

चंदन०—सुनो ! मैं कुछ अपने दोष से नहीं मारा जाता, एक मित्र के हेतु मेरे प्राण जाते हैं, तो इस हर्ष के स्थान पर क्यों रोती है ?

स्त्री—नाथ ! जो यह बात है तो कुटुँब को क्यों बिदा करते हो ?

चंदन०—तो फिर तुम क्या कहती हो ?

स्त्री—(आँसू भरकर) नाथ ! कृपा करके मुझे भी साथ ले चलो ।

चंदन०—हा ! यह तुम कैसी बात कहती हो ? अरे ! तुम इस बालक का मुँह देखो और इसकी रक्षा करो, क्योंकि यह

बेचारा कुछ भी लोकव्यवहार नहीं जानता। यह किसका मुँह देख करके जीएगा ? ४३

स्त्री—इसकी रक्षा कुलदेवी करेंगी। बेटा ! अब पिता फिर न मिलेंगे, इससे मिलकर प्रणाम कर ले।

बालक—(पैरों पर गिरके) पिता ! मैं आपके बिना क्या करूँगा ?

चंदन०—बेटा ! जहाँ चाणक्य न हो वहाँ बसना।

दोनों चांडाल—(सूली खड़ी कर के) अजी चंदनदास ! देखो, सूली खड़ी हुई, अब सावधान हो जाओ।

स्त्री—(रोकर) लोगो ! बचाओ, अरे ! कोई बचाओ ! ५०

चंदन०—भाइयो, तनिक ठहरो (स्त्री से) अरे ! अब तुम रो रो कर क्या नंदों को स्वर्ग से बुला लोगी ? अब वे लोग यहाँ नहीं हैं, जो स्त्रियों पर सर्वदा दया रखते थे।

१ चांडाल—अरे वेणुवेत्रक ! पकड़ इस चंदनदास को, घरवाले आप ही रो पीटकर चले जायँगे।

२ चांडाल—अच्छा वज्रलोमक, मैं पकड़ता हूं।

चंदन०—भाइयो ! तनिक ठहरो, मैं अपने लड़के से मिल लूँ (लड़के को गले लगाकर और माथा सूँघकर) बेटा ! मरना तो था ही, पर एक मित्र के हेतु मरते हैं, इससे सोच मत कर।

पुत्र—पिता ! क्या हमारे कुल के लोग ऐसा ही करते आए हैं ? (पैर पर गिर पड़ता है)।

२ चांडाल—पकड़ रे वज्रलोमक ! (दोनों चंदनदास को पकड़ते हैं)।

स्त्री—लोगो ! बचाओ रे, बचाओ ! ६३

[वेग से राक्षस आता है]

राक्षस—डरो मत, डरो मत। सुनो सुनो, घातको ! चंदनदास को मत मारना, क्योंकि—

नसत स्वामिकुल जिन लख्यो निज चख शत्रु समान ।
मित्र दुःख हू मैं धर्‌यो निलज होइ जिन प्रान ॥
तुम सों हारि विगारि सब कढ़ी न जाको साँस ।
ता राक्षस के कंठ मैं डारहु यह जमफाँस ॥

चंदन०—(देखकर और आँखों में आँसू भरकर) अमात्य ! यह क्या करते हो ? ७९

राक्षस—मित्र, तुम्हारे सच्चरित्र का एक छोटा सा अनुकरण ।

चंदन०—अमात्य, मेरा किया तो सब निष्फल हो गया, पर आपने ऐसे समय यह साहस अनुचित किया ।

राक्षस—मित्र चंदनदास ! उलहना मत दो, सभी स्वार्थी हैं (चांडाल से) अजी ! तुम उस दुष्ट चाणक्य से कहो ।

दोनों चांडाल—क्या कहें ?

राक्षस—

जिन कलि मैं हूं मित्र-हित तृन सम छोड़्‌यो प्रान ।
जाके जस-रवि सामुहे सिवि-जस दीप समान ॥ ८०
जाको अति निर्मल चरित, दया आदि नित जानि ।
बौद्धहु सब लज्जित भए, परम शुद्ध जेहि मानि ॥
ता पूजा के पात्र को मारत धरि तू, पाप ! ।
जाके हित, सो सत्रु तुव आयो इत मैं आप ॥

१ चांडाल—अरे वेणुवेत्रक ! तू चंदनदास को पकड़कर इस मसान के पेड़ की छाया में बैठ, तब से मंत्री चाणक्य को मैं समाचार दूं कि अमात्य राक्षस पकड़ा गया ।

२ चांडाल—अच्छा रे वज्रलोमक ! (चंदनदास, स्त्री, बालक और सूली को लेकर जाता है)

१ चांडाल—(राक्षस को लेकर घूमकर) अरे ! यहाँ पर कौन है ? नंदकुल-सैनासंचय के चूर्ण करनेवाले वज्र से, वैसे ही मौर्यकुल में लक्ष्मी और धर्म स्थापना करने वाले, आर्य चाणक्य से कहो— ९२

राक्षस—(आप ही आप) हाय ! यह भी राक्षस को सुनना लिखा था !

१ चांडाल—कि आपकी नीति ने जिसकी बुद्धि को घेर लिया है, वह अमात्य राक्षस पकड़ा गया।

[परदे में सब शरीर छिपाए केवल मुँह खोले चाणक्य आता है]

चाणक्य—अरे ! कहो, कहो !

किन जिन बसननि मैं धरी कठिन अगिनि की ज्वाल ?
रोकी किन गति वायु की डोरिन ही के जाल ?
किन गजपति-मरदन प्रबल सिंह पींजरा दीन ? १००
किन केवल निज बाहु-बल पार समुद्रहिं कीन ?

१ चांडाल—परम नीतिनिपुण आप ही ने तो।

चाणक्य—अजी ! ऐसा मत कहो, वरन् 'नंदकुलद्वेषी दैव ने' यह कहो।

राक्षस—(देखकर आप ही आप) अरे ! क्या यही दुरात्मा वा महात्मा कौटिल्य है ?

सागर जिमि बहु रत्नमय, तिमि सब गुन की खान।
तोष होत नहिं देखि गुन, बैरी हू निज जानि ॥

चाणक्य—(देखकर) अरे ! यही अमात्य राक्षस है ? जिस महात्मा ने— ११०

बहु दुख सों सोचत सदा, जागत रैन बिहाय।
मेरी मति अरु चंद्र की सेननि दई थकाय॥

(परदे से बाहर निकल कर) अजी अजी अमात्य राक्षस ! मैं विष्णुगुप्त आपको दंडवत् करता हूं। (पैर छूता है)

राक्षस—(आप ही आप) अब मुझे अमात्य कहना तो केवल मुँह चिढ़ाना है (प्रगट) अजी विष्णुगुप्त ! मैं चांडालों से छू गया हूँ इससे मुझे मत छूओ।

चाणक्य—अमात्य राक्षस ! वह श्वपाक नहीं है, वह आपका जाना सुना सिद्धार्थक नामा राजपुरुष ही है, और दूसरा भी समिद्धार्थक नामा राजपुरुष ही है, और इन्हीं दोनों द्वारा विश्वास उत्पन्न करके उस दिन शटकदास को धोखा देकर मैंने वह पत्र लिखवाया था। १२२

राक्षस—(आप ही आप) अहा ! बहुत अच्छा हुआ कि मेरा शकटदास पर से संदेह दूर हो गया।

चाणक्य—बहुत कहाँ तक कहूँ—

वे सब भद्रभटादि, वह सिद्धार्थक, वह लेख।
वह भदंत, वह भूषणहु, वह नट आगत भेख॥
वह दुख चंदनदास को, जो कछु दियो दिखाय।
सो सब मम (लज्जा से कुछ सकुचाकर)
सो सब राजा चंद को तुमसों मिलन उपाय॥

देखिए, यह राजा भी आप से मिलने आप ही आते हैं।

राक्षस—(आप ही आप) अब क्या करैं ! (प्रगट) हाँ ! मैं देख रहा हूँ।

[सेवकों के संग राजा आता है]

राजा—(आप ही आप) गुरुजी ने विना युद्ध ही दुर्जय शत्रु का कुल जीत लिया, इसमें कोई संदेह नहीं। मैं तो बड़ा लज्जित हो रहा हूँ क्योंकि—

ह्वै विनु काम लजाय करि नीचो मुख भरि सोक।
सोवत सदा निषंग में मम बानन के थोक॥
सोवहिं धनुष उतारि हम. तदपि सकहिं जग जीति।
जाके गुरु जागत सदा नीति-निपुन गत-भीति॥ १४०

(चाणक्य के पास जाकर) आर्य ! चंद्रगुप्त प्रणाम करता है।

चाणक्य—वृषल ! अब सब असीस सच्ची हुई, इससे इन पूज्य अमात्य राक्षस को नमस्कार करो। यह तुम्हारे पिता के सब मंत्रियों में मुख्य हैं।

राक्षस—(आप ही आप) लगाया न इसने संबंध।

राजा—(राक्षस के पास जाकर) आर्य ! चंद्रगुप्त प्रणाम करता है।

राक्षस—(देखकर आप ही आप) अहा ! यही चंद्रगुप्त है।

होनहार जाको उदय, बालपने ही जोइ।
राज लहो जिन बाल गज जूथाधिप सम होइ॥ १५०

(प्रगट)—महाराज ! जय हो।

राजा—आर्य !

तुम्हरे आछत बहुरि गुरु जागत नीति प्रवीन।
कहहु कहा या जगत में जाहि न जय हम कीन॥

राक्षस—(आप ही आप) देखो, यह चाणक्य का सिखाया पढ़ाया मुझ से कैसी सेवकों की सी बातें करता है। नहीं, नहीं; यह आप ही विनीत है। अहा! देखो चंद्रगुप्त पर डाह के बदले उलटा अनुराग होता है। चाणक्य सब स्थान पर यशस्वी है, क्योंकि—

पाइ स्वामि सतपात्र जौ मंत्री मूरख होइ। १६०
तौहू पावै लाभ जस, इत तौ पंडित दोइ॥
मूरख स्वामी लहि गिरैं चतुर सचिव हू हारि।
नदी-तीर-तरु जिमि नसत जीरन ह्वै लहि वारि॥

चाणक्य—क्यों अमात्य राक्षस! आप क्या चंदनदास के प्राण बचाया चाहते हैं?

राक्षस—इस में क्या संदेह है?

चाणक्य—पर अमात्य! आप शस्त्र ग्रहण नहीं करते, इससे संदेह होता है कि आपने अभी राजा पर अनुग्रह नहीं किया, इससे जो सच ही चंदनदास के प्राण बचाया चाहते हों तो यह शस्त्र लीजिए। १७०

राक्षस—सुनो विष्णुगुप्त! ऐसा कभी नहीं हो सकता, क्योंकि हम इस योग्य नहीं। विशेष कर के जब तक तुम शस्त्र ग्रहण किए हो तब तक हमारे शस्त्र ग्रहण करने का क्या काम है?

चाणक्य—भला अमात्य! आपने यह कहाँ से निकाला, कि हम योग्य हैं और आप अयोग्य हैं? क्योंकि देखिए—

रहत लगामहिं कसे अश्व की पीठ न छोड़त।
खान पान असनान भोग तजि सुख नहिं मोड़त॥

छूटे सब सुख साज नींद नहिं आवत नयनन।
निसि दिन चौंकत रहत वीर सब भय धरि निज मन ॥ १८०
यह हौदन सों सब छन कस्यो नृप-गजगन अवरेखिए।
रिपुदर्प दूर करि अति प्रबल निज सहास्त्र-बल देखिए ॥

वा इन बातों से क्या! आपके शस्त्र ग्रहण किए बिना तो चंदन-दास बचता भी नहीं।

राक्षस—(आप ही आप)

नंद-नेह छूट्यौ नहीं, दास भए अरि साथ।
ते तरु कैसे काटिहैं, जे पाले निज हाथ ॥
कैसे करिहैं मित्र पै हम निज कर सों घात।
अहो भाग्य गति अति प्रबल, मोहि कछु जानि न जात ॥

(प्रकाश) अच्छा विष्णुगुप्त! मँगाओ खड्ग "नमस्सर्व-कार्य-प्रतिपत्तिहेतवे सुहृत्स्नेहाय" देखो, मैं उपस्थित हूँ। १९१

चाणक्य।—(राक्षस को खड्ग देकर हर्ष से) राजन् वृषल! बधाई है! बधाई है! अब अमात्य राक्षस ने तुम पर अनुग्रह किया। अब तुम्हारी दिन दिन बढ़ती ही है।

राजा—यह सब आपकी कृपा का फल है।

[पुरुष आता है]

पुरुष—जय हो महाराज की, जय हो! महाराज! भद्रभट, भागुरायणादिक मलयकेतु को हाथ पैर बाँधकर लाए हैं और द्वार पर खड़े हैं। इसमें महाराज की क्या आज्ञा होती है?

चाणक्य—हाँ, सुनो। अजी! अमात्य राक्षस से निवेदन करो। अब सब काम वही करेंगे। २००

राक्षस।—(आप ही आप) कैसे अपने वश में करके मुझी से कहलाता है। क्या करें? (प्रकाश) महाराज, चंद्रगुप्त ! यह तो आप जानते ही हैं कि हम लोगों का मलयकेतु का कुछ दिन तक संबंध रहा है। इससे उसका प्राण तो बचाना ही चाहिए।

राजा—(चाणक्य का मुँह देखता है)

चाणक्य—महाराज ! अमात्य राक्षस की पहली बात तो सर्वथा माननी ही चाहिए (पुरुष से) अजी ! तुम भद्र-भटादिकों से कह दो कि "अमात्य राक्षस के कहने से महाराज चंद्रगुप्त मलयकेतु को उसके पिता का राज्य देते हैं" इससे तुम लोग संग जाकर उसको राज पर बिठा आओ। २११

पुरुष—जो आज्ञा !

चाणक्य—अजी अभी ठहरो, सुनो ! दुर्गपाल विजयपाल से यह कह दो कि अमात्य राक्षस के शस्त्र-ग्रहण से प्रसन्न हो कर महाराज चंद्रगुप्त यह आज्ञा करते हैं कि "चंदनदास को सब नगरों का जगत्सेठ कर दो।"

पुरुष—जो आज्ञा (जाता है)।

चाणक्य—चंद्रगुप्त ! अब और मैं क्या तुम्हारा प्रिय करूं ?

राजा—इस से बढ़कर और क्या भला होगा ?

मैत्री राक्षस सों भई, मिल्यौ अकंटक राज। २२०

नंद नसे सब अब कहा यासों बढ़ि सुखसाज ॥

चाणक्य—(प्रतिहारी से) विजये ! दुर्गपाल विजयपाल से कहो कि "अमात्य राक्षस के मेल से प्रसन्न हो कर महाराज चंद्रगुप्त आज्ञा करते हैं कि हाथी, घोड़ों को छोड़कर और सब

बँधुओं का बंधन छोड़ दो" वा जब अमात्य राक्षस मंत्री हुए तब अब हाथी घोड़ों का क्या सोच है ? इससे—

छोड़ौ सब गज तुरँग अब, कछु मत राखौ बाँधि।
केवल हम बाँधत सिखा, निज परतिज्ञा साधि॥

(शिखा बाँधता है)

प्रतिहारी—जो आज्ञा (जाती है)।

चाणक्य—अमात्य राक्षस ! मैं इससे बढ़कर और कुछ भी आपका प्रिय कर सकता हूँ ? २३१

राक्षस—इससे बढ़कर और हमारा क्या प्रिय होगा ? पर जो इतने पर भी संतोष न हो तो यह आशीर्वाद सत्य हो—

"वाराहीमात्मयोनेस्तनुमतनुबलामास्थितस्यानुरूपां
यस्य प्राग्दन्तकोटिम्प्रलयपरिगता शिश्रिये भूतधात्री॥
म्लेच्छैरुद्वेज्यमाना भुजयुगमधुना पीवरं राजमूर्तेः
स श्रीमद्बन्धुभृत्यश्चिरमवतु महीम्पार्थिवश्चन्द्रगुप्तः॥

[सब जाते हैं]

इति सप्तमांक

परिशिष्ट——क

इस नाटक के आदि अंत तथा अंकों के विश्रामस्थल में रंग-शाला में ये गीत गाने चाहिएँ । यथा—

(सब के पूर्व मंगलाचरण में)

[ध्रुवपद चौताला]

जय जय जगदीश राम, श्याम धाम पूर्ण काम ।
आनँदघन ब्रह्म विष्णु, सत्‌चित सुखकारी ॥
कंस-रावनादि-काल, सतत प्रनत-भक्तपाल ।
सोभित गल मुक्तमाल, दीनतापहारी ॥
प्रेमभरन पापहरन, असरन- जन-सरन-चरन ।
सुखहि करन दुखहि दरन, बृंदाबनचारी ॥
रमावास जगनिवास, राम रमन समनत्रास ।
विनवत हरिचंद दास, जय जय गिरिधारी ॥

(प्रस्तावना के अंत तथा प्रथम अंक के आरंभ में)

[चाल-लखनऊ की ठुमरी "शाहजादे आलम तेरे लिए" इस चाल की]

जिनके हितकारक पंडित हैं तिनकों कहा सत्रुन को डर है ।
समुझैं जग में सब नीतिन्ह जो तिन्हैं दुर्ग विदेस मनो घर है ॥
जिन मित्रता राखी है लायक सों तिनको तिनका हू महा सर है ।
जिनकी परतिज्ञा टरै न कवौं तिनको जय ही सब ही थर है ॥२॥

(प्रथम अंक की समाप्ति और दूसरे अंक के प्रारंभ में)

जग में घर की फूट बुरी ।
घर के फूटहिं सों विनसाई सुवरन लंकपुरी ॥
फूटहिं सों सब कौरव नासे भारत जुद्ध भयो ।
जाको घाटो या भारत में अब लौं नहिं पुजयो ॥
फूटहिं सों जयचंद बुलायो जवनन भारत धाम ।
जाको फल अब लौं भोगत सब आरज होइ गुलाम ॥
फूटहिं सो नवनंद विनासे गयो मगध को राज ।
चंद्रगुप्त को नासन चाह्यौ आपु नसे सह साज ॥
जो जग में धन मान और बल अपुनो राखन होय ।
तो अपने घर में भूलेहू फूट करौ मति कोय ॥३॥

(दूसरे अंक की समाप्ति और तीसरे अंक के आरंभ में)

जग में तेई चतुर कहावैं
जे सब विधि अपने कारज को नीकी भाँति बनावैं ॥
पढ्यो लिख्यो किन होइ जु पै नहिं कारज साधन जानै ।
ताही को मूरख या जग में सब कोऊ अनुमानै ॥
छल मैं पातक होत जदपि यह शास्त्रन में बहु गायो ।
पै अरि सों छल किए दोष नहिं मुनियत यहै बतायो ॥४॥

(तीसरे अंक की समाप्ति और चतुर्थ अंक के आरंभ में)

[ठुमरी]

तिनको न कछू कबहूँ बिगरै, गुरु लोगन को कहनो जे करै ।
जिनको गुरु पंथ दिखावत हैं ते कुपंथ पैं भूलि न पाँव धरैं ॥

जिन कों गुरु रच्छत आप रहैं ते बिगारे न बैरिन के बिगरैं ।
गुरु को उपदेस सुनौ सब ही जग कारज जासो सबै सँभरैं ॥

(चतुर्थ अंक की समाप्ति और पंचम अंक के आरंभ में)

[पूर्वी]

करि मूरख मित्र मिताई, फिर पछितैहौ रे भाई ! ।
अंत दगा खैहो सिर धुनिहौ रहिहौ सबै गँवाई ॥
मूरख जो कछु हितहु करै तो तासैं अंत बुराई ।
उलटो उलटो काज करत सब दैहै अंत नसाई ॥
लाख करौ हित मूरख सों पै ताहि न कछु समुझाई ।
अंत बुराई सिर पै ऐहै रहि जैहौ मुँह बाई ॥
फिर पछितैहो रे भाई ! ॥६॥

(पंचम अंक की समाप्ति और छठे अंक के आरंभ में)
[काफी ताल होली का]

छलियन सों रहो सावधान नहिं तो पछताओगे ।
इनकी बातन में फँसि रहिहौ सबहि गँवाओगे ॥
स्वारथ लोभी जन सों आखिर दगा उठाओगे ।
तब सुख पैहो जब साँचन सों नेह बढ़ाओगे ॥
छलियन सों....॥७॥

(छठे अंक की समाप्ति और सातएँ अंक के आरंभ में)
["जिन के मन में सिय राम बसैं," इस धुन की]

जग सूरज चंद टरै तो टरै पै न सज्जन नेहु कबौं बिचलै ।
धन संपत्ति सर्वस गेह नसौ नहिं प्रेम की मेड़ सो एड़ टलै ॥

सतवादिन कों तिनका सम प्रान रहै तो रहै वा ढलै तो ढलै।
निज मीत की प्रीत प्रतीत रहौ इक और सबै जग जाउ भलै॥८॥

(अंत में गाने को)

[विहाग, श्लोक के अर्थ अनुसार]

हरौ हरि रूप सबै जग बाधा ।
जा सरूप सों धरनि उधारी निज जन कारज साधा ॥
जिमि तव दाढ़ अग्र लै राखी महि हति असुर गिरायो ।
कनक दृष्टि म्लेच्छन हूँ तिमि किन अब लौं सारि नसायो ॥
आरज राज रूप तुम तासों माँगत यह बरदाना ।
प्रजा कुमुदगन चंद्र नृपति को करहु सकुल कल्याना ॥९॥

[विहाग ठुमरी]

'पूरी अमी की कटोरिया सी चिरजीओ सदा विक्टोरिया रानी' ।
सूरज चंद्र प्रकास करैं जब लौं रहैं सातहू सिंधु मैं पानी ॥
राज करौ सुख सों तब लौं निज पुत्र औ पौत्र समेत सयानी ।
पालौ प्रजागन कों सुख सों जग कीरति गान करैं गुन गानी ॥

[कालिंगड़ा]

लहै सुख सब विधि भारतवासी ।
विद्या कला जगत की सीखौ तजि आलस की फाँसी ।
अपनो देस धरम कुल समुझहु छोड़ि वृत्त निज दासी ॥
उद्यम करिकै होहु एक मति निज बल बुद्धि प्रकासी ।
पंचपीर की भगति छाँड़िकै ह्वै हरिचरन उपासी ॥
जग के और नरन सम येऊ होउ सबै गुन रासी ॥११॥

परिशिष्ट—ख

टिप्पणी

प्रस्तावना

नांदी—उन आशीर्वादात्मक श्लोकों या पद्यों को नांदी या मंगलाचरण कहते हैं जिन्हें सूत्रधार नाटक के आरंभ करने के पहले पाठ करता है। विघ्नशांति के लिए आरंभ में देवताओं की स्तुति करने की प्रथा संस्कृत नाटकों में प्राचीन है। नांदी चार प्रकार की होती है-नमस्कृतिर्माङ्गलिकी आशीः पत्रावली तथा। घटना का कुछ आभास देने के कारण इस नाटक की नांदी पत्रावली है। साहित्यदर्पण में नांदी का आठ या बारह पदों का होना लिखा है और भरत मुनि ने दस पदों की भी नांदी लिखा है। इस नाटक के मूल में आठ पद हैं (यदि पदों से पंक्ति मानी जाय, और अनुवाद में दस हैं। अनुवाद के आरंभ में छपा था कि 'नांदी मंगलपाठ करता है'। इससे ज्ञात होता है कि नांदी कोई पुरुष विशेष है जो मंगलपाठ करता है। पर संस्कृत लक्षण ग्रंथों में स्पष्ट लिखा है कि मंगल श्लोकों को ही नांदी कहते हैं। इस शब्द की व्युत्पत्ति से भी यही अर्थ निकलता है। इससे पूर्वोक्त वाक्य में नांदी शब्द का प्रयोग अशुद्ध है। इन विचारों से पूर्वोक्त वाक्य की क्रिया निकाल दी गई है। मंगलाचरण के अनंतर कोष्टक में छपा भी था कि 'नांदी पाठ के अनंतर'। इसमें नांदी शब्द का शुद्ध अर्थ किया गया है।

१-२—यह दोहा अनुवादक की स्वतंत्र रचना है। संस्कृत-मूल के किसी अंश का अनुवाद नहीं है। लगभग अपनी सभी रचनाओं में भारतेंदुजी ने यह दोहा आरंभ में दिया है जो

उन्हें बहुत प्रिय था। वस्तुतः यह दोहा भावपूर्ण है। अर्थ यह हुआ कि प्रेमरूपी नए जल से भरा हुआ और प्रतिदिन, सुंदर रस बहुत अधिक (अथोर) बरसने वाले जिस अपूर्व बादल को देखकर मेरा (मोररूपी) मन नाचने लगता है उसकी जय हो।

बादल को देखकर मोर का नाचना स्वाभाविक है। इस दोहे के घन शब्द से घनश्याम अर्थात् श्रीकृष्ण का अर्थ लक्षित है। इसमें मोररूपी मन और नेह रूपी जल का रूपक है, घन और मोर में श्लेष है, फेरफार कर कहने से पर्यायोक्ति तथा कई अर्थ लगाने से समासोक्ति है।

३-८—इस सवैया का संस्कृत मूल इस प्रकार है—

धन्या केयं स्थिता ते शिरसि ? शशिकला; किन्तु नामैतदस्या ?
नामैवास्यास्तदेतत्परिचितमपि ते विस्मृतं कस्य हेतोः ?
नारीं पृच्छामि नेन्दुं; कथयतु विजया न प्रमाणं यदीन्दु—
र्देव्या निह्नोतुमिच्छोरिति सुरसरितं शाठ्यमव्याद्विभोर्वः

वामार्धांग में बैठी पार्वती जी महादेवजी के मस्तक पर गंगाजी : कि आपके सिर पर यह कौन धन्या है। पार्वतीजी महादेवजी के आधे अंग में स्थान पाकर अपने को सबसे अधिक भाग्यवती समझती थीं पर उन्होंने जब गंगाजी को सिर पर चढ़ी देखा तब उनको पति की प्रेयसी समझकर ईर्षा से यह प्रश्न किया। धन्या का अर्थ भाग्यवती है पर कुछ व्यंग्य भी झलकता है कि स्त्री का पति के हृदय पर अधिकार होना ही उसका बड़भागिनी होना है नकि सिर पर चढ़ना। अनुवाद में केवल 'कौन है

सीस पै' है जिसमें धन्या शब्द नहीं लाया गया है। महादेवजी उत्तर देते हैं कि "शशिकला अर्थात् चंद्रकला है"। केवल शशि या चंद्र न कहकर शशिकला या चंद्रकला कहने का यह तात्पर्य है कि वह स्त्रियों के उपयुक्त नाम है और उसे लेकर महादेवजी पार्वतीजी को भ्रम में डालना चाहते थे। पर पार्वतीजी को कुछ शंका हो गई जिसके निवारणार्थ उन्होंने फिर कहा कि "क्या यही नाम है ?" यहाँ अनुवाद में त्रिपुरारी शब्द बढ़ाया गया है। इस प्रश्न पर भी महादेवजी उसी प्रकार का भ्रमपूर्ण उत्तर देते हैं कि हाँ, यही नाम है, तुम जानती भी हो, फिर कैसे भूल गईं। परंतु इस उत्तर से महादेवजी का कार्य सिद्ध नहीं हुआ और पार्वतीजी चंद्रकला शब्द का तथ्य समझ गईं। तब वे कहती हैं कि 'नारीं पृच्छामि नेन्दुं' अर्थात् 'नारिहि पूछत चंद्रहि नाहिं'। पार्वतीजी के कहने का यह अर्थ है कि हम आपसे स्त्री (के बारे में) पूछती हैं नकि चंद्र के (जिससे परिचित हैं)। पर महादेवजी उसका अर्थ उन्हें भ्रम में डालने के लिए यों लगाते हैं कि पार्वती जो कहती हैं कि नारी को (से) पूछती हैं नकि चंद्र को (से)। इस प्रकार अर्थ लगाकर वे उत्तर देते हैं कि यदि चंद्र का प्रमाण ठीक नहीं है, वह झूठा है और तुम स्त्री को प्रमाण मानती हो तो विजया (जो स्त्री और तुम्हारी सखी है) उससे पूछो। इस प्रकार गंगाजी को छिपाने के लिए जिस कूट बुद्धि से महादेवजी ने काम लिया है वह तुम्हारी रक्षा करे।

इस पद में शब्दालंकार वक्रोक्ति है। यह और इसके बाद के पद दोनों मंगलाचरण हैं जिन्हें कवि ने ग्रंथ की निर्विघ्न

समाप्ति के लिए पहले ही बनाकर रखा है। नांदी या मंगलपाठ के पदों से कवि नाटक की घटनाओं का कुछ आभास दिला देते हैं। जैसे इस पद के चंद्र (चंद्रगुप्त) और छलि (शाठ्य, चाणक्य की कूटनीति) शब्दों से इस नाटक की मुख्य घटना का आभास सा मिल जाता है। इस नाटक में वीर-रस प्रधान है और अद्भुत उपप्रधान है। इस नाटक में मुख्यतया चाणक्य की वह कूटनीति दिखलाई गई है जिससे उसने राक्षस को चंद्रगुप्त का साथ देने के लिए वाध्य किया है। चंद्रगुप्त नायक (धीरोदात्त) है पर चाणक्य ही नाटक का प्रधान पुरुष मालूम पड़ता है।

६-२२-मूल श्लोक—

पादस्याविर्भवन्तीमवनतिमवने रक्षतः स्वैरपातैः

संकोचेनैव दोष्णां मुहुरभिनयतः सर्वलोकातिगानाम् ।

दृष्टिं लक्ष्येषु नोग्रज्वलनकणमुचं वध्नतो दाहभीते-

रित्याधारानुरोधात् त्रिपुरविजयिनः पातु वो दुःख नृत्तम् ॥

त्रिपुर-विजयी महादेवजी की इच्छा तांडव-नृत्य करने की हुई तब उन्हें विचार हुआ कि यदि मैं नृत्य के समय स्वच्छंदता से पैर पटकूँगा, हाथ चलाऊँगा और नेत्रों से देखूँगा तो यह पृथ्वी दबकर पाताल को चली जायगी, चारों ओर के लोक टूट फूटकर गिर जायँगे और आँखों की अग्नि से संसार जल जायगा। तब असुरों के तीन नगरों के नाश करनेवाले महादेवजी ने कष्टनृत्य करना निश्चित किया जिसका वर्णन कवियों करता है कि 'पृथ्वी दबकर नीचे न जाय इसलिए उसके

रक्षार्थ धीरे धीरे पैरों को चलाकर, सब लोकों से आगे जाने-वाले बाहुओं को भाव बतलाते समय संकुचित करके (जिसमें हाथ लगने से वे लोक नष्ट न हों) और नेत्र से अग्निज्वाला निकलकर भस्म न कर दे इस डर से किसी ओर न देखते हुए त्रिपुरविजयी भगवान् आधार के संकोच से जो कष्टनृत्य करते हैं वह रक्षा करे।'

अनुवाद में मूल का सब भाव आगया है पर उसकी प्रथम दो पंक्तियों में शिवजी ने संसार के रक्षार्थ क्या कष्ट उठाया था सो नहीं आया। मूल के त्रिपुरविजयी शब्द के अनुवाद में न आने से परिकरालंकार की कमी हो गई और साथ ही वह आवश्यक था। क्योंकि इस पद में दिखलाया गया है कि जिस प्रकार क्रोधित होने पर महादेवजी ने त्रिपुर का नाश कर दिया था उसी प्रकार चाणक्य ने भी क्रोध में नवनंदों का नाश कर दिया पर शांति के समय जिस प्रकार महादेवजी सबके रक्षार्थ कष्ट नृत्य कर रहे हैं उसी प्रकार क्रोध शांत होने पर चंद्रगुप्त के राज्य को दृढ़ करने के लिए राक्षस को मिलाने के कष्टसाध्य कार्य को चाणक्य ने शांति से अपनी कूट नीति द्वारा सफल किया। प्रथम तीन पंक्तियों में अतिशयोक्ति अलंकार है।

६—पताल—पुराणानुसार पृथ्वी के नीचे का सातवाँ लोक जो सुवर्ण का है और नागों के वास करने के कारण नागलोक भी कहलाता है। अधोलोक, पृथ्वी के नीचे की ओर।

१२—नाचत = ताल और गति के अनुसार हाथ पाँव को हिलाने, भाव बतलाने और उछलने कूदने को नाचना नृत्य करना आदि कहते हैं।

सर्व = (१) सब, (२) (शर्व) शिव, महादेव।

१४—सामंत=सर्दार, अधीनस्थ मांडलीक।

१३—मुद्राराक्षस=(मुद्रया गृहीतः राक्षसः इति मुद्राराक्षसः) नाटक के प्रधान पात्र चाणक्य की अभीष्ट-सिद्धि मुद्रा (अर्थात् राक्षस की अँगूठी वाली मुद्रा जिसे निपुणक नामक चर ने लाकर दी थी) के द्वारा हुई थी इसलिए इस नाटक का नाम यही रखा गया।

१६—मूरख= (मूर्ख) यहाँ कृपि-कर्म में अनभिज्ञ पुरुष के लिए मूर्ख शब्द लाया गया है।

२१—सुघर=कार्यों को सुघड़ापे से अर्थात् अच्छी प्रकार करने वाली।

घरनी=गृहिणी, गृहस्वामिनी।

२५—पीसत सुगंध=केशर, इलायची आदि सुगंधित द्रव्य को पीसना।

२८-२९. कहुँ तियगन.........सुनि भावत=अन्वय-कहुँ तियगन हुंकार सहित मुसल को शब्द होत (जो) स्रवन (हिं) अति सोहावत (अरु) जिय को सुनि सुखद भावत। मूल में जो के बाद का अंश नहीं है।

३१-३४—मूल श्लोक का अर्थ—हे गुणवती ! उपायों की आधार ! संसार-यात्रा के लिए त्रिवर्ग को साधनेवाली ! कार्यों के (कर्त्तव्य बतलाने) लिए उपदेश देने वाली ! मेरे घर की नीति विद्या स्वरूपिणी आर्ये ! शीघ्र आओ।

अनुवाद में 'री नटी ! बिलंब न करु सुनि प्यारी !' अधिक है। मूल श्लोक का श्लेष से अनेक अर्थ लेने के कारण आमुखांग के त्रिगत का यह एक उदाहरण होता है पर अनुवाद में इन शब्दों के बढ़ने से यह इसमें नहीं आ सका। मो-गृह-नीति स्वरूप में उपमा है।

गुणवती—स्त्री के छ गुण सुभाषित में यों गिनाए हैं—कार्येषु मंत्री, वचनेषु दासी, भोज्येषु माता, शयनेषु रम्भा। धर्मानुकूला, क्षमया धरित्री भार्या च षाड़गुण्यवतीह दुर्लभाः। नीतिविद्या में संधि, विग्रह, यान (चढ़ाई), आसन (सुअवसर पाने या निर्वलता दूर करने के लिए रुकना), द्वैध (मुख्य उद्देश्य को गुप्त रखकर दूसरा प्रकट करना) और आश्रय (प्रबल की सहायता लेना) छः गुण है। शरद में जल प्रसाद रूपी गुण है।

उपायों की आधार—सांसारिक कार्यों के साधन को जाननेवाली। साम, दान, भेद और दंड राजनीति के चार उपाय हैं। जिगीषा अर्थात् जयेच्छा का शरद में उत्पन्न होना।

संसारयात्रा के लिए (स्थितिहेतोः) त्रिवर्ग को साधनेवाली—सांसारिक व्यापार अर्थ, धर्म, काम को साधनेवाली। राज्य की स्थिति के लिए-क्षयस्थानञ्च वृद्धिश्च त्रिवर्गोनीतिवेदनाम्-की साधिका नीतिविद्या। वर्षा के विगत होने से शरद विजय का अवसर देकर अर्थ तथा उसे पूर्ण कर धर्म और काम को साधती है।

कार्यों का उपदेश देनेवाली-शरद पक्ष में युद्धयात्रादि कार्यों की प्रवर्त्तिका।

इस प्रकार भार्या, नीतिविद्या तथा शरद तीन पक्षों में इस श्लोक का अर्थ घटाया गया है। पहले में सूत्रधार अपनी स्त्री को प्रशंसा करता हुआ बुलाता है। दूसरे से राक्षस को पकड़ने योग्य नीतिविद्या का आह्वान किया जाता है और तीसरे से तृतीय अंक में उल्लिखित शरद का आगम दिखलाया जाता है। अर्थात् श्लोक के विशेषणों के तीन विशेष्य माने गए हैं।

३५—संस्कृत मुहाविरे में स्त्रियाँ पति को आर्यपुत्र कहकर संबोधन करती हैं।

३९—रसोई चढ़ना—चूल्हे पर कड़ाही, बटुआ आदि चढ़ाकर रसोई आदि पाक करना जिससे यह मुहाविरा बन गया है।

४५—ज्योतिःशास्त्र के चौंसठों अंगों—ज्योतिष अर्थात् ग्रहनक्षत्र आदि की गति इत्यादि विषयक शास्त्र को ज्योतिःशास्त्र कहते हैं जिसके बीस अंग और चालीस उपांग गर्गसंहिता में दिए गए हैं।

४६–४९—इस दोहे का संस्कृत मूल इस प्रकार है—

क्रूरग्रहः सकेतुश्चंद्रमसम्पूर्णमण्डलमिदानीम् ।

अभिभवितुमिच्छति बलात् रक्षत्येनं तु बुधयोगः ॥

अन्वय—सःक्रूरग्रहःकेतुःअसंपूर्णमण्डलम् चंद्रम इदानीम् बलात अभिभवितुम् इच्छति। बुधयोगः तु एनं रक्षति।

अर्थ—क्रूर ग्रह केतु चंद्रमा के अपूर्ण मंडल को बलात् ग्रास करना चाहता है पर बुधयोग उसकी रक्षा करता है।

चंद्रग्रहण केवल पूर्णिमा को होता है जब चंद्रमंडल पूरा रहता है। अपूर्ण मंडल होने के कारण पूर्णिमा के अतिरिक्त अन्य तिथियों को चंद्रग्रहण होता ही नहीं। चंद्रमा का ग्रास करनेवाला राहु है, केतु नहीं। जिस पूर्णिमा को बुधयोग रहता है उसमें चंद्रग्रहण नहीं हो सकता। ऐसी असंभाव्य बातें लिखकर कवि कहता है कि केतु बलात् अर्थात् बलपूर्वक असंभव को संभव करना चाहता है जो नहीं हो सकता। साथ ही कवि केतु, अपूर्णमंडल चंद्र और बुधयोग शब्दों से नाटक की घटना और उसका फल व्यंजित करता है। क्रूर ग्रह केतु से म्लेच्छाधिपति मलयकेतु, अपूर्णमंडल चंद्र से चंद्रगुप्त (जिसका मंडल अर्थात् अधिकार अपूर्ण है क्योंकि वह चाणक्य के अधीन या उसका आज्ञानुवर्ती था और बुधयोग से चाणक्य की मित्रता (चंद्र या चंद्रगुप्त से)

इंगित है। मूल कवि ने यह श्लोक साहित्य और ज्योतिष दोनों की दृष्टि से लिखा है इसलिए यही अर्थ समुचित है। भारतेंदुजी ने भी यही भाव लेकर दोहा बनाया होगा क्योंकि असंपूर्णमंडल के लिए 'बिंब पूर न भए' लिखा है। इस अर्थ की पुष्टि आगे का चाणक्य का वाक्य भी करता है कि 'हैं! मेरे जीते (अर्थात् बुधयोग रहते) चंद्र को कौन बल से ग्रस सकता है?

'चंद्रमसंपूर्णमण्डलम्'—पाठ अधिक हस्तलिखित प्रतियों में मिला है। इसका 'चन्द्रमसम् पूर्णमण्डलम्' या 'चन्द्रम् असंपूर्ण मण्डलम्' दो प्रकार से पदच्छेद कर सकते हैं। कुछ विद्वान् प्रथम को इन कारणों से मानते हैं कि (१) चंद्रग्रहण पूर्ण बिंब होने पर होता है (२) पृ० ६ पं० ३६ में चाणक्य 'मौर्ये लक्ष्मीः स्थिरपदा कृता' कहता है और (३) पृ० ९ पं० ११६ में चर 'संपुण्णमण्डलम्मि' कहता है। एक विद्वान् ने यह भी लिखा है कि चाणक्य से उच्चकोटि के राजनीतज्ञ स्वयं मंडल को अपूर्ण न कहेंगे। अब प्रत्येक पर विचार कीजिए (१) पूर्ण बिंब रहने ही पर चंद्रग्रहण होता है इससे यह संभव है पर नाटककार का ध्येय इससे उलटा अर्थात् असंभाव्य बातों का दिखलाना है (२) जिस श्लोक का अंश उद्धृत है उसीके आगे चाणक्य कहता है कि 'अगृहीते राक्षसे स्थैर्यमुत्पादितं चन्द्रगुप्तलक्ष्म्याः किं'। इसके पहले पृ० १०४ पं० ४ में चाणक्य से नीतिज्ञ 'शशलांच्छनस्य कलाम्' कह चुके हैं। साथ ही वाह्य-स्थैर्य से क्या लाभ है जब राक्षसादि के षड़यंत्रों से आंतरिक-स्थैर्य नहीं के बराबर हो रहा था जैसा पृ० २४ पं० ३६ में विरोधक 'गलागतैर्भ्रुव-मिह खिद्यते श्रिया' और पृ० २९ पं० १४५ में 'मौर्यस्योरसि

नाधुनापि कुरुते' कहता है। कामंदक के नीतिसार में राष्ट्र के सप्तांग इस प्रकार हैं-स्वास्यमात्यश्च राष्ट्रं च दुर्गं कोशोबलं सुहृत्। परस्परोपकारीदं सप्तांगं राष्ट्रमुच्यते। इन सातों अंग की पूर्णता से पूर्णमण्डल समझा जाता है पर चंद्रगुप्त के प्रति प्रजा की अपूर्ण राजभक्ति होने का संशय चाणक्य के हृदय में खल रहा था। (३) 'पूर्णचन्द्र के कौन विरुद्ध हैं' कहकर चर निपुणक पूर्णता में कमी दिखा रहा है अर्थात् अपूर्णता में पूर्णता का केवल आभास मात्र है। चाणक्य स्वयं मंडल को उच्च कोटि के नीतिधुंधर होने से झूठ ही पूर्ण कहे पर वे अपनी कमी को जानते थे और सूत्रधार तो नीतिज्ञ था भी नहीं। कुछ विद्वानों ने 'क्रूरग्रहः सकेतुः' से यह अर्थ लिया है कि क्रूर ग्रह (राक्षस) केतु (मलयकेतु) के साथ।

५९—कौटिल्य—कुटिल नीति चलनेवाले चाणक्य का अन्य नाम।

६२—वंश—इस शब्द का यहाँ अत्यंत श्लिष्ट प्रयोग हुआ है। अग्नि में वंश अर्थात् बाँस जलता है उसी प्रकार चाणक्य की क्रोधाग्नि में नंदवंश का नाश हुआ था। इसमें परम्परित रूपकालंकार है।

६३—मानी—मानकर, समझकर।

नाटक के पूर्व सूत्रधार, नटी आदि जो प्रस्तावविषयक कथोपकथन करते हैं उसीको प्रस्तावना कहते हैं। यह पाँच प्रकार की होती है-उद्घात्यक, कथोद्घात, प्रयोगातिशय, प्रवर्त्तक और अवगलित। मुद्राराक्षस की प्रस्तावना प्रथम प्रकार की है। सूत्रधार प्रभृति के वाक्यों का दूसरा अर्थ लगाकर जहाँ पात्र या पात्रों का प्रवेश होता है उसे उद्घात्यक कहते हैं। यहाँ भी सूत्रधार के ग्रहणविषयक बातों का अर्थ चंद्रगुप्त पर घटाकर चाणक्य प्रवेश करता है।

प्रथम अंक

अपनी खुली .....चाणक्य आता है—प्रस्तावना के अंत में इस वाक्य से मुखसंधि का आरंभ होता है। पूर्वकथा से नाटक की घटना का संबंध स्थापित करना मुखसंधि है। यहाँ नंद वंश के नाश के अनंतर चंद्रगुप्त के राज्यश्री की स्थिरता के लिए चाणक्य के कहे हुए वाक्य और दैवात् मुद्रा प्राप्त कर राक्षस को मिलाने के उपायों का पूर्वकथा से संबंध दिखलाना ही मुख-संधि है। नंदवंश के नष्ट होने पर भी चंद्रगुप्त के राज्य के दृढ़तापूर्वक स्थापित होने पर नाटक के अंत में चाणक्य ने शिखा बाँधी था। वेणीसंहार में द्रौपदी के चोटी खोलने बाँधने का भी इसी प्रकार उल्लेख है।

३-६—दंति—बड़े दाँतों वाला अर्थात् हाथी। दंति शब्द हाथी के लिए रूढ़ि हो गया है।

कुंभ—हाथी के सिर के दोनों ओर के उभड़े हुए भाग।

सिंह के उन दाँतों से जो सदा हाथियों के मस्तकों को फाड़ते हैं (जिस से वे रक्त लगने से लाल हो जाते हैं) और नए चंद्र के समान लाल हैं तथा जँभाई लेते समय काल के समान बढ़ जाते हैं कौन निकाल सकता है?

यह कहकर चाणक्य चंद्रगुप्त को हानि पहुँचाने के साहस का दुस्साध्य होना प्रदर्शित करता है। नए चंद्र से चंद्रगुप्त की कलारूपी श्री का उन्नतिशीला होना प्रगट होता है। चंद्र का रंग शुभ्र ही माना गया है, पर यहाँ लाल लिया गया है मूल में कवि ने इसीलिए सन्ध्यारुणाम् बढ़ाकर संध्या समय की लालिमा की

सहायता से चंद्रकला को लाल बनाया है। जँभाई शब्द का प्रयोग कर चाणक्य अपनी सावधानी को बतलाता है। भुजंग-प्रयात छंद है और उपमालंकार है जिससे वस्तुध्वनि भी निकलती है। सिंहरूपी चाणक्य की साधिता मौर्यलक्ष्मी को राक्षस के ग्रहण करने की इच्छा ही को असाध्य होना दिखलाया है। इसमें रूपकातिशयोक्ति की ध्वनि है।

७—४-कालसर्पिणी—जिस सर्पिणी का दंशन तत्काल मनुष्य को कालकवलित कर देता है।

क्रोध-धूम—क्रोधरूपी अग्नि से उठती हुई धुँए की शिखा।

चाणक्य की शिखा न बाँधने की प्रतिज्ञा करने का इतिहास पूर्व-कथा में दिया गया है। नंदवंश के लिए कालसर्पिणी और क्रोध-धूम सी जो शिखा है उसे अब भी कौन नहीं बाँधने देता? मालारूपकालङ्कार है।

९-१०—नंदवंश-रूपी वन को सहज ही दहन कर देनेवाले मेरे प्रज्वलित प्रताप रूपी अग्नि का पतंग कौन पापी अब हुआ चाहता है? अर्थात् जो कोई साहस भी करेगा, वह नष्ट हो जायगा। रूपकालङ्कार है।

१३—इस कथन में व्यंग्य है अर्थात् अभी तक बैठने के लिए चटाई नहीं बिछी।

१६-१७—दुःशीलता—दुष्टता, दुस्सभाव। चाणक्य का तात्पर्य है कि कार्यों की घबड़ाहट से मैंने चटाई नहीं देखी। इस वाक्य से यह ध्वनि निकलती है कि उस समय के अध्यापक शिष्यों से सुव्यवहार नहीं करते थे और चाणक्य का शिष्य से इस प्रकार कहकर एक प्रकार की क्षमा माँगना उसके उच्च विचारों का द्योतक है। कार्य की तत्परता से बीज का आरंभ होता है।

२०—मूल में 'पितृवधामर्षितेन सकलनन्दराज्यपरिपणन प्रोत्साहितेन पर्वतकपुत्रेण' मलयकेतु का विशेषण है जिसका अर्थ है कि 'पिता-वध से क्रोधित और नंदवंश के संपूर्ण राज्य की प्राप्ति की प्रतिज्ञा से प्रोत्साहित पर्वतक का पुत्र।'

२५—२८—इन दो पदों में चाणक्य अपनी सामथ्य का वर्णन करता है। पहले में अपनी क्रोधाग्नि की शक्ति दिखलाते हुए कहते हैं कि दिशारूपी शत्रुओं के स्त्रियों के मुखेंदुओं पर शोक-रूपी धूम अर्थात् कालिख (पति आदि के मारे जाने के कारण) लगाकर, वृक्षरूपी मंत्रियों पर नीति रूपी वायु की सहायता से भस्म अर्थात् राख डालकर, (उन्हें मोह में डालकर, आँखों में धूल झोंककर) नगरवासियों को पक्षियों के समान बिना जलाए (जो वन में अग्नि लगने से उड़कर अपनी रक्षा कर लेते हैं) और नंदवंश को बाँस के समान जड़ मूल सहित नष्ट करके वह क्रोधाग्नि इसलिए शांत हो गई कि जलने के लिए उसे और कुछ ईंधन स्वरूप नहीं मिला सवैया छंद और रूपकालंकार है।

आन हित—दूसरी वस्तु (जलने के लिए)

२९-३२—चाणक्य कहते हैं कि जिन लोगों ने राजा के भय से मेरा अपमान होने पर धिक् नहीं कहा था पर उनके हृदय में दुष्कर्म का शोच रह गया था वे देखें कि हमने उस नंद को, अकेले नहीं, समाज सहित सिंहासन से ऐसा गिराया जैसे सिंह गजराज को पहाड़ पर से गिराता है। साथ ही तात्पर्य यह भी है कि यदि कोई फिर हमसे ऐसा वर्ताव करेगा तो वही फल पावेगा। उपमालंकार है।

३४—चंद्रगुप्त के हेतु—चंद्रगुप्त के रक्षार्थ।

३५-३८-चाणक्य कहते हैं कि क्षण भर में हमने नवनंदों का समूल

नाश कर दिया और जिस प्रकार तालाव में कमलिनी रहती है उसी प्रकार चंद्रगुप्त में राज्यश्री स्थापित कर दी। क्रोध और प्रीति के कारण एक का नाश कर और एक की उन्नति कर शत्रु और मित्र होने का परिणाम दिखला दिया।

उपमा और यथासंख्य अलंकार है।

सूत्रधार के चंद्रग्रहण की बात को सुनकर और उसका दूसरा अर्थ लगाकर चाणक्य जी यहाँ तक अपनी शत्रु-विनाशिनी शक्ति का परिचय देते चले गए हैं और अब इसी सूत्र के आधार पर चंद्रगुप्त की श्री को स्थिरता देने के उपायों का आगे विचार करने लगे।

४०—मिलने ही से क्या? अर्थात् केवल राज्य मिलने से तब तक कुछ भी लाभ नहीं है जब तक कि उसके विरुद्ध राक्षस सा प्रबल षड्यंत्रकारी प्रयत्न कर रहा हो।

४५—सर्वार्थसिद्धि का वृत्तांत पूर्व कथा में दिया गया है।

५०-५३—इस पद का मूल इस प्रकार है।

> ऐश्वर्यादनपेतमीश्वरमयं लोकोऽर्थतः सेवते,
> तं गच्छन्त्यनु ये विपत्तिषु पुनस्ते तत्प्रतिष्ठाऽऽशया।
> भर्त्तुर्ये प्रलयेऽपि पूर्वसुकृतासंगेन निःसंगया,
> भक्त्या कार्यधुरं वहंति कृतिनस्ते दुर्लभास्त्वादृशाः॥

ऐश्वर्यशाली स्वामी की सभी अर्थ के निमित्त सेवा करते हैं और विपत्ति के समय जो लोग उनका साथ देते हैं वे इस आशा पर कि ये फिर से उसी अवस्था पर पहुँच जाएँगे पर जो स्वामी के मृत्यु पर पूर्वोपकार के स्मरणमात्र से या निष्काम भक्ति से उनके कार्य को करते रहते हैं वसे तुम्हारे सदृश पुरुष दुर्लभ हैं।

अनुवाद में मूल का चमत्कार नहीं आया और दूसरे पंक्ति का गठन भी ऐसा है कि अर्थ साफ नहीं मालूम होता। उसका अन्वय यों है कि "पुनि राज बिगड़े कौन स्वामी ? चित्त में [ताहि] तनिक नहीं धरै"। अर्थ हुआ कि राज्य बिगड़ने पर कौन किसको स्वामी समझता है ? तथा मन में भी उसका कुछ विचार नहीं करते।

५६-९—स्वामिभक्त सेवक यदि मूर्ख और विक्रमहीन है या बुद्धिमान और विक्रमशाली सेवक स्वामिभक्त नहीं है तो इन दोनों से स्वामी को कुछ लाभ नहीं है। इनकी सेवा केवल स्त्रीवर्ग के समान है जिन्हें दुख सुख दोनों में पोषण करना पड़ता है अर्थात् वे किसी समय सहायक न होकर आश्रित मात्र रहते हैं। बुद्धिमान, विक्रमशाली और स्वामिभक्त सेवक ही स्वामी का कुछ मंगल कर सकते हैं।

यह मूल श्लोक का अर्थ है। इस में स्त्रियों पर कटाक्ष किया गया है। कवि ने साथ ही यह दिखलाया है कि राजनीतिज्ञगण अपने षडयंत्रादि में ऐसे निमग्न रहते हैं कि उन्हें स्त्रीवर्ग बोझ सी ज्ञात होती हैं। अन्तिम दो पंक्ति का 'येषां गुणाः भूतये समुदिताः ते इतरे भृत्याः संपत्सु चापत्सु कलत्रमिव' अन्वय किया जा सकता है। अर्थ हुआ कि इन गुणों से युक्त वे अन्य भृत्यगण स्त्रियों के समान संपत्ति तथा आपत्ति दोनों में साथ देते हैं। इससे स्त्रियों का उत्तम आदर्श प्रकट होता है। मूल और अनुवाद में कुछ विभिन्नता है। दूसरी पंक्ति 'पंडित विक्रमशील भक्ति बिनु काज नसावैं' होनी चाहिए। तीसरी पंक्ति का स्वारथ शब्द अधिक खटकता है जो मूल में कहीं नहीं आया है क्योंकि प्रथम कोटि के भृत्यवर्ग असमर्थ हो सकते हैं पर स्वार्थ का दोषारोपण उनपर नहीं किया जा सकता।

दूसरी कोटि के भृत्यों का वह उपयुक्त विशेषण हो सकता है। साथ ही सभी स्त्रियाँ भी स्वार्थी नहीं कही जा सकतीं।

६१—देखो—अर्थात् चाणक्य दिखलाते हैं कि मैं किस प्रकार यत्नशील हूँ और आगे उसीका विवरण देते हैं।

६३—पर्वतक के मारे जाने का कारण पूर्व कथा में दिया गया है। अनुवाद में "चंद्रगुप्त का पक्ष" था पर मूल के अनुसार 'अपना पक्ष' कर दिया गया।

६६—विषकन्या—वह सुंदर कन्या जिसे जन्म ही से थोड़ा थोड़ा विष देकर उसके शरीर को विषाक्त बना देते हैं और जिसका संसर्ग करते ही मनुष्य का प्राणनाश हो जाता है। "विषकन्योपयोगाद्वा क्षणाज्जह्याद सून्नरः ।। [सुश्रुत कल्पस्थान १०५] आजन्म विषसंयोगात्कन्या विषमयी कृता। स्पर्शोच्छ्वासादिभिर्हंति तस्यास्त्वेतत्परीक्षणाम्।। तन्मस्तकस्य संस्पर्शान्म्लायेते पुष्पपल्लवौ। [वागभट्ट] राक्षस ने चंद्रगुप्त को मारने के लिए विषकन्या भेजा था पर चाणक्य ने उसे पर्वतक के पास भेजकर उसे मार डाला जिसमें उसे आधा राज्य न देना पड़े। चाणक्य का ध्येय राक्षस को मिलाना तथा चंद्रगुप्त को पूर्ण नंद राज्य का स्वामी बनाना ही था इसीसे उसने पर्वतक को मारने का अभियोग राक्षस पर लगाया और भागुरायण द्वारा उसके पुत्र को भगा दिया। चाणक्य ने यही सोचकर कि राक्षस पर पर्वतकवध का अपयश बना रहे मलयकेतु को नहीं पकड़ा था और आगे चलकर इसीके सहायता से दोनों में विरोध कराया।

६६-८—पहले यह पाठ था कि "पर एकान्त में राक्षस ने मलयकेतु के जी में यह निश्चय करा दिया है कि तेरे पिता को मैंने नहीं मारा चाणक्य ही ने मारा।" मूल है "पिता ते चाणक्येन

घातित इति रहसि त्रासयित्वा भागुरायणेनावाहितः पर्व-तकपुत्रो मलयकेतुः।" साथही पृ० ५५ पं० ६-१० में 'भागुरायण है उससे······भाग चलो' पाठ रहने से यह पाठ बदलना उचित जान पड़ा।

७७–अन्वेषण-खोज या जाँच करना।

७८–९-हिंदी–पाठ यों है– वैसेही भद्रभटादिकों को बड़े बड़े पद देकर चंद्रगुप्त के पास रख दिया है।' संस्कृतपाठ—तत्तत्कार-णमुत्पाद्य कृतकृत्यतामापादिताश्चंद्रगुप्तसहोत्थायिनी भद्रभट प्रभृतयः प्रधानपुरुषाः– है। इसका अर्थ हुआ–चंद्रगुप्त के साथही उन्नति प्राप्त करने वाले भद्रभट आदि प्रधान पुरुषों से अभीष्ट लाभ कराने के लिए तदनुकूल कारण पैदाकर उसे सिद्ध किया। तत्तत्कारणमुत्पाद्य का तात्पर्य है कि वे वे कारण पैदा करके अर्थात् जिनसे भद्रभट आदि मलयकेतु से मिल सकें। उत्पाद्य से कारणों का वास्तविक न होना सूचित होता है। पृष्ठ ५४-५७ में चाणक्य ने भद्रभटादि के विरक्ति का तथा वे किस प्रकार मलयकेतु के यहां चले गये थे। इसका उल्लेख किया है। अपने कार्य में मद्यपानादि के कारण दत्तचित न रहने का दोष लगाकर उन्हें निकालनाही अनुकूल कारण पैदा करना है जिससे वे मलयकेतु को अंत में पकड़कर उसके अभीष्ट को सिद्ध कर सकें। पूर्वोक्त विचारों से अनुवाद का मूल पाठ बदलना उचित था क्योंकि भद्रभटादि बड़े बड़े पद पर नियुक्त नहीं किए गए थे वरन् वे चंद्रगुप्त के साथही ऊन्नतिपथ पर अग्रसर होते हुए वहाँ पहुँचे थे और प्रकाशरूप में विद्रोही बनकर मलयकेतु के यहां भाग गए थे।

८०—अप्रमादी–जिनमें अहंकार के कारण बाहरी आडंबर दिखाने का शौक न हो।

८१—विष्णुशर्मा—यही क्षपणक नामधारी जैन संन्यासी चाणक्य का गुप्त भेदिया था ।

९१-२—इस दोहे का मूल यों है—

स्वयमाहृत्य भुंजाना वलिनोऽपि स्वभावतः ।

गजेंद्राश्च नरेंद्राश्च प्रायः सीदंति दुःखिताः ॥

इसका अर्थ हुआ कि स्वभाववश स्वयम् खाद्यवस्तु (राज्य) एकत्र करने में गजेन्द्र और नरेन्द्र दोनों को बलवान होने पर भी प्रायः कष्ट होता है। अनुवाद में गजेन्द्र के स्थान पर सिंह-कुमार है। तात्पर्य यह है कि यदि तनिक भी चूके तो अपयश और हानि उठानी पड़ेगी इसलिए दूसरों के द्वारा जो कार्य होते हैं उसीमें सुख मिलता है। तुल्ययोगिता तथा अप्रस्तुतप्रशंसा अलंकार है।

९५-६—अन्वय—अति हेत किये उलटे हूँ ते काज बनत है। जो जम सबको जी हरत सोई (मुझे) जीविका देत।

दोनों दोहों से वस्तुध्वनि निकलती है। पहले से चाणक्यही का आश्रित रहना तथा दूसरे से उसीके आश्रितों का सुरक्षित रहना व्यंजित होता है।

इस दोहे की पहली पंक्ति में काव्यलिंग तथा दूसरी में व्याघात अलंकार है।

उस समय एक प्रकार के साधु जमपट दिखलाकर और जिससे संसार की अनस्थिरता प्रकट होती थी वैसे गीत गाकर भीख माँगते थे। जमपट अर्थात् चित्र जिसमें जमसंबंधी चित्र थे। हर्षचरित पृ० १७० में जमपट्टिका का उल्लेख है

१०७—सर्वज्ञता—सभी विषयों का समान रूप से जानना।

११०—चंद्र से चंद्रगुप्त को इङ्गित करता है।

११५-६—यद्यपि कमल सुंदर होता है पर वह चंद्र से विरोध

करता है। साथही तात्पर्य यह है कि चंद्रगुप्त के अभ्युदय को न सहन करनेवाले भी पुरुष हैं।

१३७—कौन अपना जीवन नहीं सह सकते—अर्थात् चंद्रगुप्त की श्रीवृद्धि को नहीं सह सकना तथा जीवित नहीं रहना बराबर है।

१५९—जौहरी—[फा० गौहर शब्द का अर्थ मोती है जिसका अरबी स्वरूप जौहर] जौहर+ई=जो जौहर अर्थात् मोती रत्न आदि का व्यापार करे। मूल में मणिकार श्रेष्ठी है जिसका अर्थ भी रत्नों का व्यापारी है।

१६०--मोहर की अँगूठी--[फा० मुह] मुद्रा जो अँगूठी पर रत्न जड़ने के स्थान पर खोदी जाती है। इसे अंगुलिमुद्रा या मुह की अँगूठी कहते हैं।

१७७-८४—मूल पाठ यों है-तब पाँच वर्ष का एक सुंदर बालक शिशुसुलभ कौतूहल से उत्फुल्ललोचन होकर एक छोटे द्वार से बाहर निकलने लगा। इस पर स्त्रियों द्वारा 'बाहर निकला, बाहर निकला' का भयव्यंजक कलकल द्वार के भीतर से सुनाई पड़ा जिसके अनंतर एक स्त्री द्वार से मुख कुछ बाहर निकालकर कोमल हाथों से उस बालक को भर्त्सना करते हुए पकड़ ले गई। बालक को पकड़ने में व्यग्र होने के कारण पुरुष के अँगुली के नाप की होने से यह अँगूठी उसके चंचल अँगुलो से निकलकर देहली पर गिर पड़ी और छटककर मेरे पैरों के पास प्रणाम करती हुई कुलबधू के समान आकर निश्चल हो गई। मैंने भी उसपर राक्षस का नाम अंकित देखकर आपके पैरों के पास ला रखा। अँगूठी पाने का यही वृत्तांत है।

१९२—इसी पत्रसे राक्षसको जीतना है--मुह की सहायता से राक्षस पर विजय प्राप्त करने या उसे पकड़ने का जो उपाय चाणक्य ने सोचा था उसका आरंभ इस पत्र से होनेवाला था।

२०२—मेरे जी की बात—जो मैं स्वयं चाहता था, जो मेरी हार्दिक इच्छा थी।

२२१—चाणक्य कहते हैं कि अब इन पाँच राजाओं को मार डालने के लिए हमने लिख दिया है इसलिए चित्रगुप्त अब उनका नाम अपने रजिस्टर से काट दें क्योंकि अब उनके स्वामी यमराज भी इन लोगों की रक्षा कर नहीं सकते तब उन्हें इनका लेखा रखने की कोई आवश्यकता नहीं है।

२२२—अथवा न लिखूँ–चाणक्य को राक्षस के मित्र शकटदास से पत्र लिखवाना आवश्यक था और इन पाँच राजाओं का नाम लिखवाने से शकटदास शंका कर राक्षस से कह देता इसलिए इस कमी को मौखिक संदेश कहवाकर पूरा किया।

२२५-२६—संस्कृत और फारसी के विद्वानों के लिए यह बात आजतक अक्षरशः ठीक है। इसका कारण यही ज्ञात होता है कि इन भाषाओं के अध्ययन में लिखने का बहुत कम काम पड़ता है और पाठशाला तथा मदरसों में लिपि की ओर बहुत कम ध्यान दिया जाता है।

२२८—लिखनेवाले का और जिसको लिखा गया था उनमें से किसीका नाम नहीं दिया गया था।

२४०—मूल में चाणक्य ने सिद्धार्थक को भद्र कहा है।

२४५—फाँसी देनेवाले को चाणक्य ने पहले ही से यह संकेत बतलाकर आदेश दे दिया था कि जब कोई मनुष्य इस संकेत के साथ कुछ कहे तब उसके कथनानुसार आचरण करना। राक्षस के लिए षड्यंत्र का यहीं से आरंभ हो गया।

२५१—अधिक गुप्त बात को कान में कहलाकर नाटककार दर्शकों तथा पाठकों की उत्सुकता बढ़ा रहा है।

२४१—डर से भाग जायँ अर्थात् सिद्धार्थक के क्रोध सहित कुछ

कहने पर फाँसी देनेवाले डरकर भाग जायँ जिसमें शकटदास जो संकेत को लक्ष्य न कर सकेगा, समझे कि यह वस्तुतः हमारा हितैषी है और इसने धमकाकर उन्हें भगा दिया है।

२५५—कालपाशिक और दंडपाशिक—[कालपाश+ठक् और दंडपाश+ठक्] रस्सी और डंडा जिसके द्वारा वे फाँसी देनेवाले मनुष्यों को मारते थे उन्हींको यमराज का कालपाश और दंड-पाश समझकर ये नाम रखे गए थे।

२५६—राक्षस ने इसी क्षपणक द्वारा विषकन्या चंद्रगुप्त के लिए भेजी थी।

२६६—चाणक्य अपने एक मित्र चर क्षपणक को इस प्रकार निकालकर और दूसरे को शकटदास की रक्षा के बहाने राक्षस के पास भेजने का प्रबंध कर चिंता करता है कि क्या ये सब उपाय सफल होंगे।

२६७—लिया—सिद्धार्थक इस विचार से इस शब्द को कहता है कि मैंने चाणक्य के बतलाए हुए कार्य का ठीक तात्पर्य समझ लिया। चाणक्य राक्षस को पकड़ने की चिंता कर रहा था उसे वह शब्द पकड़ लिया बोध हुआ जिसे वह शुभ भविष्यवाणी समझकर प्रसन्न हुआ।

२८०-१—संस्कृत के एक प्रति में यहां एक श्लोक है पर अन्य प्रतियों में उसी श्लोक का तात्पर्य गद्य में दिया गया है।

२९२—योग्य सत्कार से अधिक वा कम दोनों ही कष्टकर होते हैं।

२९४-५—मूल के अनुसार 'आपके साथ तो हम लोगों का यह व्यवहार उचित है' चाहिए।

२९६—अर्थात् शंका करता है कि चाणक्य ने मेरे बारे में कुछ पता लगाया है। चंदनदास को राक्षस के मुद्रा के खो जाने से शंका थी कि चाणक्य को राक्षस के स्त्री पुत्र का उसके गृह में होने का पता न लगा हो।

३००—मूल में चंदनदास से स्वगत कहलाया गया है कि 'यह अधिक आदर शंका उत्पन्न करता है'। अनुवाद में यही था इससे स्वगत शब्द बढ़ा दिया गया है।

३०३—४—चाणक्य वाक्यचातुरी से चंदनदास से चंद्रगुप्त के केवल दोषों को न पूछकर उसके वर्तमान होने के कारण पूर्व के राजाओं का याद आना और उनके गुणों का स्मरण होना पूछता है।

३१९—जिसमें तुम लोग किसी प्रकार के क्लेश में न पड़ो।

३२१—विरुद्ध कार्य करने से दण्डित होने पर तुम्हें क्लेश होगा। इससे चंद्रगुप्त को प्रसन्न रखने के लिये स्वयं क्लेश में मत पड़ो। सौ बात की एक बात अर्थात् संक्षेप में, थोड़े में।

३२४—तिनका और अग्नि का विरोध—तिनके से और अग्नि से चाहे मैत्री या वैमनस्य हो पर दोनों दशा में संपर्क होते ही तिनके का नाश निश्चित है। चन्दनदास ने आपको तिनका स्वरूप और चन्द्रगुप्त या चाणक्य को अग्नि के समान कहकर प्रकट किया कि आप लोगों से दूर रहने ही में हमारा कुशल है, मित्रता या वैमनस्य में नहीं।

३३४—गवड़े की बात अर्थात् वे बातें जो एक दूसरे को काटती हों।

३३६—छलका विचार—छल को अवसर नहीं मिलता, छल से काम नहीं चलता।

३४२—साँप सिर पर बूटी पहाड़ पर—जिस प्रकार सर्प सिर पर बैठ दंशन करना चाहता हो उस समय पहाड़ पर की दवा की आशा करना वृथा है वैसेही इस समय जब राज-विरोध रूपी दंड तुम [चंदनदास] पर गिरा चाहता है तब राक्षस आदि दूरवर्ती मित्रों की आशा करना व्यर्थ है।

जैसा चाणक्य ने ंदको......—चाणक्य का तात्पर्य है कि जिस

मैंने नन्द को राजगद्दी से उतारा उस प्रकार चंद्रगुप्त को राक्षस गद्दी पर से उतारेगा यह आशा रखना ठीक नहीं है। संकोच के कारण कहते कहते रुक गया था कि बीच में चंदन दास उसकी साँपवाली बात की धुन में एक दोहा कह गए जो उन्हें याद आ गया और उसी आशय का था।

३४५-६—वर्षा ऋतु आ गया पर प्रिया के दूर रहने से विरह का दुःख सता रहा है। अर्थात् प्रिया के रहने से ही क्या लाभ है जब वह दूरस्थित है जिस प्रकार हिमालय पर की बूटी के होने ही से क्या जब कि वह सर्प के काटे हुए को समय पर न मिले। अप्रस्तुतप्रशंसालंकार है।

३४६-५२ - महाराज नन्द के जीवितावस्था में वक्रनास आदि मंत्रिगण जो बड़े नीतिज्ञ थे, जिस राज्यश्री को स्थिर नहीं रख सके और जो (उनके लिए) नाश हो गई वह लक्ष्मी चंद्रगुप्त के पास चली आई। अब वह चंद्र की चंद्रिका के समान चंद्रगुप्त से पृथक् नहीं की जा सकती।

इसके अनंतर इस प्रथमांक के आरंभ के पदों को चाणक्य ने दुहराकर चंदनदास पर अपना प्रभाव डालने का प्रयत्न किया है। इसके बाद जीवसिद्धि क्षपणक और शकटदास को दंडों का कथन भी डर दिखलाने का ही प्रयत्न है।

३५४ हटो हटो-देश निकाले के समय जो लोग मिलने आते थे उन्हें हटा रहे थे।

३५९—क्षपणक के साधु होने के कारण पहले देशनिकाले का दंड सुनकर कारुण्य दिखलाने के लिये आहा! हा! शब्द किया।

३७३—अर्थात राक्षस के परिवार को रहने पर तो देता ही नहीं और नहीं रहने पर क्या कहूँ?

३७७—चंदनदास का मित्ररक्षाथ स्वप्राण को संकट में डालने के लिए दृढ़प्रतिज्ञ होना देखकर चाणक्य उसकी प्रशंसा करता है।

३७८-९-स्वार्थलाभ के मार्ग के सुलभ होने पर भी जो उसे दूसरे के हितार्थ छोड़ देता है वैसे दुष्कर कार्य को शिवि के बिना कौन कर सकताहै ? व्यतिरेक तथा उदात्त अलंकार है।

यह मूल का अनुवाद है। राजा शिवि ने अग्नि रूपी कबूतर के लिए इंद्र रुपी बाज़ को स्वशरीर से काटकर मांस दिया था इसी पौराणिक कथा का यहाँ उल्लेख है।अनुवाद में वह भाव पूर्णतयः आगया है या यों कहा जाय कि कुछ उच्चतर हो गया है। अर्थात दूसरे के हितार्थ कोरा धर्म समझकर प्राण देनेवाले शिवि के समान कौन है ? अनुवाद शिवि के कथानक के अनुरूप है और नाटक में मूल के समान ही सुसंगत है। राक्षस का कुटुंब दे देने से चंदनदास को राजकृपा रूपी स्वार्थ लाभ होता पर उसने सूली पर चढ़ाने की आज्ञा सुनकर भी धर्म न छोड़ा।

३९०—चाणक्य का अभिप्राय केवल चंदनदास को कैद करने से था क्योंकि उसीके द्वारा राक्षस को मिलाने की चेष्टा वह कर रहा था। ऊपर से दिखलाने के लिए ये सब धमकियाँ थीं।

३९५—स्वार्थ के लिए सभी प्राण दे सकते हैं। अर्थात् चंदन दास समझता था कि यह प्राणदंड मेरे किसी निज के दोष के कारण न हो कर मित्र के लिए है।

३९७—९८—चाणक्य का कौशल यही था कि जिस प्रकार चंदनदास अपने मित्र राक्षस के लिए अपना प्राण तृण के समान अर्थात् अप्रिय समझकर त्याग रहा है उसी प्रकार वह भी अपने मित्र के लिए प्राण त्यागने में (चाणक्य से

मिल जाने में) आगा पीछा नहीं करेगा क्योंकि साथ ही उसके कुल की भी रक्षा हो जायगी।

४०४-सिद्धार्थक आदि सब चाणक्य के संकेत से भागकर राक्षस से जा मिले थे और नाटककार ने 'आपही आप' रखकर यह दिखलाया कि चाणक्य अपने शिष्य से भी अपनी चाल गुप्त रखते थे।

४१७--नीतिकुशल चाणक्य जी अपने शिष्य आदि बाहरी लोगों को समझा रहे हैं कि गत न शोचामि। फिर कहते हैं कि--

जो लोग किसी संकल्प को हृदयंगम करके गए हैं वे सुख से भागें (अर्थात् सुखपूर्वक संकल्प की पूर्ति करें) और जो लोग अभी हैं वे भी यदि चले जायं तो मुझे कोई शोच नहीं है (क्योंकि स्वयं जानते हैं कि और कोई जानेवाला नहीं है) पर न जाय अर्थात् रहे केवल हमारी वही एक बुद्धि जो सैकड़ों सेना से बढ़ कर काम करनेवाली है और जिससे नंदकुल का नाश किया गया है।

काव्यलिंग और व्यतिरेक अलंकार है।

४३७--८-झुंड से बिछुड़ा हुआ अकेला और जिसका मद चू रहा है ऐसे मत्त हाथी को जिस प्रकार मनुष्य बाँध लाते हैं वैसेही हम चाणक्य) तुम्हें राक्षस, चंद्रगुप्त के कार्य्य के लिए पकड़ेंगे अर्थात मंत्री बनावेंगे।

राक्षस अकेला था उसका कोई सच्चा मित्र ऐसा न था जो उसे परामर्श देकर चाणक्य की पराजय करने में उसको सहायता देता। राक्षस मदगलित भी हो चुका था अर्थात उसका मद अभिमान गलित [च्युत, नष्ट भ्रष्ट] हो चुका था।

उपमा तथा श्लेष है।

चाणक्य को अपनी चाल पर इतना विश्वास था कि वह अभी से इस प्रकार कह रहा है मानो वह अवश्य ही सफल होगी।

द्वितीयांक

चन्द्रगुप्त के नाश के लिए राक्षसकृत उपायों के वृतांत कहने को प्राप्त्याशा-पताका-संबन्धी गर्भसंधि से यह द्वितीयांक आरंभ होता है। राक्षस का चर विराधगुप्त मदारी के रूप में कुसुमपुर से अनेक बातों का पता लगाकर आया है जिसके और राक्षस के कथोपकथन में राक्षस के उपायों का और उसे चाणक्य ने किस प्रकार निष्फल किया उन सबका विवरण आ जायगा।

नाटककार ने प्रथम अंक में यह दिखलाकर कि चाणक्य कैसा कुशल राजनीतज्ञ है, वह दूरदर्शिता से किस प्रकार शत्रु के षड्यंत्रों को समझकर उसका प्रतीकार करता है और उसमें कहां तक आत्मबल तथा निज कौशल में विश्वास है अब दूसरे अंक में उसके प्रतिद्वंद्वी राक्षस के असफल प्रयत्नों का दिग्दर्शन कराकर उसके राजनीतिक कौशल का चित्र खींचा है।

१—मदारी—साँप बन्दर भालू आदि का तमाशा दिखलानेवाले।

अलल......लाप ! तक मूल में नहीं है। यह अनुवादक ने अपनी ओर से लगा दिया है जिसे पुकारकर मदारी लोग दर्शकों को अपना व्यवसाय बतलाते हैं।

२-३—तन्त्र (राजधर्म, औषध) और युक्ति (न्याय, उपाय) सब जानते हैं और मंडल (राष्ट्रमंडल, माहेंद्रादि यंत्रों का मंडल) को अच्छी प्रकार समझकर बनाते हैं तथा मंत्र (मंत्रणा, गारुड़ादि मंत्र) की रक्षा से राजा और सर्प का उपचार (सेवा, क्रीड़ा) करते हैं। यहां रूपकालंकार तथा श्लेष है।

४—आकाश में देख कर जब पात्र ऐसा नाट्य करता है कि मानो कोई उससे कुछ पूछ रहा है और वह उसका उत्तर देता है तब उस कथोपकथन को आकाशभाषित कहते हैं। 'अप्रविष्टैः सहालापो भवेदाकाशभाषणम्' लक्षण है।

१४-मदारी अब दूसरे पुरुष से बात करता है। पहला राजसेवक था और यह दूसरा साधारण रास्ते पर से जाता हुआ पुरुष है जो मदारी को राक्षस का घर दिखलाने को लाया गया है।

२४-२७—चाणक्य और राक्षस दोनों ऐसे नीतिधुरंधर हैं कि यह पता नहीं लगता कि इस नीति युद्ध में किसकी विजय होगी और चाणक्य-रक्षित चंद्रगुप्त या राक्षस-रक्षित मलयकेतु राज्य करेगा।

२९—३२—चाणक्य ने यद्यपि चञ्चला लक्ष्मी को मौर्य-कुल में स्थिर रखने के लिये बुद्धिरूपी डोरी से बाँध रखा है पर राक्षस उसे अनेक षड़यन्त्रों से उपायरूपी हाथों से अपनाने के लिए अपनी ओर खींच रहा है। बुद्धिरूपी डोरी और उपायरूपी हाथ दो रूपक हैं। मौर्यकुल में राज्यलक्ष्मी का बन्धन और राक्षस द्वारा आकर्षण उत्प्रेक्षा है। अनुवाद में दूसरा रूपक नहीं आया है।

३४—नन्दकुल की राज्यलक्ष्मी इस संशय में पड़ी हुई हैं कि वह इन दो नीतिज्ञ मन्त्रियों—चाणक्य और राक्षस—में किसका पक्ष अवलम्बन करे। इस वाक्य में भी उत्प्रेक्षा है।

३५-६—जिस प्रकार जंगल में दो लड़ते हुए गजराजों के बीच में पड़ी हुई हथिनी संशय और डर के साथ इधर उधर धक्का खाती है उसी प्रकार दोनों विरोधी मंत्रियों के बीच में विचलित हो कर राज्यश्री भी खींचातानी में पड़ी धक्के खा रही है। इसमें भी रूपक और उत्प्रेक्षा है। लिखा जा चुका है कि यह अंक प्राप्त्याशा-पताका गर्भसन्धि से आरंभ होता है। 'उपायापाय

शंकाभ्यां प्राप्त्याशा कार्य सम्भवः' लक्षण है। चाणक्य की बुद्धिरूपी डोरी उपाय है, राक्षस कृत आकर्षण अपाय है और राज्यश्री का स्थैर्य शंका है इसलिये प्रात्याशा हुई। विराधगुप्त और राक्षस का कथोपकथन पताका है और इन्ही दोनों का संबंध गर्भसंधि है।

३८—ऊपर देखकर—चिन्ता या स्मरण करने में ऊपर देखना स्वाभाविक है।

४०–४३— जिस प्रकार यदुवंशी अपने गुण नीति आदि से शत्रुओं पर विजयी हुए पर ब्रह्मा की निठुरता से अर्थात् बाँए होने से उनका नाश हो गया उसी प्रकार नन्दवंश भी नष्ट हो गया। इसी चिंता में व्याकुल होकर मुझे नित्य प्रति दिन रात जागते ही बीतता है। मेरे भाग्य के इन विचित्र चित्रों को देखो जो किसी आधार पर नहीं बनाए गए हैं अर्थात मेरे वे अनेक निष्फल उपाय जो मैं चंद्रगुप्त को नाश करने के लिए दिन रात्रि गढ़ा करता हूँ या जिनकी कल्पना किया करता हूँ। नन्दकुल-रूपी आधार के न रहने से राक्षस का नीति-कौशल-रूपी चित्र लेखन व्यर्थ है।

यदुकुल का नाश उस वंश के युवकों के उद्धतपन और ऋषियों के शाप से हुआ था तथा नन्दवंश का नाश भी उद्धतपन और ब्राह्मण द्वारा हुआ था इसलिए इस उपमा का इस स्थान पर प्रयोग है। उपमालंकार और विशेषालंकार है।

४४—७-स्वामि-भक्ति को याद कर निस्वार्थ बुद्धि से और प्राण-भय तथा प्रतिष्ठा पाने की आशा छोड़कर अबतक जो कुछ किया तथा मलयकेतु का दासत्व जो नित्य कर रहे हैं वह केवल इसी विचार से कि स्वर्गस्थित स्वामी अपने शत्रुओं का नाश देखकर प्रसन्न होंगे। परिसंख्यालंकार।

५०-३—गुणवान नंद को छोड़ कर क्षणिक सुख के लिये लक्ष्मी इस प्रकार शूद्र चंद्रगुप्त से मिल गई जिस प्रकार अमृत सर्प से। मतवाले हाथी के मरते ही जिस प्रकार मदधार भी साथ ही नष्ट हो जाती है उसी प्रकार तू भी नन्द के साथ क्यों न नष्ट हो गई ? ऐ निर्लज्जे अब तक तू संसार में जीवित है !

मूल में अमृत सर्पकी उपमा और 'निलज अजहूँ जग बसै' नहीं है।

लक्ष्मी का मदधार और अमृत के सादृश्य से उपमालंकार और सुख के हेतु शूद्रानुरक्ति से परिकरालंकार है। 'उक्तैर्विशेषणैः साभिप्रायैः परिकरो मतः' लक्षण है।

५२—६—क्या संसार में अच्छे कुलवाला कोई राजा नहीं रह गया था जो तू नीचगामिनी (जो अपनी जाति से नीचतर जाति का संपर्क करे) होकर शूद्र में अनुरक्त हुई।

मूल के एक श्लोक के पूर्वार्द्ध का अनुवाद यह दोहा है। और उत्तरार्द्ध का आगे का दोहा है।

५७-८—स्त्रियां जो स्वभावतः चंचल होती हैं वे कुलश्रेष्ठ और गुणी पुरुषों को छोड़कर बुरे मनुष्यों से प्रेम करती है।

मूल में स्त्रियों की चपलता का यह विशेषण अधिक है—"कास के फूलों की नोकों के समान चञ्चलता।" मूल में स्त्री के लिए पुरंध्री शब्द आया है जिसका अर्थ है उतार अवस्था की स्त्री जिसे पुत्र पौत्र आदि हो चुके हों और जो राजा तथा रानी के संदेशों को एक दूसरे के पास ले जाय। अनुवाद में वारबधू अर्थात् वेश्या शब्द आया है। शूद्रानुरक्त होने का कारण कुलीन राजा का अभाव न रहते वाक्य से दुश्चरित्रा स्त्रियों का चापल्य दिखलाया है।

६४-८—राक्षस अपने उन उपायों का मनन कर रहा है जो उसने

चंद्रगुप्त के नाश के लिये प्रयुक्त किए थे पर जीवसिद्धि को सुहृद कहलाकर नाटककार ने राक्षस के षड्यंत्र का खोखला पन दिखलाया है। क्योंकि वह वस्तुतः चाणक्य का चर है।

६९-७२—संतानवत्सल महाराज नन्द सिंह के बच्चे की नाईं जिसको पालकर वंश के सहित नाश को प्राप्त हुए उसीके मर्मस्थान को हम बुद्धि-रूपी तीर से विदीर्ण करेंगे यदि अदृश्य दैव कवच बनकर उसकी रक्षा न करेगा।

अनुवाद में विष-वृक्ष अहिसुत दो उपमाए बढ़ाई गई हैं। उपमा और रूपक दोनों हैं। राक्षस का "जो दुष्ट......आइहै" कहना आशंका सूचित करता है। उसे अपने बुद्धि-रूपी तीरों पर दृढ़ विश्वास नहीं है। पूर्वोक में चाणक्य का कथन इसके विपरीत दृढता और साहस से पूर्ण है।

७३—कंचुकी – अंतःपुर का द्वाररक्षक। साहित्यदर्पण में इसका लक्षण यों लिखा है—'अन्तःपुरचरो द्वारो विप्रो गुणगणान्वितः। सर्वकार्यार्थकुशलः कञ्चुकीत्यभिधीयते।'

७४-७७—जिस प्रकार चाणक्य की नीति ने नंद का नाश कर कुसुमपुर में चंद्रगुप्त को स्थापित किया उसी प्रकार वृद्धावस्था ने मेरी कामवासना का नाश कर मुझ में धर्म स्थापित किया है। यद्यपि अवसर पाकर राक्षस चंद्रगुप्त को विजय करने जायगा और उसी प्रकार लोभ भी यद्यपि (राजसेवा रूपी अवसर पाकर) धर्म को दबाना चाहता है पर शिथिल होने के कारण दोनो जयी नहीं हो सकते।

राक्षस का पराभव सूचित करता है। उपमालंकार है।

९३-८—राक्षस आभरण न पहनने की प्रतिज्ञा कर रहे हैं।

११६—बाईं आँख फड़कना पुरुषों के लिए अशुभ-सूचक है। सर्प-दर्शन भी अशुभसूचक है।

१३०-३१—भ्रमर सभी फूलों का रस लेकर जो एक वस्तु (मधु) बनाता है उससे संसार के अनेक कार्य होते हैं।

कुसुम का अर्थ पुष्प है और साथ ही वह कुसुमपुर भी व्यंजित करता है जिस पर यह अर्थ घटता है कि कुसुमपुर के रहस्यों का पता लगाकर जो वृत्तांत मैं (भ्रमर) बतलाऊंगा उससे भी बहुत काम होगा।' अप्रस्तुतप्रशंसालंकार है क्योंकि अप्रस्तुत भ्रमर द्वारा अपनी निपुणता दिखलाई गई है।

१३४--३५- नाटककार राक्षस का कार्य की भीड़ से घबड़ा जाना सूचित करता है।

१४२-४५- विवाहित स्त्री का स्थान पति के वाम भाग में है पर नंदवंश की राज्यश्री पर चंद्रगुप्त का नीतियुक्त अधिकार न था प्रत्युत उसपर बलात् अधिकार किया गया था इसलिये वह पत्नी के उपयुक्त वाम स्थान को छोड़कर चंद्रगुप्त के दक्षिण ओर बैठी थी। नंदराज्य के उद्धारार्थ राक्षस के प्रयत्नों को देखकर 'लक्ष्मी यद्यपि चंद्रगुप्त के कण्ठ को बाईं बाहु से वेष्ठित करती है पर वह हाथ गिर गिर पड़ता है। आलिंगन करने की इच्छा से दाहिने हाथ को भी उसके कन्धे पर (दोनों हाथों से सम्पूर्ण आलिंगन करने की इच्छा से) रखती है पर वह भी गोद में गिर पड़ता है और उसकी बुद्धि राक्षस की नीति से सशंकित हो रही है इससे वह अभी तक चंद्रगुप्त के वक्षस्थल पर अपनी छाती रख गाढ़ा आलिंगन नहीं करती।

इस पद से चंद्रगुप्त की राज्यश्री की अस्थिरता दिखलाई गई है। इसमें समासोक्ति अलंकार है।

१४७-९—मूल में "ननु विरूढ़श्मश्रुः" कैसी बड़ी दाढ़ी है यह अधिक है।

इस कथन से सूचित होता है कि राक्षस नीतिज्ञ होने पर अनेक

भूल किया करता था। पहले वह एकाएक चर का नाम पुकार उठा फिर उस बात को उड़ाने की चेष्टा में एक दूसरी भूल कर बैठा अर्थात् प्रियंवदक से कहा कि सर्पों से जी बहलाता हूं यद्यपि उसके पहले ही कह चुके थे कि 'साँप देखने को जी नहीं चाहता' और उसे इसलिए बुलाया था कि यह 'सुकवि है, मैं भी इसकी कविता सुनना चाहता हूं।'

१६२—शक जाति तिब्बत के उत्तर सर दरिया के तट पर बसने-वाली एक जाति थी जिसे चीनी 'से' या 'सै' कहते थे। यह जाति यूहेची जाति से पराजित हो कर भारतवर्ष की सीमाओं पर आ बसी थी जहाँ से ईसवी सन् से लगभग एक शताब्दी के पूर्व इस जाति ने भारत के पूर्वोत्तर प्रांत पर अधिकार कर लिया था। एक समय इनका राज्य नर्मदा तक फैल गया था। इनका चलाया शक संवत् इनके ऐश्वर्य का द्योतक है।

ईरानी लोग आयोनिया वालों के संबंध से ग्रीकों को यऊन कहते थे जिससे संस्कृत का यवन शब्द व्युत्पन्न है। किरात पहाड़ी जाति थी जो तीर चलाने और अहेर खेलने में बड़ी कुशल थी। कांबोज जाति हिंदूकुश पर्वत के आस पास बसती थी। वाह्लीक देश बलख को कहते हैं जिसे यूरोपीय जातियों ने वैक्ट्रिया नाम दिया है। अधिक वृत्तांत भूमिका में देखिए।

१६३-४—विराधगुप्त वर्तमान में हुई बातों के कहने के पहले मिलान मिलाने के लिए पूर्व की बातें कहता है कि किस प्रकार कुसुमपुर घेर लिया गया।

१६५—इस प्रकार के आवेग से राक्षस में धैर्य की कमी और गर्व का होना सूचित होता है।

१६८-७१—राक्षस कुसुमपुर को घिरा हुआ समझकर दुर्ग के रक्षार्थ सेना को आज्ञा देता है कि बुर्जों, दीवारों पर धनुर्धारी सेना

भेजो जिसमें वे शत्रु सेना पर तीरों की वर्षा करें, फाटकों पर मस्त हाथी रखो जिसमें शत्रु के हाथियों से युद्ध करने के लिए वे तैयार रहें और उन वीरों को जिन्होंने मृत्यु को जीत लिया है अर्थात् मृत्यु से नहीं डरते और यश को सर्वोपरि समझते हैं युद्धार्थ तथा यशोपार्जन के लिए मेरे साथ शत्रु के विरुद्ध जाने को नियत करो।

भुजंगप्रयात छंद है। वीररस का स्थायी भाव उत्साह है।

१७३—मूल के अनुसार अनुवाद में 'मैं अतीत की बातें कर रहा हूं,' बढ़ाया गया है।

१७४—मूल के अनुसार अनुवाद का पहला पाठ 'कौन बात सुनूं ? अब मैंने जान लिया कि इसी का समय आगया है,' बदल कर 'क्या अतीत .... करना है' पाठ रखना पड़ा।

१७७-८०—राक्षस कहते हैं कि महाराज नंद हमें इस प्रकार कह कर कि "हे राक्षस ! जहां हाथियों का झुंड खड़ा है वहां जाकर उसका और उसी प्रकार इस घोड़ों के समूह का प्रबंध ठीक रखो तथा यह पैदल सेना भी तुम्हारे ही प्रबंध में है इसलिए इस सब कार्य को मन लगाकर करो" हमें एक होने पर भी अपने काम के लिए हजार के समान मानते थे।

उत्प्रेक्षा है। इस पद से आत्मश्लाघा की ध्वनि भी निकलती है।

१८१-९०-मूल के अनुसार इस में कहीं कहीं पाठ भेद करना पड़ा है।

१९२ ९५-चंद्रगुप्त के विनाशार्थ भेजी हुई विषकन्या से चाणक्य ने चालाकी से पर्वतक का नाश किया जिस प्रकार अर्जुन को मारने के लिए रखी हुई अव्यर्थ शक्ति को कृष्ण जी के कौशल से कर्ण ने घटोत्कच पर चलाकर उसे मार डाला था।

मूल के दो शब्दों, का—एकपुरुषव्यापादिनी और तद्वध्यम्-अर्थ नहीं आया है। इनसे पद के उपमान और उपमेय की समा

नता और भी शिथिल होती है इससे इनका न होना ही अच्छा है। प्रथम शब्द विषकन्या और शक्ति दोनों के लिए आया है पर दूसरे का उपर्युक्त विशेषण होते हुए भी पहले पर ठीक नहीं घटता। दूसरा पर्वतक और घटोत्कच के लिए है। चाणक्य पर्वतक को आधा राज्य देने का लोभ देकर सहायतार्थ लाए थे पर उनकी कभी अर्द्ध राज्य देने की इच्छा नहीं थी और वे पर्वतक को मार डालने का अवसर ढूंढते थे। किंतु कृष्ण जी का घटोत्कच को मार डालने में कोई स्वार्थ नहीं था।

कर्ण के शरीर पर अभेद्य कवच था जिसके कारण वह किसी प्रकार नहीं मारा जा सकता था। इस कारण इंद्र ने स्वपुत्र अर्जुन के रक्षार्थ ब्राह्मण रूप धारण कर दानी कर्ण से उस कवच की याचना की। कर्ण ने इंद्र के कपट को समझकर वह कवच तो उन्हें दे दिया पर एकघ्नी शक्ति माँग ली जिसे यत्न से अर्जुन के वधार्थ रखता था। युद्ध में भीम के पुत्र घटोत्कच ने कर्ण को ऐसा घेरा कि अंत में उसे कौरव सेना के रक्षार्थ उस शक्ति को चलाना पड़ा जिससे घटोत्कच मारा गया। यह हिडंबा नामक राक्षसी का पुत्र था. जिसके भाई हिडंब को भीम ने उस समय मार डाला था जब वे वारणावर्त से भाइयों के साथ भाग रहे थे। हिडंबा ने भीम से विवाह कर लिया था जिससे यह पुत्र हुआ था। महा भारत में यह कथा विस्तार के साथ दी गई है।

चाणक्य ने पर्वतक की मृत्यु के विषय में जो झूठी बात उड़ाई थी कि राक्षस ने विषकन्या प्रयोग कर उसे मार डाला था वह राक्षस को अभी तक विदित नहीं था।

१९९—वैरोधक—संस्कृत प्रतियों में वैरोचक है।

२०४-५—इस से बाहर ····जाँच लो—मूल का भाव है कि 'बाहरी द्वार से लेकर समग्र राजभवन की तैयारी करो'। आगे के 'तोरनों से शोभित करने' से भी इसी से मिलान मिलता है।

२१४-राजभक्ति—दारुवर्म की यह राजभक्ति नंदों के प्रति थी जिनका बदला लेने की उत्कट इच्छा से उसने जल्दी कर दी।

२१५ विकल्प—संशय, संदेह।

२२५—उस सीधे ·····बना कर—इस स्थान पर मूलमें 'तपस्विनः कमपि उपांशुवधम् आकलय्य' है जिसका अर्थ हुआ कि तपस्वी की किसी प्रकार गुप्तहत्या करने का निश्चिय कर।

वस्तुतः चाणक्य ने यही समझकर कि राक्षस ने राजभवन प्रवेश के समय चंद्रगुप्त को मार डालने के लिए अवश्य अनेक उपाय किए होंगे और उन उपायों का उसे पूर्ण पता हो या न हो इसलिए उसने चंद्रगुप्त के स्थान पर वैरोधक को सजाकर भेजा कि यदि यह मारा जाएगा तो उसी का दोनों तरह लाभ है।

२४२-३—जिस ·····भेजा था—मूल में इस प्रकार है 'युष्मत् प्रयुक्तेनैव चंद्रगुप्तनिषादिना वर्व्वरकेण' अर्थात् 'आपका भेजा हुआ चंद्रगुप्त का हाथीवान् वर्व्वरक'। चंद्रगुप्त को मारने के लिए ही भेजना राक्षस का उद्देश्य था। निषादी का अर्थ हाथीवान है। इन प्रबंधों से चाणक्य की दूरदर्शिता तथा सजगता प्रकट होती है।

२४६—५०—तब उस ···· मारा गया—मूल का अक्षरशः अनुवाद यों है—इसके अनंतर जघन पर आघात लगने की आशंका से हथिनी ने जल्दी चलकर अन्य गति का अवलंबन किया। हथिनी पहले जिस गति से चलती थी उसीके अनुसार छोड़ा गया यंत्र लक्ष्यभ्रष्ट हो गया और छूरा खींचने में हाथ को

फँसाए हुए तथा चंद्रगुप्त समझकर वैरोचक को मारने को उद्यत वर्व्वरक दारुवर्मा द्वारा मारा गया।

२६६—चाणक्य ने उसको देख लिया अर्थात् औषधि को देख उसमें विष होने की शंका कर उसकी परीक्षा की।

२७७—संस्कृत में दो पाठ मिलते हैं—'आत्मविनाशः' और 'यदि तरेषाम्।' इनका अर्थ हुआ - 'अपना नाश' और 'जैसा औरों ने।'

२८५—राक्षस दैव को दोष देता है पर उसकी असफलता के कारण चाणक्य की सतर्कता तथा उसके चरों की असावधानता थी।

३०२—५—चंद्रगुप्त को मारने के लिए जो विषकन्या भेजी गई उससे पर्वतक को मारा जिसका आधे राज्य पर स्वत्व था। मारने के लिए जिन लोगों को भेजा वे सब अपने कल (यंत्र) और बल (शस्त्रादि) के साथ मारे गए. इस प्रकार मेरी नीति से उलटा मौर्य का ही मंगल-साधन होता है।

इनमें विषमालंकार है क्योंकि विफल—मनोरथ होने से अपना ही अनिष्ट संभव होता है।

३०७—१०—अधम श्रेणी के पुरुष विघ्न के डर से किसी कार्य को आरंभ नहीं करते, मध्यम श्रेणीवाले आरंभ कर विघ्न आ जाने से बीच ही में उसे छोड़ देते हैं (यदि विघ्न न आने के कारण वे उसे पूरा कर लें तो भी उन्हें वह महत्ता नहीं मिल सकती जो उत्तम श्रेणीवालों को मिलती है) और उत्तम कक्षा में वे होते हैं जो अनेक विघ्नों के रहते भी अपने कार्य को अंततः सफलता से पूर्ण करते हैं।

इसका मूल श्लोक भर्तृहरि के नीतिशतक से लिया गया है। इसमें उपमालंकार है और अप्रस्तुत-प्रशंसा की ध्वनि भी निकलती

है। कई श्रेणी होने के कारण व्यतिरेकालंकार भी कहा जा सकता है।

३११—१४—क्या शेष मस्तक पर पृथ्वी का बोझ रखने के कारण व्यथित नहीं होते ? पर वे उसे गिरा नहीं देते। सूर्य दिन रात भ्रमण करते हुए क्या नहीं थकते ? पर वे कभी नहीं रुकते। उसी प्रकार सज्जन यदि किसी को अपनी शरण में लेते हैं तो उसकी भलाई करते हैं। यही भले आदमियों का नियम है।

पहले दोहे में प्रतिवस्तूपमा है। दूसरे दोहे में मूल की रूपणवत् उपमा नहीं आ सकी।

३१५—मल में राक्षस का कथन यों है - मित्र! तुम यह दिखला रहे हो कि प्रस्तुत कार्य त्यागने योग्य नहीं है। हां, फिर।

मूल में प्रारब्धम् शब्द है जिसका अर्थ वहां 'प्रस्तुतम् कार्यम्' से है पर अनुवाद में 'भाग्य' लिया गया है।

३१६—मूल में नंद के मंत्रियों के स्थान पर दो पाठ हैं—कुसुम पुरवासिनो नंदामात्यपुरुषान् और कुसुमपुरवासिनो युष्मदीयानाप्त पुरुषान्।

३२०—१—चाणक्य अपनी नीति की एक चाल से अनेक कार्य करता है जैसे केवल क्षपणक को देशनिर्वासन का दंड लगाकर पर्वतेश्वर को आधा राज्य न देने के लिए मार डालने का अपना अपयश हमारे माथे मढ़ दिया, अर्थात् अर्द्धराज्य की प्राप्ति, अपने अपयश का प्रक्षालन और उसे राक्षस के माथे आरोपित करना। तीन कार्य एक ही चाल से पूरा किया।

इसमें काव्यलिंग अलंकार है। साहित्यदर्पण में इसका लक्षण यों दिया है 'हेतोर्वाक्यपदार्थत्वे काव्यलिंगमुदाहृतम्'। विषम अलंकार भी है।

३४१—२—केवल यही शोक है कि प्राण के लोभ से अपने स्वामी

का परलोक तक अनुसरण नहीं किया और कृतघ्न हो कर जीवित है।

राक्षस यह मानों अपने लिए कहता है पर वह उन लोगों पर घटता है जो वस्तुतः प्राण के भय से अपने स्वामी के किसी काम न आवें। क्योंकि राक्षस तो स्वयं स्वामी के उपकार को न भूलकर उसी के कार्य में लगा हुआ है इसलिए वह कृतघ्न नहीं हो सकता। विराधगुप्त ने इसी दोहे को दुहराकर यही व्यंजित किया है।

इस कारण इसमें बिना प्रश्न का परिसंख्यालंकार है और स्वामी का अनुगमन न करने से कृतघ्न होना दिखलाने में काव्यलिंग अलंकार हुआ। दोनों अलंकारों के होने से संसृष्टि हुई।

३५९—राक्षस जानता था कि चंदनदास के कारारुद्ध होने का क्या फल होगा इसी से वह अपने को बाँधा हुआ मानता है।

३६४—राक्षस ने सेवक के सामने भूल से गुप्तचर का नाम ले लिया। प्रसन्नता के वेग में उसे वह छिपा न सका। चाणक्य कभी ऐसा न करता।

३७१-७८-दृढ़ता से चंद्रगुप्त के न्यायदंड रूपी सूली को गड़ा हुआ देखकर शकटदास को राज्य का स्थैर्य भासित हुआ, फाँसी देने की डोरी के गले में पड़ने से उन्हें ज्ञात हुआ कि राज्यश्री इसी प्रकार चंद्रगुप्त के गले की हार हो गई और नंद राज्य का अंत होना घोषित करती हुई डौंड़ी को भी इन कानों से सुना पर इतने पर भी उनका प्राण शरीर से क्यों नहीं निकला इसका कारण उन्हें नहीं ज्ञात हुआ।

अनुवाद की पं० ३७६ का मूल यों है "श्रुत्वा स्वाम्युपरोधरौद्रविषमानाघाततूर्यस्वनान्" अर्थात् स्वामी के राज्यनाश का भीषण तूर्यनाद सुनकर मूल में प्राण न निकलने का कारण 'पहले

आघातों से (नंदनाश) हृदय का कठिन हो जाना' आ जाने से काव्यलिंग अलंकार बढ़ गया है।

इसमें उपमालंकार है। मौ के राज्यस्थैर्य की सूली से तथा राज्यलक्ष्मी का फाँस की डोरी से अयोग्य उपमा देने से वस्तुध्वनि होती है।

३८०—१—नंद के मारे जाने पर भी स्वामिभक्ति नहीं छोड़ते हैं और भूमि पर बैठकर स्वामिभक्तों की मर्यादा को स्थापित करते हैं।

बिना हेतु के कार्य होने के कारण विभावना अलंकार हुआ।

३९७ - चाणक्य के आज्ञानुसार सिद्धार्थक ने राक्षस की मुद्रा इस लिए उसे लौटा दी कि चाणक्य को उसकी अब आवश्यकता नहीं रह गई थी प्रत्युत् मुद्रा का राक्षस के पास ही रहना उस समय चाणक्य की चाल में सहायक था। (१) मुहर देने से सिद्धार्थक राक्षस का अधिक प्रिय पात्र हो जायगा।(२) राक्षस मोहर पास रहने से पत्र की मुहर के विरुद्ध कुछ कह न सकेगा और (३) मलयकेतु राक्षस के पास मुहर देख कर उसके किसी तर्क पर विश्वास न करेगा।

४११—सिद्धार्थक ने यह प्रश्न इसलिए किया था कि स्यात् राक्षस के कुटुंब संबंधी कुछ विशेष बात ज्ञात हो सके पर कुछ न होसका।

४३२—चंद्रगुप्त के विरुद्ध जो षड्यंत्र चल रहा था वह कुसुमपुरवासियों को मनोनीत है या नहीं।

४४३-४४—उत्तेजना देकर वैमनस्य को बढ़ाने के लिए कविता को साधन बनाया था।

४५६-५९—चंद्रगुप्त को इतने बड़े साम्राज्य का अधिपति होने का गर्व है और चाणक्य को इस बात का गर्व है कि यह सब मेरा

किया हुआ है। राज्यप्राप्ति और प्रतिज्ञा की पूर्ति तक दोनों का मार्ग एक था इससे वे मिले हुए थे और अब उनकी इच्छाएँ पूर्ण हो गई हैं इसलिए यदि वे आपस में झगड़ें तो कोई आश्चर्य नहीं है।

इसमें क्रमालंकार है। यह राक्षस का अनुमान मात्र है। यहीं तक पताका गर्भसंधि का अंत होता है।

———

तृतीय अंक

राक्षस के अभिलषित चाणक्य और चन्द्रगुप्त के बीच के विरोध को दिखलाने के लिए विम संधि का आरंभ होता है। यह चौथे अंक के अंत तक जायगा। राक्षस के अन्य उपायों के निष्फल जाने से केवल मौ कौटिल्य-विरोध-रूपी उपाय से ही फलप्राप्ति की निश्चय आशा अर्थात् नियताप्ति का और कौमुदी महोत्सव निषेध आदि कारणों का वर्णन तृतीय अंक में है। चौथे अंक में राक्षस और दूत के संवादरूप में प्रकरी अर्थात् प्रयोजन सिद्धि के साधन आदि का वर्णन दिया है।

पहले चंद्रगुप्त और चाणक्य के बीच विरोध होने के मुख्य कारण कौमुदी-महोत्सव के निषेध का व न कंचुकी के द्वारा कराया गया है। कंचुकी पहले अपनी वृद्धावस्था पर चिंतन करता है।

१-४-हे तृष्णे ! मैं अति बूढ़ा हो गया हूँ अब तू मुझे क्या नहीं छोड़ देती क्योंकि जिन पंचेंद्रियों के कारण तेरा आविर्भाव हुआ था वे सब शिथिल हो गईं और उनके साथ ही साथ दर्शन, गन्ध, रस, स्पर्श आदि विषयों की शक्ति भी क्षीण हो गई तथा सभी अंग (कर्मेंद्रिय) निर्बल हो जाने से तेरी आज्ञा मानने में तत्पर नहीं रहते।

चंद्रगुप्त की इच्छा तृष्णा और चाणक्य का निषेध जरा है जिससे यह ध्वनि निकलती है कि चाणक्य के कारण चंद्रगुप्त की आज्ञा का पालन नहीं होता। यह कंचुकी का निर्वेद वर्णन है और कार्योत्पत्ति होने पर भी कारण के न होने से विभावना अलंकार है।

५—सुगांगप्रासाद—गंगाजी के तट पर बने होने के कारण उस महल का इस प्रकार नामकरण हुआ। यहाँ से नगर और नदी का अच्छा दृश्य दिखाई पड़ता रहा होगा। सुगांगप्रासाद के लोग अर्थात् उस महल में नियुक्त अनुचर-वर्ग।

यहाँ भी आकाशभाषित संवाद के कारण कई पात्रों का रंगस्थल पर आना कम हो गया।

७—कौमुदी महोत्सव—कार्तिक की पूर्णिमा की पूर्ण चन्द्रबिंब का पूजन और व्रत होता है। यह शरद पूर्णिमा भी कहलाती है। 'कौमुदीः स्यात्कार्तिकके' के अनुसार कार्तिक मास का नाम भी कौमुद है। इसी अंक के पं २०० में देवोत्थान एकादशी का उल्लेख भी है, जो कार्तिक में होती है।

११—यहीं से विमर्शसंधि का प्रसंग आरंभ होता है।

१२—दइमारो—यह दैवोपहताः का शुद्ध अनुवाद है। दैव से मारे गए।

१३—१६—खंभों में फूलों की माला लपेटो, सुगंध द्रव्य जलाओ कि प्रासाद के खंभे सुगंधित हो जाएँ और पूर्णचन्द्र के समान कांतिवाले चँवर भी लटकाओ। राजसिंहासन के बोझ से दबकर गाय-रूपी पृथ्वी मूर्छित हो गई है। उसे चंदन-मिश्रित गुलाब-जल से सींचकर जगाओ। अर्थात् जिस प्रकार सिंह के वश हुई गाय मूर्छित हो जाती है, उसी प्रकार सिंहासन के भारी बोझ से पृथ्वी मूर्छित है। गाय या स्थान को सुगंधित द्रव्य से सिंचन कर होश में लाओ या सुगंधित करो।

पूर्वार्ध में पूर्णेंदु की किरणों के चामर के साथ साम्य से समासोक्ति अलंकार हुआ। सिंह के वश में हुई गाय से श्लेष और मूर्छा की संभावना से उत्प्रेक्षालंकार है।

२०—२३—बहुत दिनों का अनुभव प्राप्त क ˉ महाराज नंद ने जिस

राज्य-भार को वहन किया था, उसीको चंद्रगुप्त ने यौवनावस्था ही में अपने ऊपर ले लिया है। पर दृढ़ मनस्वी और बलवान होने के कारण उस कंटकमय दुर्गम मार्ग से कुछ भी नहीं हटता. और यदि (यौवन तथा शिक्षा योग्य अवस्था के कारण) गिरने लगता है, तो झट बिना घबड़ाए सँभल जाता है।

भारी राज्यभार-वहन में क्लेश आदि होना चाहिए पर नहीं होता इसलिए व्यतिरेकालंकार हुआ। दृढ़ गात के कारण दुर्गम मार्ग-रूपी राज्यभार वहन के लिए प्रस्तुत युवा चन्द्रगुप्त का अप्रस्तुत नववृषभ के साथ साम्य है, इसलिए समासोक्ति अलंकार हुआ।

२७—३०—जो दूसरे के कार्य में लगा है, वह अपना स्वार्थ बिगाड़ता है, और जो अपना कार्य स्वयं नहीं करता, वह किस बात का राजा है। जिससे दूसरों ही को लाभ पहुँचता है, वह पराधीन और मूढ़ है, तथा उस कूढ़ मस्तिष्क वाले को कठपुतली के समान कुछ भी स्वाद नहीं मिलता।

इन दोहों से चंद्रगुप्त का स्वार्थलोलुप होना दिखलाया गया है, पर उसके यौवन और नया राज्य पाने का विचार करने से यह दोष क्षम्य है।

३३—राज्य पाकर—मूल में 'आत्मवद्भिः राजभिः' अर्थात् 'जितेंद्रिय राजाओं के लिए' है, जिसके स्थान पर 'राज्य पाकर' दिया गया है।

३२—३६—मूल श्लोक का अर्थ यों है—

उग्र स्वभाव वाले से उद्विग्न हो जाती है और मृदु स्वभाव वालों के पास अपमानित होने के डर से नहीं ठहरती, मूर्ख से द्वेष करती है और अत्यंत विद्वान् से अनुराग नहीं करती, तथा अति शूर से डरती है और कायर का उपहास करती है इस

प्रकार अत्यादर प्राप्त वारांगना के समान राज्यलक्ष्मी को परितुष्ट करना अत्यंत कष्टकर है।

अनुवाद का अर्थ भी लिखा जाता है—

सहज ही चंचल स्वभाव वाली लक्ष्मी स्वामी को सदा क्रूर कहती है। वह मनुष्य के गुण अगुण (विद्वत्ता, मूर्खता) को नहीं देखती। सज्जन और खल (मृदु या दुष्ट स्वभाव वालों) को बराबर समझती है, शूर से डरती है और कायर को कुछ नहीं गिनती। बतलाओ कि वेश्या और लक्ष्मी को किसने वश में किया है?

मूल में अर्थ स्पष्ट हो जाता है। प्रस्तुत लक्ष्मी और अप्रस्तुत वेश्या के क्रिया-संबंध तथा अनेक क्रियाओं का एक ही कर्ता होने से प्रथम तीन पंक्तियों में दीपकालंकार है और मूल की चौथी में उपमा का समावेश हो गया है।

३७—मूल का 'कञ्चित काल' शब्द छूट गया था, पर आवश्यक होने से 'कुछ समय तक' बढ़ा दिया गया है।

४१—४४—जब तक शिष्य कार्य नहीं बिगाड़ता, अर्थात् अच्छा कार्य अच्छी प्रकार करता है, तब तक गुरु से कुछ नहीं कहता। पर जब वह कुमार्ग की ओर अग्रसर होता है, तब गुरु अंकुशरूपी वचन से उसे उस ओर से निवृत्त करता है (इसलिए वह गुरु के वाक्य के वशवर्ती है)। निर्लोभ गुरु के समान संतजन ही संसार में सदा स्वाधीन हैं।

कोष्ठक के भीतर का अंश मूल में नहीं है। इस अर्थ के अंत में मूल का कुछ अंश छूट गया है, जिसका अर्थ है कि 'हम इससे अधिक स्वाधीनता पाने की इच्छा से पराङ्मुख हैं।'

उपमेय वचन का कार्य उपमान अंकुश द्वारा होना दिखलाने से परिणामालंकार हुआ।

५१—५८—मूल में शरद् वर्णन तीन श्लोकों में किया गया है—

१—धीरे धीरे निर्मल होते श्वेत मेघखंड रूपी सिकतामय तटों सहित मधुर तथा अव्यक्त ध्वनि करने वाले सारसों से परि-व्याप्त और रात्रि के संयोग से विचित्र शोभा देनेवाले नक्षत्र रूपी विकसित कुमुदों से अलंकृत सुदीर्घ दस दिशाएँ आकाश से नदी के समान प्रवाहित होती हैं।

दिशाएँ नदी के समान और नदी दिशाओं के समान होने से पार-स्परिक उपमानोपमेय हुआ, इसलिए उपमेयोपमालंकार है। पर कुछ लोगों का मत है कि यह उपमालंकार ही है।

२—उच्छालित जल (नदी, तालाव आदि) को अपनी मर्यादा अर्थात् स्वाभाविक अवस्था पर स्थित करके, धान के पौधों को अच्छी फसल देकर नत करके और उग्र विष के समान मयूरों की मत्तता का अपहरण करके शरद् ने समग्र संसार को विनम्र बना दिया।

अचेतन जल, अल्पचेतन धान और सचेतन मोर को शरद् ने मानों विनम्र किया, इसलिए उत्प्रेक्षालंकार हुआ। उग्र विष के समान म्यादि में उपमा है। 'चाणक्य-नीति उच्छृंखल मलय-केतु को शांत, चन्द्रगुप्त को विनम्र तथा राक्षस की मत्तता हरण करती है' ऐसा इस श्लोक से व्यंजित होता है।

३—रति-कथा-चतुरा दूती जिस प्रकार खण्डिता नायिका को बहु-पत्नीक स्वामी के पास जाने के मार्ग पर उपस्थित कर और उसे प्रसन्न-चित्त कर स्वामी से मिलाती है उसी प्रकार शरद् ऋतु कृशसलिला गंगा को सागराभिमुखी कर और उसके निर्मलता तथा कृशता द्वारा प्रसन्न कर समुद्र से मिलाती है।

इसमें अर्थश्लेषानुप्राणित पूर्णोपमालंकार है। पर गंगाजी सी पतिव्रता कभी मान कर सागर से नहीं मिली थी, ऐसा पता

नहीं चलता। इस श्लोक से चन्द्रगुप्त के अभ्युदय की ध्वनि निकलती है। चाणक्य-नीति राज्य-लक्ष्मी को चन्द्रगुप्त के पास लाती है।

अनुवाद में शरद का स्वतंत्र वर्णन चार दोहों में किया गया है, जो मूल श्लोकों से भिन्न है। कौमुदी महोत्सव पूर्णिमा को होता है। इसलिए उसी दिन के शरद का वर्णन चन्द्रगुप्त द्वारा किया गया है।

शरद ऋतु के कारण नीला आकाश स्वच्छ हो रहा है। पूर्णकला से कलाधर शोभायमान हैं। चमेली का फूल सुगंध दे रहा है। नदी के तट पर सफेद कास के फूल फूले हुए हैं और तालाबों में कोईं फूल रही है, जिस पर भौंरे गुंजायमान हैं। चाँदनी वस्त्र, चंद्रमा मुख, तारावाली मोती की माला और कासपुष्प मुसकान है। यह शरद है या नई बाला है?

अन्तिम दोहे में संदेहालंकार है।

६१—ताकीद करना—मूल में 'आघोषितः' शब्द है, जिसका अर्थ 'घोषणा किया गया' है।

६८—७१—मूल श्लोक का अर्थ—

बातचीत में निपुण धूर्त नागरिकों के साथ भारी नितंबों के बोझ से धीरे धीरे चलनेवाली वारवनिताएँ राजमार्ग को शोभायमान नहीं करती हैं। ऐश्वर्यशाली नगरवासीगण भी अपने वैभवों के प्रदर्शन में पारस्परिक स्पर्धा दिखलाते हुए निशंक स्त्रियों के साथ इस उत्सव में योग नहीं दे रहे हैं।

स्वभावोक्ति अलंकार है। अनुवाद स्वतंत्र है। पहले दोहे में नगर की सजावट का न होना और दूसरे में नागरिकों का उत्सव में योग न देना दिखलाया है। अर्थ स्पष्ट है।

७९—मूल में 'दर्शकों के प्रति अति रमणीय दृश्य को' अधिक है।

८१—मूल में चंद्रगुप्त ने यह बात प्रतीहारी शोणोत्तरा से कहा था

और उसीने सिंहासन दिखलाया था। अनुवाद में कंचुकी द्वारा ही यह कार्य दिखलाया गया है। कोष्ठक के भीतर का अंश मूल में नहीं है और उसके स्थान पर शोणोत्तरा नाम दिया है।मूल में वैहीनर के साथ आदर से बातचीत करना दिखलाया गया है पर अनुवाद मे वह ध्वनि नहीं आई है।

८५—इस पंक्ति के अनंतर कोष्ठक में जो लिखा है उससे मूल में 'कोपानुविद्धां चिंतां नाटयन्' अधिक है अर्थात् चिंता और कोप प्रदर्शित करता हुआ।

८८—९३—ये तीन दोहे मूल से अधिक हैं। चाणक्य की पूर्व कृति का उल्लेख मात्र है। अर्थ स्पष्ट है।

९६—९९—मूल और अनुवाद का भाव एक होने पर भी उसके प्रकट करने में कुछ भिन्नता है, जो अलग अलग अर्थों के दिए जाने से ज्ञात हो जायगी। मूल का भावार्थ यों है—

'कृतानिष्ट सर्प के समान अपमानित चाणक्य ने जिस प्रकार नगर से बाहर निकलकर नंदों का नाश किया तथा मौर्य चन्द्रगुप्त को राजा बनाया, उसी प्रकार मैं भी चंद्रगुप्त की राज्यलक्ष्मी का अपहरण करूँगा ऐसा संकल्प कर राक्षस हमारी महद् बुद्धि का अतिक्रमण करना चाहता है।

अनुवाद का अर्थ इस प्रकार है—

चाणक्य ने नगर में आकर जिस प्रकार सर्प सा कार्य किया अर्थात् राजा नंद को मारकर चंद्रगुप्त को राज्य दिया, उसी प्रकार वह भी चंद्रगुप्त का अनिष्ट करना चाहता है। मेरे बलबुद्धि-रूपी पर्वत को वह अपनी छोटी बुद्धि से अतिक्रमण करना चाहता है।

सर्प की उपमा चाणक्य के लिए बहुत ही उपयुक्त है क्योंकि सर्प के दंशन से मृत्यु होती है, पर वह अपना फन किसी पर फैला-

कर उसे राजा बना देता है। दूसरी पर्वत की उपमा अनुवाद में लाई गई है। प्रथम पंक्ति में चाणक्य और सर्प के सादृश्य के कारण उपमानोपमेय और चौथी पंक्ति में उपमा अलंकार है।

१०२—०५—मूल श्लोक का भावार्थ—

चंद्रगुप्त घमंडी नंद नहीं है जिसका राज-काज दुष्ट सचिवों के ही ऊपर निर्भर था और न तुम ही चाणक्य हो। हमारे और तुम्हारे कार्यों में केवल यही सादृश्य है कि दोनों ने राजाओं से वैर किया।

अनुवाद का भावार्थ—

बिना अभिमान के चतुर मंत्री द्वारा राजकाज करते हुए चंद्रगुप्त तुम्हारे राजा नंद के समान नहीं है और न तुम चाणक्य ही हो, जो कठिन कार्य को पूरा करो; इससे हमारे साथ विरोध करने से तुम्हारा राज्य नहीं हो सकता।

बिना अभिमान और चतुर मंत्री आदि दोनों साभिप्राय विशेषणों के कारण परिकरालंकार और राक्षस में न्यूनता दिखलाने से व्यतिरेकालंकार हुआ।

१०७—१०—भागुरायण आदि मेरे भृत्यों ने मलयकेतु को घेर रखा है (अर्थात् उनसे उसकी कोई कृति छिपी नहीं रह सकती) और सिद्धार्थक आदि चर भी अपना अपना कार्य पूरा करके ही आवेंगे। देखो, अब भेद से काम लेकर (राक्षस ही के दाँव को उलटाकर अर्थात् उसी भेद-बुद्धि का, जो वह मुझ पर चलाना चाहता था, अनुसरण कर) चंद्रगुप्त से झूठा विरोध कर हम राक्षस ही का उलटे मलयकेतु से बिगाड़ करा देंगे।

मूल में इतना अधिक है कि 'यद्यपि राक्षस अपने को भेद नीति में कुशल समझता है'। चाणक्य के कार्यप्रणाली का निश्चय कर लेने से यहीं नियताप्ति हुई।

११२—१५—नृपमंडल की सेवा करते हुए भी प्राणों की शंका बनी रहती है, इसलिए केवल उदरपूर्ति के लिए सेवा करना कुत्तों का काम है।

काव्यलिंग अलंकार है।

११८—चाणक्य के आश्रम को देखकर व्यंग्य करता है।

११९—२२—चाणक्य के आश्रम का वैभव-वर्णन है। सवैया होने के कारण मूल से अनुवाद का वर्णन विशद हो गया है।

नाटककार ने चाणक्य के सादे गार्हस्थ्य जीवन का दृश्य दिखला दिया है।

१२—मूल में यहाँ यह वाक्य है—'यह देव चंद्रगुप्त को वृषल कहते हैं, सो उचित ही है।'

१२४—२७—गुरुजन अर्थात् विद्या-बुद्धि में बड़े पुरुष राजाओं की, धन की आशा में, झूठ ही बहुत से बनावटी गुण निकाल कर यहाँ तक प्रशंसा करते हैं कि उनका मुख सूख जाता है, पर वे रुकते नहीं। किंतु जिन निस्पृह व्यक्तियों को धनतृष्णा नहीं है, वे चापलूस नहीं होते और वे धनियों की तृण के समान उपेक्षा करते हैं अर्थात् उनसे धनियों का यशकीर्तन नहीं होता।

दूसरे दोहे में उपमालंकार है।

१२९—३०—जिसने सर्वलोक को पराभूत करके चंद्रगुप्त का राज्योदय तथा नंद का अस्त एक साथ किया, इसलिए वह सहस्त्ररश्मि सूर्य से बढ़कर है, जो सर्वत्र संचरण न करता हुआ क्रम से शीत और ऊष्णता का प्रवर्तक है।

यह मूल श्लोक का अर्थ है। अब अनुवाद का अर्थ इस प्रकार है—लोक का मर्दन कर तथा नंद का नाश कर चंद्रगुप्त को राजा बनाया, जिस प्रकार सवेरा होते ही सूर्योदय से चंद्रमा का तेज नष्ट हो जाता है।

मूल और अनुवाद के भावों में भिन्नता है। मूल का भाव है कि चाणक्य ने अस्तोदय साथ ही किया और सारे लोक को एक साथ पराभूत किया, जो सूर्य की शक्ति के बाहर है (क्योंकि आधी पृथ्वी पर उसका प्रकाश रहता है) इस लिए वह सूर्य से बढ़कर है। अनुवाद में वह भाव नहीं आया और सूर्योदय पर स्वभावतः चंद्रास्त का होना उपमा रूप में दिया गया है। पर इस चंद्रास्त का दिखाना अनुचित हुआ, क्योंकि उससे चंद्रगुप्त के अस्त की भी ध्वनि निकलती है।

१५४—मूल के अनुसार 'धीरे धीरे' बढ़ाया है।

१५८—५९—(राजधर्म से) हीन नंद से च्युत और चंद्रगुप्त से सुशोभित इस राजसिंहासन को, जो राजा के उपयुक्त है, देखकर मुझे बड़ा ही संतोष हो रहा है।

मूल में 'गुणा ममैते' (अर्थात् मेरी ही कृति से ऐसा हुआ है) अधिक है। सिंहासन के योग्य बतलाकर प्रशंसा करने से सम नामक अलंकार हुआ। 'सम योग्यतया योगो यदि संभावितः कचित्' काव्यप्रकाश का लक्षण है। संतोष के दो कारण होने से समुच्चय अलंकार हुआ।

१६४—६७—सुरधुनी अर्थात् गंगा जी के जलकण से शीतल होने वाले हिमालय के शृंग जहाँ तक हैं और दक्षिण की ओर जहाँ तक बहु वर्ण के रत्नों से रंजित समुद्र बहते हैं, वहाँ तक के (इन दो सीमाओं के बीच के) सभी राजा तुम्हारे आतंक से आकर तुम्हें सिर नवावें, तो हम उनके मुकुटों की मणियों के संपर्क से रंगे हुए तुम्हारे पैरों को देखकर सुख पावें।

१७२—मूल के अनुसार 'कर्मचारी' शब्द बढ़ाया गया है।

१८६—चंद्रगुप्त गुरु की आज्ञा पाने पर भी उनकी अप्रतिष्ठा नहीं

कर रहे थे, इससे चाणक्य नें रुखाई से वात चीत कर अब क्रोध उभाड़नें की चेष्टा की।

१९१—वैतालिक—विविध प्रकार के ताल-लय से स्तुति-पाठ करने वाले को वैतालिक कहते हैं।

१९२-२०२—मूल श्लोक जिसका कि यह पद अनुवाद है उस में भाव स्पष्टतया व्यक्त नहीं है। अनुवाद में वह स्पष्ट होगया है। शरद ऋतु और महादेवजी में सादृश्य दिखलाया गया है।

शरद ऋतु नें महादेवजी के समान भस्म के स्थान पर कास के फूलों का मानो अंगराग धारण किया है, चंद्रमा महादेवजी के मस्तक पर और शरद की चांदनी के आकाश में शोभायमान है, महादेवजी गजखाल ओढ़े हुए हैं तो शरद ऋतु ने आकाश में चाँदनी में चमकता हुआ मेघ-खंड धारण कर लिया हैं, मुंडमाला के स्थान पर शरद ऋतु के शुभ्र फूल फूले हुए हैं और राजहंसों की पंक्ति मानों महादेवजी का हास्य है। ऐसी शरद ऋतु जिस महादेवजी का स्वाँग धारण कर आई है (वे आप लोगों का कष्ट हरें)।

कोष्ठक के भीतर का अंश अनुवाद में नहीं आया है, पर मूल में है। इस पद में रूपकालंकार है।

१९९—५—"शेते विष्णुः सदाऽऽषाढ़े कार्तिके च विबुध्यते" चार मास सोने पर शरद के अंत में कार्तिक शुक्ल एकादशी को भगवान विष्णु की निद्रा भंग होती है। उसीका विचार कर नाटककार ने यह पद शरद वर्णन के अनंतर रखा है।

विष्णु भगवान के नेत्र तुम्हारी बाधा का हरण करें। शरद का अंत होता देखकर जब शेषनाग के वक्षस्थल पर सोते हुए जगत-पिता की निद्रा खुली, तब उनके अधखुले, अलसाए हुए और कटीले नेत्र ऐसे शोभित हुए जैसे लाल रंग के कमल [या

कमल के समान लाल]। यद्यपि नेत्र लाल हैं पर मदमाते होने से वे इस प्रकार स्थिर हो रहे हैं कि शेषजी की सहस्र मणियों की चमक से चकचौंधी लगने पर भी वे अच्छी तरह बंद नहीं हो जाते। निद्रा से भरे हुए और बहुत प्रयत्न पर जगे हुए वे नेत्र जो लक्ष्मीजी के हृदय में नित्य ही चुभते रहते हैं, आपलोगों की बाधाओं का निवारण करें।

स्वभावोक्ति अलंकार है और उपमा का भी समावेश है। मूल से अनुवाद में कुछ विशेष बातें आगई हैं!

२०७—१०—ब्रह्मा ने जिन पुरुषों को संसार का श्रेष्ठतम कार्य दिया है (अर्थात् राजा बनाया है) वे उन सिंहों के समान है जो सर्वदा बड़े बड़े मस्त हाथियों पर विजय प्राप्त करते रहते हैं और उनमें जिनको कभी किसी के आगे झुकना नहीं पड़ा वह नृप श्रेष्ठ (अर्थात् चक्रवर्ती सम्राट्) ही संसार के शिरमौलि हैं तथा वे अपनी आज्ञाभंग को उसी प्रकार सहन नहीं कर सकते जिस प्रकार सिंह अपने दातों का उखाड़ना। अर्थात् जिस प्रकार सिंह अपने दातों के उखाड़ने वालों को नष्ट कर डालता है उसी प्रकार राजालोग आज्ञाभंग करने वाले का नाश कर डालते हैं।

उपमालंकार है।

२११—१२—बहुत आभूषणों के धारण कर लेने से ही कोई राजा नहीं होता। जिसकी आज्ञा नहीं टलती, वही आपके समान वास्तव में राजा है।

द्वितीय अंक की ४५७ वीं पंक्ति में राक्षस ने विराधगुप्त द्वारा स्तनकलस नामक कवि को जो आज्ञा भेजी थी, उसीके अनुसार उसने वैतालिक का रूप धारण कर चंद्रगुप्त तथा चाणक्य में भेद उत्पन्न करने के लिए ये अंतिम दोहे कहे थे।

२१७—वस्तुतः 'चाणक्य सो नहीं गया है' अर्थात् उसने पहले ही से राक्षस की भेद-बुद्धि का पता लगाकर बनावटी कलह करने की तैयारी कर रखी है।

२१८—मूल में एक लाख मुहर दोनों वैतालिकों को देने की आज्ञा दी गई थी, पर अनुवादक ने उसका दूना कर दिया है।

२२१—'क्रोध से' मूल के अनुसार बढ़ाया गया है।

२३३—मूल के अनुसार वृषल शब्द बढ़ाया गया है।

२३५—मूल में 'ममाज्ञाव्याघातः' है, जो 'ममाज्ञा व्याघातः' अथवा 'अव्याघातः' हो सकता है।

पहले का अर्थ 'मेरी आज्ञा का भंग करना' और दूसरे का 'मेरी आज्ञा का अनुल्लंघनीय होना' है। अनुवादक ने यहाँ दूसरा अर्थ लिया है जिसका तात्पर्य 'मेरी आज्ञा का पालन' है। यही ठीक है, क्योंकि पहला प्रश्न चंद्रगुप्त ही का था और अब वह अपने को स्वतंत्र राजा समझ रहा था।

२३६—अपालन = न मानना।

चाणक्य ने कौमुदी महोत्सव के प्रतिषेध का प्रथम कारण जान बूझ कर आज्ञाभंग करना बतलाया है और ऐसा क्यों किया उसका कारण भी दो दोहों में दिया है।

२३८—४१—मूल श्लोक का अनुवाद इस प्रकार है –

जिनके तटों पर तमाल वृक्षों के पत्तों से काले हुए घोर बन हैं और जिनके जल बड़ी मछलियों के संचार से खलबलाते रहते हैं, वैसे चारों समुद्रों के प्रांतों तक से आए हुए सैकड़ों राजे तुम्हारी जिस आज्ञा को अवनत-मस्तक होकर फूल की माला के समान सिर पर धारण कर लेते हैं उसका केवल हमारे द्वारा भंग होने से तुम्हारा प्रभुत्व विनय गुण से अलंकृत होकर घोषित होता है।

अनुवाद में श्लोक का कुछ भाव आगया है, केवल समुद्रों के विशेषण-रूपी दोनों वाक्य नहीं आए हैं। व्याघात तथा उपमा-लंकार है।

२५०—स्वस्ति शब्द मंगल सूचनार्थ पहले दिया गया है।

२५१—साथी—राज-कर्मचारीगण, जो राजाओं के साथ रहते हैं, राज-पुरुष।

२५२—प्रमाण पत्र—मूल की कुछ प्रतियों में 'परिमाण लेख्य पत्र' और कुछ में 'प्रमाण लेख्यपत्र' लिखा है, पर अनुवाद में प्रतिज्ञा पत्र था जो इस स्थान पर अनुपयुक्त है। इसलिए उसे प्रमाणपत्र बना दिया गया है। आगे भागनेवालों की सूची मात्र दी गई है, जिससे भी यही शब्द यहाँ ठीक मालूम होता है।

२५९—प्रकृत पत्र पढ़कर सुना दिया, पर उसमें जो रहस्य था उसे अप्रकाशरूप से मन ही में सोचकर रह गए।

२७२—राजसेन ने कभी उतना ऐश्वर्य देखा नहीं था, और जब चंद्रगुप्त की कृपा से उसे सब एक ही बार मिल गया, तब उसे इस बात की चिंता हुई कि जिस प्रकार यह सब एकाएक उसे दिया गया है, उसी प्रकार छिन न जाय। इसलिए वह दूसरे के यहाँ सब ले-दे कर चला गया। यही कारण बतलाकर वह मलयकेतु का विश्वस्त सेवक बन गया।

२८६—भागुरायण आदि को चाणक्य ने चंद्रगुप्त ही के कार्य से मलयकेतु के पास भेजा था पर उनसे भी असली बात को छिपाकर उनके असंतोष का बनावटी कारण बतलाया है।

३०२—मूल में 'राज्यस्य मूलं' अर्थात् 'राज्य की जड़' है।

३१०—अनुग्रह-पक्ष के कथन का अन्त होने पर दूसरे दंड-पक्ष का आरंभ हुआ। इसका आशय यह है कि यदि नंद-पक्ष के उन लोगों को, जिन्होंने चंद्रगुप्त का साथ दिया था, दंड दिया

जाता, तो उस पक्ष के अन्य लोगों में असंतोष फैलता और नए राज्य में शांति स्थापन करने में अत्यधिक समय लगता।

३३०-१—पर्वतक के मारने का अपयश चाणक्य राक्षस के मत्थे मढ़ चुके थे; इसलिए उसके पुत्र मलयकेतु को पकड़ना उनको अभीष्ट नहीं था।

३५२—मूल में 'एवं सति उभयथापि दोषः' अधिक था; इससे अनुवाद में भी 'उसका अर्थ बढ़ा दिया गया।

३५३-५६—यदि राक्षस मारा गया होता, तो हम एक ऐसे गुण-संपन्न मनुष्य को खो देते और यदि हमारी सेना का नाश होता तो भी कष्ट होता। इसलिए उसे छलबल करके हम जंगली हाथी के समान अपने वश में करेंगे।

हाथी के पक्ष में बाँधने और राक्षस के पक्ष में अपनी ओर मिलाने से अभिप्राय है। उपमालंकार है। उपेक्षा, भेद, दंड, माया, साम और दाम आदि उपाय अर्थात् छलबल किए गए थे।

३६२—६७—यद्यपि आपने [चाणक्य] नगर पर अधिकार कर लिया था पर राक्षस की जितने दिन तक इच्छा रही उतने दिन तक कुशल से वे मानों सिर पर लात रखकर यहां रहे। जयघोषणा की डौंड़ी फेरते समय उन्होंने बलपूर्वक हमारे मनुष्यों को परास्त कर दिया और नागरिकों को इस प्रकार विना डर के प्रयोग के मोह लिया कि अपने लोग भी हम पर विश्वास नहीं रखते।

मूल में अन्तिम पंक्ति का अर्थ इस प्रकार है कि 'निज पक्ष के अत्यंत विश्वासभाजन मनुष्यों पर भी हमें विश्वास नहीं होता' अर्थात् इसीसे अब चाणक्य पर विश्वास नहीं होता। चरित्रोत्कर्षक वर्णन से उदात्त और सिर पर लात रखने के संबंध से अतिशयोक्ति अलंकार हुए।

३७०-७१—कहने का भाव या व्यंग्य यह है कि जिसकी प्रशंसा चंद्रगुप्त ने की थी वह उसके शत्रु मलयकेतु के पक्ष में था इसलिए ऐसा प्रशंसनीय व्यक्ति अंत में विजय प्राप्त कर मलयकेतु को चंद्रगुप्त के स्थान पर सम्राट् बना देगा।

जिस प्रकार चाणक्य ने नंदनाश कर चंद्रगुप्त को राजा बनाया, उसी प्रकार राक्षस मलयकेतु को चंद्रगुप्त का नाश कर राजा बनावेगा।

३७४—मूल में 'मत्सरिन्' शब्द है जिसका अर्थ है दूसरों के उत्कर्ष को न सहनेवाला अर्थात् द्वेषी। पर अनुवाद का कृतघ्न शब्द इस स्थान पर अधिक उपयुक्त है।

३७५-७८—मूल के दो स्रग्धरावृत्त के श्लोकों का भाव इन दो दोहों में लाया गया है. जिससे उपमादि के कुछ अंश छूट गए हैं। इसलिए पहले मूल श्लोकों का अर्थ दिया जाता है:—

क्रोध के कारण टेढ़ी हुई उँगलियों से शिखा को खोलकर संसार के सामने समस्त शत्रुवंश के नाश करने की भारी तथा उग्र प्रतिज्ञा करके राक्षस को देखते हुए निन्नानवे सौ कोटि के ईश्वर [महा ऐश्वर्यशाली] नंदों को पशु के समान क्रम से किस दूसरे ने मारा था?

आकाश में मंडल बाँधकर उड़ते हुए तथा निश्चल पंख फैलाए हुए गिद्धों के झुंड रूप धूँए से रविमंडल के छिप जाने से दिशाएँ बादलों से आच्छादित दिखला रही हैं। एवं इन स्मशानवासी प्राणियों [पशु-प्रेत आदि] के प्रसन्नार्थ नंदों की देह से निकले हुए मेद आदि से प्लावित चितानल अभीतक शांत नहीं होता। उसे देखो।

पहले श्लोक के अनुवाद दोहे में क्रोध से उंगलियों का टेढ़ा होना तथा पशु की उपमा नहीं आई है। पर तीसरी कमी अधिक

खटकती है। श्लोक में चाणक्य कहता है कि जिस राक्षस की चंद्रगुप्त ने इतनी प्रशंसा की है, उसीके देखते हुए उसने नंदनाश किया था। दूसरे श्लोक के अनुवाद में गिद्धों की उत्प्रेक्षा की कमी है और अन्य भावों के आते हुए भी वर्णनशैली में कुछ भिन्नता आ गई है। दूसरे श्लोक से यह ध्वनि निकलती है कि चाणक्य की कोपाग्नि अभी बुझी नहीं है।

३८३—यद्वा तद्वा—ऐसा-वैसा। अर्थात् वे अहंकार के कारण किसी प्रकार [सत्य या असत्य] समझा देते हैं। मूल में अविकत्थन शब्द है जिसका अर्थ आत्मश्लाघा करनेवाला है।

३८५—आज्ञा चलाता है—मूल में 'आरोढुम् इच्छसि' है, जिसका अर्थ है भर्त्सना करना चाहता है, अवज्ञा करता है।

३८६-८७—मूल श्लोक का अर्थ इस प्रकार है—

बँधी हुई शिखा को हमारा हाथ फिर से खोलने के लिए दौड़ता है और चरण भी फिर घोर प्रतिज्ञा करना चाहता है। नंदों के नाश होने से हमारी जो क्रोधाग्नि कुछ शांत हुई थी, उसे तुम कालप्रेरित होकर प्रज्वलित करना चाहते हो।

बद्धामपि का अर्थ बद्धुमिष्टामपि अर्थ लेना होगा, क्योंकि सातवें अंक के अंतिम पृष्ठ में 'केवल हम बाँधत शिखा, निज परतिज्ञा साधि' लिखा है। क्रोधाग्नि के कुछ शांत होने के समान खुली शिखा को कुछ बाँधना अर्थात् बाँधने की इच्छा करना ही अर्थ लेना ठीक है। अथवा क्रोध में चाणक्य को यह ध्यान न रहा हो कि शिखा अभी तक खुली हुई है। दूसरी प्रतिज्ञा करते समय विशेष जोर देने को इस बार हाथों के साथ पैरों का भी उल्लेख किया गया है। पर पैरों के साथ 'पुनरपि' ठीक नहीं है।

अनुवाद में 'खुली सिखाहू बाँधिबे चंचल भे पुनि हाथ' था। पर शिखा बाँधना हिंदूमात्र का धर्म है, इसलिये वह किसी प्रतिज्ञा

को चेतावनी नहीं हो सकती। मल के अनुसार भी अशुद्ध होने से उसका पाठ बदल दिया गया है, क्योंकि आगे का पुने शब्द भी पहले पाठ के विरुद्ध था। श्लोक के उत्तरार्ध का भाव दूसरे दोहे में स्वतंत्रता से व्यक्त किया गया है।

३९२-९५—इनके नेत्रों की पिंगल वर्ण कांति क्रोध के कारण ऊपर चढ़े हुए पक्ष्मों से निकलते हुए विमल अश्रुद्वारा प्रक्षालित और छोटी हुई मानों टेढ़ी भ्रूरूपी धूएँ के साथ एकाएक प्रज्वलित हो उठी ह। पृथ्वी ने इनके पदाघात को उग्र कंपन के साथ इस प्रकार सहन कर लिया है मानों, ऐसा ज्ञात होता है कि, उसे रौद्ररस के अभिनयकारी रुद्र भगवान के तांडव का स्मरण हुआ हो।

दोहे का अर्थ स्पष्ट है, पर श्लोक का वह अधूरा अनुवाद ह। श्लोक के रूपक, उत्प्रेक्षा तथा स्मरण अलंकारों का लोप हो गया।

३९८—मूल में 'आकाशे लक्ष्यं बद्ध्वा' अधिक था; इससे 'ऊपर देखते हुए' बढ़ाकर दोनों कोष्ठकों को एक कर दिया गया है।

४०१-०५—मूल श्लोक का अथ यों ह—

हे धूर्त ! तुमने चंद्रगुप्त का चाणक्य के प्रति अनुराग कम कर के अनायास विजय प्राप्त करने की आशा से जिस भेदनीति का प्रयोग किया है, वह सब भेदनीति तुम्हारा ही अनिष्ट संपादन करेगी।

भाव यह है कि यह भेदनीति चाणक्य और चंद्रगुप्त में वैमनस्य उत्पन्न करने के बदले राक्षस और मलयकेतु में शत्रुता उत्पादित करेगो। इस कारण इसमें विषमालंकार है। अनुवाद में ४०४ थी पंक्ति मूल से अधिक है। वास्तव में चाणक्य की यह आशा पूर्ण हुई। इस झूठे कलह से राक्षस चाणक्य के चरों की ओर से निश्चित सा हो गया और

उसने उसे युद्ध का सुअवसर मान लिया। साथ ही मलय-केतु का चंद्रगुप्त के यहां से भागे हुए भागुरायणादि पर विश्वास बढ़ गया कि ये वस्तुतः असंतुष्ट होकर आये हैं। राक्षस चंद्रगुप्त का मंत्री होना चाहता है, इस आशय के चाणक्य के पत्र तथा भागुरायण के बातचीत पर भी मलयकेतु को विश्वास होने लगा और उसने भी चंद्रगुप्त को आपत्ति में फँसा समझकर उस समय को युद्ध के लिये उपयुक्त मान लिया।

४११-१२—यदि राजा मंत्री का अपमान करता है, तो उस में भी मंत्री का दोष है (क्योंकि मंत्री की सम्मति से ही सब कार्य होता है)। जिस प्रकार हाथीवान की असावधानी से हाथी दुष्ट होकर अपवादित होता है।

हाथी के पर्यायवाची शब्द नाग, व्याल भी हैं। यहाँ व्यालत्व से अपवाद का भाव है-व्यालो दुष्टगजो सर्प-इति हैमः। दृष्टांत देने के कारण दृष्टांत अलंकार है। अनुवाद में 'मंत्री की अवमानना करता है' के स्थान पर 'तत्काल दुष्टहो जाता है' है।

४१६—मूल में 'स्वकार्यसिद्धि कामः' अधिक है।

४२१-२—मूल का अर्थ—

गुरु चाणक्य की आज्ञा से हमने उनका अनादर प्रदर्शित किया है, तथापि मेरी बुद्धि पृथ्वी के विवर में समा जाने को उद्यत है। जो वस्तुतः गुरुजन की अवमानना करते हैं, उनके हृदयों को लज्जा क्यों नहीं विदीर्ण कर देती।

अनुवाद में भाव आ गया है। दोहे के प्रथम चरण में काव्यलिंग अलंकार है।

चतुर्थ अंक

१. करभक–करिशावक, हाथी का बच्चा, यहाँ एक दूत का नाम है।

राक्षस और दूत के संवाद रूप में अल्प कथा प्रकरी पूर्ण की गई है।

२–३–स्वामी की पूर्ण आज्ञा विना ऐसा कौन है जो अत्यन्त दुर्गम स्थान में सैकड़ों कोस दूर दौड़कर जायगा?

मूल में गमनागमन (अर्थात् जाना आना दोनों है। कारणोत्पादन से काव्यलिंग अलंकार हुआ।

१२–१३–मूल श्लोक का अर्थ इस प्रकार है—

हमारे कार्यारम्भ में दैव की प्रतिकूलता और हमारे सभी प्रयोगों का कौटिल्य की कुटिल बुद्धि द्वारा पूरा प्रतिरोध होने से किस प्रकार काम चलेगा इत्यादि विषयों पर विचार करते करते रात विना निद्रा के व्यतीत हो जाती है।

अनुवाद में श्लोक का भाव आ गया है पर उन्निद्रावस्था के समय के विचारों की केवल एक शृंखला दी गई है।

१५–१८–मूल श्लोक का अर्थ इस प्रकार है—

पहले संक्षिप्त रूप में कार्य आरम्भ करके तब विस्तार के विधान के साथ गर्भित बीज को गहन फल के गूढ़ भेद के साथ दिखलाते हैं। कार्यसिद्धि और विघ्नों का बुद्धि से विचारकर फैले हुए कार्यों को संकुचित करने में नाटककर्ता और हमारे से पुरुष ऐसे क्लेशों को सहन करते हैं।

इसके अनुवाद में सभी भाव आगए हैं पर एक कमी है कि मूल में ऐसे शब्दों का अधिक प्रयोग है जिनके दो दो अर्थ हैं और जो दोनों पक्षों में लग जाते हैं। प्रस्तुत मंत्री तथा

अप्रस्तुत नाटककार का साधर्म्य स्थापित करने से दीपका-
लंकार हुआ और कुछ शब्दों में श्लेष है।
इस पद में नाटककार ने नाटक लिखने की शैली दिखलाई है।
नाटक में पाँच विभाग अर्थात् सन्धियाँ होती हैं जिन्हें-
मुखप्रतिमुखे गर्भः सविमर्शोपसंहृतिः—कहते हैं।
कुछ शब्द जिनके दो अर्थ हैं—
(क) आरम्भ—१. शुरू करना। २. मुख-सन्धि, नाटकारम्भ।
(ख) गर्भित—१. किसी उपाय का वह रूप धारण करना जब
फल का चिह्न दिखाई पड़ने लगे। २. गर्भसंधि से तात्पर्य
है जिसमें घटना के उत्पादन में ऐसी रुकावटें आ पड़ती हैं
जिससे अन्तिम फल का आभास मिलता है।
(ग) सकुचावहीं—१. सब कार्यों को बटोरकर अपने इच्छित
फल का प्रतिपादन करते हैं। २. निर्वहण सन्धि से अर्थ है।
नाटक का उपसंहार जिसमें घटनाचक्र को संकुचित कर
उसका फल प्रतिपादित होता है।
२५-मूल में 'पकड़ा जा सकता है अमात्य' के अनंतर यह है कि
'बाईं आँख का फड़कना इन प्रस्तावों का प्रतिपादन करता
है'। इसके स्थान पर अनुवाद में यह अंश है—यह उलटी
बात हुई और उसी समय असगुन भी हुआ।
३७-मूल के अनुसार 'यह' के बाद 'कार्य के आधिक्य के कारण'
बढ़ाया गया है।
४१-४२-मूल के श्लोक का अर्थ—
निखिल मंगलालय देवतों के समान राजाओं का दर्शन ही नीचों
को दुर्लभ है; उनके सन्निकट होना तो दूर की बात है।
अनुवाद का अर्थ स्पष्ट है। मूल में दीपकालंकार है।
५१-५४—छाती पीटने से जिनकी चूड़ियाँ फूट गईं, आँचल कहाँ

हट गया है इसकी जिन्हें कुछ भी सुध नहीं है, 'हाय, हाय' करके जो रो रही हैं और धूल में लोटने से जिनकी चोटियाँ धूल से भर गई हैं ऐसी वैधव्य शोक के कारण जो दशा मेरी माताओं की हुई थी वही दशा मैं शत्रु की स्त्रियों की कराकर (उनके पतियों को मार उन्हें वैधव्य शोक में डालकर) पिता को तृप्त करूँगा।

हुए और न हुए वस्तुसंबंध के बिंबानुबिंब भाव से निदर्शना अलंकार है। 'मातृगण' की जो दशा हुई वही शत्रु स्त्रियों की करने से समविनिमय परिवृत्ति अलंकार भी हुआ।

५६-७—रण में मृत्यु पाने से वीरों की गति पाकर हम भी पिता के पास चले जायँगे अथवा अपनी माताओं के शोकाश्रु को (उनकी आँखें बदला लेने से शुष्क कर) शत्रु के स्त्रियों की आँखों में रखेंगे (अर्थात् उनके आँखों से शोकाश्रु प्रवाहित करेंगे)।

मूल का यह शुद्ध अनुवाद है। मूल में आजिविहितेन से और अनुवाद में 'रन मरि बीरन की गति' से भी यह ध्वनि निकलती है कि पर्वतक रण में मारा गया था पर ऐसा नहीं हुआ था। तात्पर्य केवल यही है कि मृत्यु के अनंतर ही वह पिता के पास पहुँच सकता था। इस दोहे से मलयकेतु का स्थिर संकल्प ज्ञात होता है। दो कार्यों में से एक को निश्चित करने से विकल्पालंकार हुआ।

६०-'इससे वे साथ आने का कष्ट न उठावें' ऐसा मूल के अनुसार होना चाहिए।

६१-मूल में 'आकाशे' है पर उससे नेपथ्य की ओर देखकर कहना अधिक उपयुक्त है क्योंकि वे अनुगमन कर रहे थे।

६५-६८—मूल का अर्थ इस प्रकार है—

काँटेदार लगाम के अधिक खींचने से अत्यंत टेढ़ी और ऊँची गर्दन किए हुए तथा अपने खुरों से मानों आकाश को विदीर्ण करने वाले घोड़ों को कुछ राजों ने रोक लिया है और कुछ ने हाथियों को रोक लिया जिससे उनके घंटे अब नहीं बजते। हे देव ! समुद्र के समान ये राजे भी मर्यादा नहीं उल्लंघन करते।

अनुवाद सवैया छंद में है और इस छंद के श्लोक से बड़े होने के कारण रथों का भी समावेश किया गया है। अंतिम तीन पंक्तियों में मूल का भाव आ गया है। वेग से जाते घोड़े को एकाएक जोर से रोकने पर वह चूतड़ के बल बैठ जाता है और आगे के पैर अधर में उठ जाते हैं मानों वह आकाशमार्ग को खुरों से खोदता है। अश्व और हाथी में स्वभावोक्ति, आकाशमार्ग को मानों खोदना उत्प्रेक्षा तथा समुद्र की समानता उपमा है।

७२—चाणक्य की शिक्षा के अनुसार ही इन लोगों ने यह कहा था। मूल में है 'कि जब इन आए हुए भद्रभट प्रभृति ने मुझ से कहा था' पर अनुवाद में है कि 'जब मैं यहाँ आता था तो भद्रभट प्रभृति ने मुझ से निवेदन किया'। भागुरायण भी चाणक्य का भेजा हुआ है इसलिए वह भी ऐसी ही बातें करेगा जिसमें मलयकेतु और राक्षस का बिगाड़ हो अर्थात् राक्षस ही की भेदनीति चाणक्य द्वारा चलाई जा रही है।

१००—१—भेद खुल जाने के डर से मंत्रिगण राजाओं के सामने दूसरी प्रकार सब वृत्तांत कहते हैं और आपस में स्वेच्छालाप के समय दूसरे प्रकार से अर्थात् यथार्थ बातें करते हैं।

यह मूल का अर्थ है। अनुवाद में केवल पहला अंश दिया गया है। भेद खुलने के भय रूप हेतु से काव्यलिंग अलंकार हुआ।

१२३-४—हे नृपससि ! (राजाओं में चन्द्र के समान नृप नन्द) यद्यपि चन्द्र (चन्द्रगुप्त) द्वारा प्राप्त चाँदनी (कौमुदी महोत्सव) कुमुदों के सहित (राज्य हर्षवर्द्धक) उदित है पर वह संसार को आनन्द देने वाली तुम्हारे बिना शोभा नहीं पाती।

'चन्द, चाँदनी कुमुदन सहित' में श्लेष है। चन्द्रगुप्त से नृपशशि नन्द का अधिक उत्कर्ष प्रतिपादन करने से व्यतिरेकालंकार हुआ। विनोक्तिर्यद् विनाऽन्येन न साध्वन्यद् साधु वा' के अनुसार एक चन्द्र के रहते अन्य चन्द्र बिना चाँदनी और कौमुदी महोत्सव के शोभा नहीं पाने से विनोक्ति अलंकार हुआ। कारण के रहने से काव्यलिंग भी हुआ।

१२९-३०—इसके अनन्तर राक्षस का एक प्रश्न और करभक का एक उत्तर छूट गया था उसे मूल के अनुसार बढ़ा दिया गया है।

१३३-४—छोटे मनुष्य भी अकारण रस-भंग नहीं सहते तो लोकाधिक तेज धारण करने वाले राजा कैसे सहेंगे।

मूल का भाव अनुवाद में आ गया है पर अकारण शब्द का न आना कुछ खटकता है। छोटे मनुष्य नहीं सहते तो राजा कैसे सहेंगे इस विचार से अर्थापत्ति अलंकार हुआ।

१४४—मूल के अनुसार 'अब चन्द्रगुप्त के कोप के अन्य कारणों की खोज से क्या फल निकालेंगे' होना चाहिये।

१५६—हाथ में आ जायगा—मूल के 'हस्ततलगतः भविष्यति' का अनुवाद है। इनसे दो अर्थ निकलते हैं—पकड़ा जायगा और मिल जायगा। राक्षस ने पहला अर्थ लेकर कहा था पर भागुरायण ने उसका उलटा अर्थ लगाया अर्थात् राक्षस चंद्रगुप्त के मिल जाने पर उसकी ओर हो जायगा।

१६३—चाणक्य से वैमनस्य हो जाने पर चंद्रगुप्त के अकेले होने

का समय देखते हैं। इससे भी दो ध्वनि निकलती है। भागुरायण इसे दोनों पक्षों में लगा सकता है जैसे अकेले होने पर चंद्रगुप्त पकड़ा जा सकता है तथा राक्षस चाणक्य का स्थान ले सकता है।

१७०-१—पृथ्वींद्र देव नंद का जिसने श्राद्ध-भोजनार्थ आसन पर से हटाने का अपमान नहीं सहन किया वह अपने बनाए हुए नृप चंद्र की बात इस प्रकार नहीं सहन करेगा।

मूल में अनुवाद से 'पृथ्वींद्र' शब्द अधिक है। इसमें अर्थापत्ति अलंकार है।

१७७-८०—मूल श्लोक का अर्थ इस प्रकार है—

किरीट-निहित रत्नों की चंद्र-समान प्रभा से युक्त (अधीनस्थ) नृपतिगण के मस्तक पर पैर रखनेवाले चंद्रगुप्त अपने कर्मचारी की आज्ञा-भंग को कैसे सहन करेगा? चाणक्य क्रोधी होने पर भी प्रतिज्ञा-पूर्ति के लिए स्वयं अभिचार क्रिया के क्लेश का अनुभव कर तथा दैवयोग से पूर्णप्रतिज्ञ होकर अब प्रतिज्ञा-भंग के डर से फिर कोई प्रण न करेगा।

अनुवाद का अर्थ है कि अभिमानी नृप चंद्रगुप्त सब अधिकार लेकर तथा स्वतंत्र होकर अपमान नहीं सहेगा। उसी प्रकार चाणक्य एक प्रतिज्ञा पूर्ण कर, अपने उद्यम के घमंड को चूर कर तथा दुख पाकर अब कुछ और (प्रतिज्ञा) नहीं करेगा। अनुवाद में भाव आ गया है पर मूल के भाव व्यक्त करने का प्रभाव नहीं आ सका। प्रतिज्ञा-भंग होने के भय आदि में अतिशयोक्ति अलंकार है।

१९१-२—पर्वतक की मृत्यु पर भी मलयकेतु को नाटककार ने कुमार ही लिखा है। राक्षस का तात्पर्य है कि चंद्रगुप्त का राज्य छीनकर जब आपको महाराज बना लेंगे।

२१८—चढ़ाई करने—इसके स्थान पर पहले दो संस्करणों में हारने और हराने शब्द थे जो मूल के अनुसार नहीं थे। साथ ही अनुचित भी थे इससे बदल दिया गया क्योंकि उस समय तक केवल सेना की यात्रा का विचार ही हो रहा था।

२२९-मूल के अनुसार 'इससे वह अन्धे के समान कुछ' होना चाहिये।

२३१-२—मंत्री और राजा दोनों ही को प्रबल पाकर लक्ष्मी निश्चल सी होकर रहती है पर दोनों के भार असह्य होने पर स्त्री-चापल्य से एक को छोड़ देती है।

प्रस्तुत राज्य-लक्ष्मी तथा अप्रस्तुत स्त्री के व्यवहार समारोपण से समासोक्ति अलंकार है। मूल का अर्थ दिया गया है जिसका भाव अनुवाद में आगया है।

२३३-४—जो राजा बच्चे के समान सदा मंत्री के गोद में रहनेवाले हैं अर्थात् जिन्होंने कुल राज्यप्रबन्ध मंत्री को सौंप दिया है वे व्यवहार में कुशल नहीं होते। जिस प्रकार बच्चे गोद से हटते ही रोने गाने लगते हैं उसी प्रकार ऐसे राजे मंत्री विना हतोत्साह हो जाते हैं और स्वयं कुछ नहीं कर सकते।

इसमें उपमा अलंकार है। मूल में गोद के बच्चे के स्थान पर स्तनपायी बच्चे की उपमा दी गई है।

२४०-४—(शत्रु के मंत्री) चाणक्य पदभ्रष्ट हो चुके हैं, चन्द्रगुप्त नये राजा हैं, पुर (पाटलिपुत्र, शत्रु की राजधानी) नन्द में अनुरक्त है (अर्थात् अपने ही पक्ष में है) और तुम अपने पूर्ण बल के साथ उस पर चढ़ाई कर रहे हो। तुम्हारे मंत्री हम बड़े उद्योग के साथ युद्ध की तैयारी कर रहे हैं। जब ऐसा संयोग मिला है तब हे राजन्! ऐसी क्या बात है जो सिद्ध नहीं हो सकती अर्थात केवल इच्छा करने की देर है।

अनेक कारणों के समावेश से समुच्चयालंकार हुआ। अपना

उल्लेख करते समय राक्षस का लज्जा करना दिखलाया है कि कहीं उसका अर्थ आत्मश्लाघा न समझा जाय। इस पद में 'नृप या राजा' लिखा गया है। स्यात् राक्षस के विजय में पूर्ण निश्चय दिखलाने को नाटककार ने ऐसा किया है।

२४७-२—हाथी और सोन नद की समानता दिखलाई है—

एक का सिर उन्नत है तो दूसरे की कछार ऊँची है, दोनों ही श्यामवर्ण हैं (मूल में सोन नदी के तटों पर काले वृक्षों की माला होने से उसका काला होना दिखलाया गया है), एक के गण्डस्थल से मद की धारा बहती है तो दूसरे से जल बहता है, एक के मुख पर मद के कारण भौंरे गुंजायमान हैं तो दूसरी भँवर पड़ने से कल्लोल कर रही है। इस प्रकार हाथी सोन को अपने समान देखकर दाँतों से उसके तटों को नष्ट भ्रष्ट कर देंगे और सिर पर सिंदूर लगने से लोहित वर्ण हुए हाथी दर्प से सोन नदी को सहज ही सोख लेंगे।

संस्कृत में सोन नदी को शोण कहते हैं और शोण शब्द का अर्थ रक्तवर्ण है जो हाथियों के मस्तक सिंदूर से रंगने पर उन गजपतियों का विशेषण बन जाता है अर्थात् शोणगजपति शोण को सोख लेंगे। अनुवाद में भी सोन शब्द में उसी प्रकार का श्लेष है। क्रम से हाथी और सोन के विशेषण रखे जाने से यथासंख्य अलंकार हुआ।

२५३-४-मलयकेतु कहता है कि (सोन नदी सोखने के अनंतर) हमारे हाथियों का समूह गंभीर नाद से गरजता हुआ तथा मद की धार बरसाता हुआ शत्रु की राजधानी को उसी प्रकार घेर लेगा जिस प्रकार घनमाला विंध्याचल पर्वत को (गरजती हुई तथा बरसती हुई) घेर लेती है।

गजसमूह तथा घनमाला के समान धर्म होने से पूर्णोपमा अलंकार हुआ।

२५७—मूल के सांवत्सरिक के स्थान पर अनुवाद में भिक्षुक था इसलिए वदलकर ज्योतिषी वना दिया गया है।

२६३—मूल में 'अवीभत्स दर्शनं कारयित्वा प्रवेशय' है अर्थात् यदि वह नंगा आदि हो तो कुछ कंथा कोपीन पहनाकर लिवा लाओ जिस में देखने में भद्र मालूम हो।

२६५-६६—वैद्य और गुरु का समान धर्म होना दिखलाया है कि वैद्य की दवा और गुरु का उपदेश पहले कड़आ मालूम होता है पर अंत में दोनों का फल अच्छा होता है।

अप्रस्तुत वैद्य की आज्ञापालन आवश्यक दिखलाकर प्रस्तुत निज उपदेश को मानना आवश्यक बतलाने से अप्रस्तुतप्रशंसा अलंकार है।

२७०-३—मूल में 'आमध्याह्नात् निवृत्त सप्तशकला' है जिसका अर्थ हुआ कि दोपहर तक भद्रा छूट जाएगी।'शुक्ले पूर्वार्द्धेऽष्टमी पञ्चदश्योः भद्रा' के अनुसार अर्द्धरात्रि तक पूर्णिमा थी। पूर्णिमा को पूर्ण चंद्रबिंब रहता ही है पर चंद्र का नाम लेकर यह दिखलाया है कि चंद्रगुप्त का इस समय प्रभाव पूर्ण रूप से व्याप्त है। दक्षिण की यात्रा में 'पक्षान्ते निष्फला यात्रा मासान्ते मरण ध्रुवम्' वचन से पूर्णिमा अमंगल है। तथा उत्तर से दक्षिण अर्थात् यम की दिशा को जाना है।

मूल में 'दक्षिणद्वारिकं नक्षत्रं' है जो मघादि सात नक्षत्रों का द्योतक है और यात्रा में अमंगल है।

आश्विन की पूर्णिमा को कौमुदी महोत्सव का निषेध हुआ था। तब से आरम्भ होकर वह भेदनीति (दोनों चाणक्य और राक्षस की) दो महीने में पूर्ण हुई। इस प्रकार अगहन की पूर्णिमा को राक्षस ने कुसुमपुर की यात्रा के लिए साइत पूछी थी।

२७४-५—सूर के अस्त होने और चंद्र के उदय होने के समय जाना

अच्छा है, (सौम्यग्रह) बुध के लग्न में (अर्थात् मिथुन या कन्या लग्न में) (क्रूर ग्रह राहु या) केतु के पड़ने से कोई हानि नहीं क्योंकि वह अस्त है (सप्तम स्थान में पड़ा है) ।
बुध का लग्न (कन्या) फाल्गुन की पूर्णिमा को और (मिथुन) अगहन की पूर्णिमा को पड़ता है। पहले को पाँच महीने हो जाते हैं। लग्न में पड़ने से केतु उदित होने पर भी सप्तम स्थान में स्थित होने से अस्त है। अर्द्धचंद्र पापग्रह होता है इसलिए मूल में पूर्ण चंद्र परिहारार्थ दिया गया है। प्रकृत पक्ष में यह भाव निकलता है कि सूर अर्थात् वीर राक्षस के अस्त होने तथा चंद्रगुप्त के उदय होने और बुध अर्थात् चाणक्य के लग्न (फंदे) में पड़ने से केतु अर्थात् मलयकेतु का उदित होने पर अस्त होना अनिवार्य है।

२७९—८०—तिथिरेकगुणा प्रोक्ता नक्षत्रंतु चतुर्गुणम् ।
सहस्रेणाधिकः सूर्य चंद्रो लक्षगुणाधिकः ॥
इस ज्योतिष के श्लोक का पूर्वार्द्ध कहकर चंद्र का बल प्रदर्शित करता है। दोहे का अर्थ है कि तिथि के शुभाशुभ की शक्ति एक है तो नक्षत्र की उसकी चतुर्गुण है और लग्न की चौंसठ गुणा है ऐसा शास्त्र कहता है।

२८१—२—निकृष्ट लग्न भी क्रूर ग्रह के योग को छोड़ देने से सुलग्न हो जाता है तथा 'यत्र चंद्रो बलान्वितः' के अनुसार चंद्रबल देखकर जाने से बहुत लाभ होता है।
इससे यह भाव निकलता है कि क्रूर ग्रह केतु (मलयकेतु) को छोड़ देने से तुम्हारा भला है तथा चंद्र (चंद्रगुप्त) का बल देखकर तुम्हें लाभ (मौर्य का मंत्रित्व) होगा।

२८७—मूल में 'आप ही आप' नहीं है।

२९४—२९७—सूर्योदय के अनंतर क्षणिक अनुराग दिखलाने को

ये बगीचे के वृक्ष अपनी छाया द्वारा आगे आगे दौड़ते थे पर जब सूर्य अस्ताचल की ओर चला तब वेही वृक्ष अपनी छाया द्वारा पीछे की ओर दूर भागने लगे। नौकरों की यही चाल है कि प्रायः वे ऐश्वर्यभ्रष्ट स्वामियों को छोड़ देते हैं।

मूल श्लोक का यह भाव है पर अनुवाद का भाव उससे कुछ विशेष अच्छा है। अर्थ यों है—

जब सूर्य उदय हुआ तब वृक्षों की छाया दूर थी पर ज्यों ज्यों सूर्य अपने पूर्ण ऐश्वर्य की ओर अग्रसर होता गया त्यों त्यों वे छाया पास आती गई और अंत में मध्याह्नकाल के समय उसके बिल्कुल सन्निकट अर्थात् पैरों के तले पहुँच गई पर ज्यों ही वह ऐश्वर्यभ्रष्ट होने लगा अर्थात् अस्ताचल-गामी हुआ त्योंही वे धीरे धीरे खिसकने अर्थात् दूर होने लगीं। यही स्वार्थी सेवकों का भी गुण है कि ऐश्वर्यहीन होते ही वे स्वामियों को छोड़ देते हैं।

इस में उत्प्रेक्षा है।

पंचम अंक

इस अंक से फलागम संबंधी निर्वहण संधि का आरंभ होता है।

सिद्धार्थक के पास का पत्र और मोहर वही है जिसे चाणक्य ने उसे सौंपा था (देखिए अंक १. पं० २७२) और गहनों की पेटी वह है जिसे चाणक्य के कथनानुसार उसने शकटदास के बचाने के पुरस्कार में राक्षस से पाया था तथा उसी के मुहर से अंकित कराया था। (देखिए अंक २ पं०३९१-४०१)

२-३-देश और कालरूपी घड़े से (उपयुक्त देश और समय का) बुद्धिरूपी जल द्वारा सींची गई (बुद्धिपूर्वक विचार करके) चाणक्य की नीतिलता (कार्य करने से) बहुत फल देगी (अवश्य सफलता मिलेगी)।

इस दोहे से यह सूचना दी गई है कि चाणक्य का फैलाया हुआ नीतिजाल अब फलदायक होने वाला है।

७-८-क्षपणक के देखने को अशुभसूचक मानते थे जिसके परिहारार्थ 'गुरूनग्निं तथा सूर्यं प्रातः पश्येत् सदा बुध' के अनुसार मंगलार्थक सूर्य का दर्शन किया।

९-१०—अर्हंत-जिन देव, जैनदेवता, बौद्ध सन्यासी।

उन अर्हंतों को नमस्कार है जो अपने बुद्धिबल से परलोक की सब सिद्धियों को प्राप्त करते हैं।

इससे चाणक्य के बुद्धिबल की ध्वनि निकलती है। श्लेषालंकार है।

११-भदंत-बौद्ध महंतों को पुकारने का प्रतिष्ठावाचक शब्द।

१७-लखोटा-लिखावट, पत्र।

२०-मूड़ मुँड़ाकर नक्षत्र पूछना—कार्य के पहले साइत पूछना चाहिए न कि उसके हो जाने पर।

२२–अभी क्या बिगड़ा है अर्थात् अभी जाना शेष है।
३१–मूल में 'गुल्मस्थानाधिप से' अधिक है।
पत्र और गहने की पेटी तथा भागुरायण की मुहर की बातों की सूचना देने के लिए नाटककार ने इसमें प्रवेशक का समावेश किया है। 'प्रवेशकोऽनुदात्तोक्त्या नीच पात्र प्रयोजितः। अंकद्वयान्तविज्ञयः शेषं विष्कंभके यथा' लक्षण है।
४१–४४–मूल श्लोक का भावार्थ इस प्रकार है—
कभी स्पष्ट प्रकाशित हो जाती है, कभी जटिल तथा दुर्बोध हो जाती है, कभी स्थूल रहती है तो कभी कार्यवश क्षीण हो जाती है, कभी तो उसके बीज तक नष्टप्राय हो जाते हैं तो कभी बहुफल-दायिनी हो जाती है इस प्रकार यह नीति दैवगति के समान अत्यन्त विचित्र है।
मूल का भाव अनुवाद में आगया है केवल नीति को दैवगति से समानता देने से मूल में जो उपमालंकार है वह नहीं आ सका। अनुवाद में चाणक्य शब्द बढ़ा देने से अप्रस्तुतप्रशंसालंकार का लोप हो गया।
५२—भागुरायण को मलयकेतु के साथ रहने से उसके प्रति कुछ स्नेहभाव अथवा कृतज्ञता का भाव हो आया है जिस कारण उसके साथ वह कपटव्यवहार करना दुष्कर समझता है।
५४–५ मूल का अर्थ—
क्षणिक धन के लालच से वंशमर्यादा, लज्जा, यश और मान के प्रति जो विमुख होकर धनी के हाथ निज शरीर को बेंचकर उसकी आज्ञापालन करता है और जिसके विचार करने का अवसर बीत चुका है वह परतन्त्र पुरुष इस समय क्या वितर्क करता है?
अनुवाद दोहे में है पर मूल का भाव स्पष्टतया व्यक्त हो गया है।

अनुवाद में प्राण शब्द बढ़ गया है जिसे बेंचने या रेहन करने का किसी को अधिकार नहीं है।

५७-विकल्प-संदेह, अनिश्चयात्मक विचार।

५९-६२—मूल श्लोक का अर्थ—
क्या राक्षस नंदवंश के दृढ़ अनुराग से उत्पन्न भक्ति के कारण नंदवंशधर और चाणक्य से निराकृत चंद्रगुप्त से मिल जायगा। अथवा स्वामिभक्ति पर ही दृढ़ रह कर सच्चा होगा? मेरा चित्त इस प्रकार चाक के समान भ्रम के चक्कर में पड़ा है।
अनुवाद शिथिल है और उसमें मूल का पूरा भाव नहीं आ सका जिससे मूल के दो अलंकार-उत्प्रेक्षा तथा परिकर—लुप्त हो गए केवल विकल्प अलंकार रह गया।

६५-मूल के अनुसार 'सेना के जानेवाले लोगों को राह खर्च और परवाना बाँट रहे हैं' पाठ बदल दिया गया है।

६७-इस वाक्य से मलयकेतु की भागुरायण के प्रति प्रीति प्रगट होती है।

६८-कोष्ठक के भीतर का पूर्वांश तथा ६९ पं० के कोष्ठक का अंश मूल के किसी प्रति में नहीं है पर उपयुक्त है।

७०-यहाँ भी मुद्रा का अर्थ खर्च रखा गया था पर मोहर, पास या परवाना चाहिए। संशोधन किया गया है।

७४-कोष्ठकांतर्गत 'छल से' अनुवादक की ओर से बढ़ाया गया है और ठीक है। इससे यह प्रगट होता है कि भागुरायण यह जान गया है कि मलयकेतु पासही उसकी बातें सुन रहा है। भागुरायण और जीवसिद्धि दोनों ही चाणक्य के मित्र तथा उसके षड़यंत्र में सहकारी हैं। प्रथम अंक पंक्ति ६७ में उल्लेख है कि भागुरायण ने चाणक्य के आज्ञानुसार मलयकेतु के चित्त में यह जमाकर कि चाणक्य ने ही तेरे पिता को मरवा डाला

है उसे भगा दिया और साथ ही उसका मित्र बन कर स्वयं भी चला गया। अब मलयकेतु और राक्षस में वैमनस्य उत्पन्न करना आवश्यक है इसलिए जीवसिद्धि से राक्षस द्वारा पर्वतक का मारा जाना कहलाया गया है। भागुरायण जीवसिद्धि को पहिचानता है पर कपट से उसे राक्षस का मित्र सुनाकर मलयकेतु पर प्रभाव डालता है। मूल में स्वगत भी है।

७९–प्रेम कलह—दिखावटी झगड़ा। राक्षस और जीवसिद्धि की मित्रता संस्थापित की जा रही है। इतनी बातचीत भी विश्वास उत्पन्न करने के लिए है।

८१–अपराधी तो हम हैं–मूल में 'हम मंद भाग्य अपने कर्म से लज्जित हैं' है।

१०४–६–जिस में पुरानी बात याद कर मलयकेतु उस पर संदेह न करे इससे भागुरायण अपने समझने की बात कह रहा है।

११३–४–श्रुति-भेद-कर–श्रवण-विदारक, सुनने ही से अत्यन्त पीड़ा पहुँचाने वाला, अत्यन्त कष्टकर।

शत्रु—पिता-वध का दोष लगाए जाने से यहाँ राक्षस लक्षित है।

मलयकेतु कहता है कि हे मित्र! शत्रु (राक्षस) ने जो अत्यन्त कठोर कर्म किया है उसे मैंने सुना जिससे इस समय (अर्थात् इतना दिन बीतने पर) पिता-मरण का शोक मुझे दूना मालूम पड़ता है।

मूल में 'शत्रु के मित्र द्वारा' सुना जाना अधिक है। इसमें दु:ख का मानों दूना होना उत्प्रेक्षा है।

११५–स्वगत द्वारा नाटककार बात स्पष्ट करता जाता है।

११६–प्रथम अंक के पं० २५१ में चाणक्य जिस काम का उल्लेख करता है वही काम यहाँ पूर्ण हो गया।

११७–मूल में कोष्ठक के भीतर 'प्रत्यक्षवदाकाशे लक्ष्यं बद्ध्वा'

है जिसका अर्थ हुआ कि 'प्रत्यक्ष पदार्थ के समान आकाश की ओर देखते हुये।' 'अरे राक्षस !' के बाद युक्तिमिदम् शब्द है अर्थात् यह उचित है।

११८-९-जिसने (पर्वतक ने) तुम पर (राक्षस पर) विश्वास करके अर्थात् निश्चिंत चित्त होकर अपना ऐश्वर्य, घर (राज्य-प्रबन्ध) सब सौंप दिया था उसे तुमने सबों को (पर्वतक के मित्रों और आश्रितों को) दुःख देने के लिए मारकर अपने नाम को सार्थक किया (अर्थात् राक्षसोचित कार्य किया)।

अनुवाद के 'ताहि मारि दुख दै सबन' के स्थान पर मूल में 'तातं निपात्य सह बंधुजनाक्षितोयैः' (बन्धुजन के अश्रु के साथ पिता को गिरा कर) है। इससे सहोक्ति अलंकार की अनुवाद में कमी हो गई।

१२०-स्वगत द्वारा चाणक्य की आज्ञा बतलाई गई है।

१२८-मूल के अनुसार 'तब देव पर्वतेश्वर ही चन्द्रगुप्त की अपेक्षा अधिकतर कार्यविघातक (इस कार्य में कंटक) थे' होना चाहिए।

१३१-२-अर्थ नीतिशास्त्र के नियमानुसार प्रयोजन वश होकर मित्र शत्रु हो जाते हैं और शत्रु मित्रता करते हैं (तथा वे इस जन्म की पूर्व स्मृतियों को इस प्रकार भूल जाते हैं) मानों उन्होंने काया पलट कर लिया है (अर्थात् जन्मांतर पर पूर्व जन्म की बातें जिस प्रकार भूल जाती हैं)।

उत्प्रेक्षा और अतिशयोक्ति है।

१४६ ४७-(भृत्यों के) गुणों पर रीझने वाली तथा (भृत्यों को) दोषों से दूर रखने वाली जो मातृ-सदृशा स्वामिभाक है उसे हम नित्य प्रणाम करते हैं।

१६१-अंक १ पं० २२७ से ३८ तक देखिए।

१६३–हमारे विपक्षी (चाणक्य) को सत्यवादी (चंद्रगुप्त) ने निकालकर पूर्व प्रतिज्ञा की सचाई दिखाई।

१६८–चरों–मूल में 'अस्मत्सुहृदां' है जिसका अर्थ 'हमारे मित्रों को' हुआ। चरों के स्थान पर मित्रों शब्द होना चाहिये इससे वह ठीक कर दिया गया क्योंकि कौलूतादि नरेशों के लिए वह शब्द अनुचित था।

१७०–आश्रय छूट जाने पर—मूल में इसके स्थान पर 'स्वाश्रय विनाशेन' है अर्थात् अपने आश्रय का विनाश कर। अनुवाद से यह भाव स्पष्ट नहीं होता था कि उनका आश्रय उन्हीं के द्वारा नष्ट होने पर या दूसरों के द्वारा नष्ट होने पर छूटता है इस लिए आवश्यक समझ कर पाठ बदला गया है।

१७१–अशून्य ... भेजा है–"रिक्तपाणिर्नपश्येत्तु राजानं देवतां गुरुम्" के अनुसार कोरा पत्र न भेज कर साथ में कुछ वस्तु भी भेजी जाती है।

१७४–अर्थात् इस लेख को किसने किसे लिखा है।

१९४–अंक २ पं० ३९७-८ देखिए। चाणक्य के सौभाग्य से राक्षस ने सिद्धार्थक को वे ही आभरण दिए जो मलयकेतु ने कुछ ही पहले अपने अंग से उतार कर भेजे थे। उसे देखते ही मलयकेतु का राक्षस पर पूरा संदेह हो गया।

२२४-५–राजनीति विशारद राक्षस को चन्द्रगुप्त के पक्ष के बहुत से मनुष्यों का आकर मलयकेतु की सेना में मिलना सशंकित करता है पर उस शंका की बिना परीक्षा किए मन का समाधान कर लेना उसके कर्मवीरत्व को नहीं प्रगट करता।

२२७–३२–इस छप्पय में न्याय शास्त्र के अनुमान से उपमा दी गई है इसलिए यह पद कुछ कठिन हो गया है।

जहाँ हेतु या साधन अनुमेय या साध्य से निश्चय संबंध रखता है,

अर्थात् अन्वय व्याप्ति ज्ञानविशिष्ट होता है, स्वजातीय पक्ष में ही रहता है, और प्रतिकूल पक्ष में नहीं रहता वही साधन अनुमान को सिद्ध करने वाला होता है। (राजपक्ष में इस का अर्थ हुआ कि जो सेना विजयलाभ में निश्चित समर्थ है, स्वामी की अनुगता तथा भक्ति सम्पन्ना है, अपने सहायकों से सौहार्द रखती है और शत्रु से कुछ भी मेल नहीं रखती है वहीं अभीष्ट सिद्ध करती है) परंतु जहाँ साधन साध्य से भिन्न है, स्वपक्ष और विपक्ष के लिए समान है और साध्य से उसकी कुछ भी तुल्यता नहीं हैं वहाँ ऐसे हेतु को लेकर जिस प्रकार तार्किक हारते हैं उसी प्रकार राजे भी ऐसे साधन पर (सेना जो समर्थ नहीं है, शत्रु-मित्र में एक भाव रखती है और स्वपक्ष में कुछ भी अनुकूल नहीं है) विश्वास कर सब प्रकार से पराजित होवे हैं।

न्यायशास्त्र के अनुसार प्रमाण के चार भेदों में से एक अनुमान है जिसमें प्रत्यक्ष साधन के द्वारा अप्रत्यक्ष साध्य की भावना होती है।इसके तीन भेद है जिसमें यहाँ सामान्यतोदृष्ट वा अन्वयव्यतिरेकी की उपमा दी गई है। इसकी परिभाषा यों है कि नित्य प्रति के सामान्य व्यापार को देख कर विशेष व्यापार का अनुमान करना। जैसे अग्नि और धूम को बराबर साथ देखने से व्याप्ति ज्ञान हुआ कि ज घु अ है वहाँ अग्नि भी होग। इसे अनुमिति भी कहते हैं। जिसके द्वारा अनुमान सिद्ध किया जाय उसे हेतु या साधन कहते हैं जैसे धुँआ। जो सिद्ध किया जाय वही साध्य या अनुमेय है जैसे अग्नि। जहाँ साध्य निश्चित है उसे स्वपक्ष कहते हैं जैसे पाकशाला। अनुमिति से जहाँ साध्य सिद्ध किया जाय उसे पक्ष कहते हैं जैसे पर्वत। जहाँ साध्य का निश्चय अभाव है वह विपक्ष है जैसे जलाशय

अन्वित—युक्त, मिला हुआ, संबंध रखता हुआ।
असिद्ध—जो सिद्ध न हो, प्रमाणित न हो।
इस पद में पूर्णोपमा अलंकार तथा श्लेष है।
२३३-४—मूल के अनुसार ऐसा होना चाहिए—
(चंद्रगुप्त की ओर के आए हुए) इन लोगों के असंतोष का कारण समझ लिया गया है और इन लोगों ने हमारी प्रयुक्त भेद नीति को भी मान लिया है इससे संशय न करना चाहिए।
२३७-८—मूल के अनुसार—
इससे वे प्रयाण के समय विभाग रचना करके चलें। किस प्रकार किया जाय—
२३९—४२—खस और मगध की सेना जयध्वजा को फहराते हुए आगे बढ़े। यवन और गांधार की सेना बीच में रहे। चेदि, हूण और शक के राजे ससैन्य पीछे पीछे आवें। कौलूतादि राजे मलयकेतु के रक्षार्थ उनके साथ रहें।
राक्षस ने कौलतादि राजों को अत्यंत विश्वासपात्र समझ कर मलयकेतु के संरक्षण को नियुक्त किया था पर चाणक्य के षड्यंत्र से उसका मलकेतु ने दूसरा अर्थ लगाया।
खस वर्तमान गढ़वाल और उसके उत्तरवर्ती प्रांत का प्राचीन नाम है। यहाँ की एक जाति जो व्रात्य क्षत्रियों से उत्पन्न है और जिसका उल्लेख महाभारत तथा राजतरंगिणी में हुआ है। इस जाति वाले अब तक नैपाल और किस्तवाड़ (काश्मीर) में पाए जाते हैं। ये खासिया भी कहलाते हैं।
यवन से ग्रीक जाति का तात्पर्य है। गांधार आधुनिक कंधार की रहने वाली जाति थी। चेदि बुंदेलखंड में नर्मदा के उत्तर में एक राज्य था। हूण एक जंगली जाति थी जो मध्य एशिया से योरोप तथा भारत में आई थी। भारत पर यह चढ़ाई पाँचवीं

और छठी शताब्दियों में हुई थी। शक जाति मध्य एशिया से आई तुरुष्क जाति के अंतर्गत हो सकती है। यह पहले कुशन वंश के राजों के सूबेदार थे पर अंत में इनका प्रभाव गुजरात, सिंध, उत्तरी कोंकण से कुल राजपुताना तथा मालवा तक फैल गया था। शकों की समाप्ति समुद्रगुप्त के समय चौथी शताब्दी के अंत में हुई।

२५९—६३—मूल श्लोक का अर्थ यह है—

सेवकों को पहले प्रभु का भय और फिर स्वामी के कृपापात्र पदाधिकारियों का भय होता है। उच्चपदस्थ पुरुषों से दुर्जन द्वेष रखते हैं। इससे उनके चित्त को पतन का भय बना रहता है।

अनुवाद का अर्थ स्पष्ट है और मूल से उसका अधिक विस्तार होने के कारण भाव भी विस्तीर्ण हो गया है। भिन्नता इतनी है कि मूल के 'पतन की आशंका रहने' के स्थान पर एक पूरा दोहा अनुवाद में है और उसमें पतन का होना निश्चित बतलाया गया है।

चौपाई और दोहे में युक्ति के साथ सिद्ध करने के कारण काव्य-लिंग अलंकार हुआ।

२६७—७०—चिंतामग्न मलयकेतु की अवस्था का वर्णन है—

यद्यपि उसकी स्थिर दृष्टि चरण की ओर है पर चित्त के चिंतित होने से वह उसे नहीं देखता है। हाथ पर अपना सिर रख कर राजा इस प्रकार झुका है मानों भारी कार्यभार से सिर नीचा हो गया है।

अनुवाद में मूल का वक्त्रेन्दु शब्द नहीं आया। इसमें मलयकेतु के लिए अवनीस अर्थात् राजा शब्द आया है पर मूल नाटक-कार ने केवल कुमार शब्द ही का प्रयोग किया है। कुल नाटकमें

उसके लिए कहीं राजा या उसके पर्याय नहीं आए हैं। अनुवाद में कुछ शब्द भी अधिक हैं।

दूसरे दोहे में उत्प्रेक्षा है।

२८९—नाटककार मलयकेतु द्वारा स्वगत बातें और आर्य शब्द साथ ही कहलाकर उसकी सहनशीलता दिखलाता है।

२९०—२—राक्षस के मुख पर इस प्रकार झूठ बोलना धूर्तता का सीमांत है।

३२५—मूल के अनुसार 'अभी क्या और मार खाओगे, सच कहो।' चाहिए।

३२८—इस पंक्ति के बाद मूल में प्रतिहारी का कथन है कि 'जैसी आज्ञा'।

३३१—सिद्धार्थक द्वारा लिखाए जाने का वृत्तांत। देखिए अंक १ पं० २३५।

३४५—६-स्त्री पुत्र के याद में स्वामिभक्ति भूल जाती है और नश्वर धन के लोभ में निश्चय यश को छोड़ देते हैं।

भाव यह है कि चाणक्य की अनुमति से शकटदास ने यह पत्र पुत्र-स्त्री के स्मरण ही से स्वामिभक्ति छोड़कर लिखा है। परिसंख्यालंकार है।

३४८—५१—मुद्रा उसी के हाथ में है, सिद्धार्थक भी उसी का मित्र है और यह पत्र उसी के हाथ का लिखा है। यह सिद्ध करने के लिए यह चित्र (उसी का दूसरा लेख) साधन रूप मौजूद है। (इससे यही ज्ञात होता है कि स्त्री पुत्रादि के प्राण-रक्षार्थ) स्वधर्म को भूल कर और शत्रु से मिल कर भेद करने के लिये निश्चय ही स्वामिभक्ति से हीन शकटदास ने यह दुष्ट कर्म किया है।

कोष्ठक के अंश मूल में अधिक हैं। कारण-कार्य- बंध से काव्य-
लिंग अलंकार हुआ।

३५३-ये आभरण भी शकटदास द्वारा क्रय किए गए थे। (देखिए
अं० २ पं० ४५४-७।

३६२-३—हे वंश के अलंकार तथा अंलकारों पर प्रेम रखनेवाले
आपके शरीर पर ये सब भूषण थे अर्थात् शोभा देते थे।
आपके मुख के पास ये गहने इस प्रकार शोभित होते थे जैसे
चंद्र (मुख) के साथ तारे (भूषण)।

मूल में चंद्र का शरद विशेषण अधिक है। उपमालंकार है।

३७०—१—मूल के अनुसार अर्थ—

अधिक लाभ का लोभ करने वाले विक्रेता चंद्रगुप्त के हाथ आपने
क्रूर हृदय हो कर हमें इसके मूल्य में दे दिया।

अनुवाद में इस क्रय विक्रय के क्रम को उलट दिया है अर्थात्—
तुमने (राक्षस ने) क्रूर होकर तथा प्रीति को छोड़कर अधिक
लाभ के लोभ से (अर्थात् भूषणों का अधिक मूल्य कल्पित
कर) इन गहनों के बदले हमारे शरीर को बेंच दिया।

न्यूनाधिक क्रयविक्रय से विषम परिवृत्ति अलंकार हुआ।

३७३—६—जब हमारी मुद्रा लगी है तब यह कैसे कह सकते हैं कि
यह लेख मेरा नहीं है। शकटदास कभी सौहार्द छोड़ देगा
ऐसा भी विश्वास नहीं होता। चंद्रगुप्त गहना बेंचेगा (ऐसी
असंभव बात पर) कोई विश्वास नहीं करेगा इससे मौन ही
रहना उत्तम है। प्रत्युत्तर देने से बची बचाई प्रतिष्ठा भी
जाती रहेगी।

कारण देने से काव्यलिंग अलंकार हुआ।

३८१—८४—मलयकेतु राक्षस के लिए किस पक्ष में अधिक लोभ
है यह दिखलाता हुआ इस दुष्ट कर्म का कारण पूछता है।

चंद्रगुप्त तुम्हारे स्वामी नन्द का पुत्र है (इससे तुम यदि उसका पक्ष ग्रहण करोगे तो वह स्वामित्व ही दिखलावेगा) और हम मित्र के पुत्र होते हुए स्वार्थी हैं (इससे हमारे पक्ष में रहने से आपका ही प्रभुत्व रहेगा)। उधर चन्द्रगुप्त जो आपको देगा वही मिलेगा और इधर (सभी आपका रहेगा और हमारा वही होगा जो) आप हमें देंगे। प्रधान मंत्री होने पर भी आप वहाँ दास ही कहलाँगे पर यहाँ आप ही स्वामी (अर्थात् नाम के लिए मैं राजा रहूंगा) रहेंगे। ऐसा होते हुए भी आपने किस अधिक लाभ के लोभ से यह दुष्ट कर्म किया ?

मलयकेतु राक्षस को उपालंभ दे रहा है जो राक्षस के लिये निष्ठुर होते हुए भी मलयकेतु की विनम्रता प्रकट करता है।

साहित्यदर्पण के लक्षण 'यथासंख्यानूद्देश उद्दिष्टानां क्रमेणयत्' के अनुसार यथासंख्यालंकार हुआ।

३९२— मूल में 'चाणक्य ने नहीं किया' नहीं है।

३९४—७—जो भृत्य स्वामिभक्ति के कारण अपना शरीर स्वामी पर निछावर कर देता है उस पर उसका प्रभु भी पुत्र के समान प्रेम रखता है। जिस दैव ने ऐसे गुणग्राहक राजाओं का क्षण में नाश कर दिया उसीका यह भी दोष है। दूसरों का इसमें कुछ भी दोष नहीं है।

मूल में भृत्यत्व का विशेषण 'परिभावधामनि' (अपमानों का घर) अधिक है अतिशयोक्ति अलंकार है।

४००—१—तीव्र विष से युक्त कन्या का प्रयोग करके तुमने विश्वस्त पिता का केवल नाम मात्र रहने दिया अर्थात् नाश कर दिया। अब चन्द्रगुप्त के मंत्रित्व के लोभ में हम लोगों को शत्रुओं के हाथ माँसवत् बेचने को तैयार हुए हो।

मूल का यह अर्थ है और अनुवाद में उसका भाव आगया है।

४०२—मूल में 'जले पर निमक के' स्थान पर 'यह फोड़े पर दूसरा फोड़ा' है।

४१९—राक्षस —यहाँ राक्षसों के प्राण संहार करने के गुण से तात्पर्य है अर्थात् मलयकेतु कहता है कि हम राक्षस नहीं हैं अर्थात् तुम्हारा प्राण संहार न करेंगे।

४२१—२—चंद्रगुप्त और चाणक्य से मिल कर तीन हो जायँ तो भी हम त्रिवर्ग (धर्म, अर्थ काम) को पाप के समान नष्ट करेंगे।

४२५—८-गंड—(सं०) कपोल, गाल। कन धवल छवावति—धूल के कण छा जाते हैं, धूल सा सफेद हो जाता है।

(सेना के) घोड़ों के खुरों के चोट से उठती हुई नए बादल के समान तथा हाथियों के मद (रूपी जल) से सिंची हुई धूल उड़ कर स्त्रियों के (विशेष पुष्पगन्ध से सुगन्धित) दोनों कपोलों को मलिन करती हुई और उनके भ्रमरों के समान काले बालों को सफेद बनाती हुई शत्रुओं के सिर पर गिरै।

कोष्ठकों के अंश मूल में अधिक हैं। रिपु-विजयार्थ सैन्य-समारोह वर्णन स्वभावोक्ति है, कपोल तथा बाल का अन्य गुण धारण करने से तद्गुण अलंकार हुआ और भ्रमर से अलक में उपमा है।

४३२—५—हम तपोवन चले जाँय पर वहां तप से मेरे क्रुद्ध चित्त को शान्ति नहीं मिलेगी। शत्रु के जीवित रहते (स्वामी का अनुसरण करें अर्थात् स्वर्ग चलें) प्राण दे दें पर यह स्त्रियों के लिये उपयुक्त है। तलवार लेकर अग्निरूपी शत्रु पर पतंग के समान टूट पड़ें (तो वह भी ठीक नहीं) क्योंकि उससे मेरा नाश तो हो जायगा पर उस दुस्साहस से चंदनदास का मारा जाना निश्चित हो जायगा। (इस कारण चंदन

दास को मुक्त कराने को मेरा व्यग्र मन यदि कृतघ्न न हो तो मुझे इन कार्यों से रोके)।

काव्यलिंग अलंकार है। जाहिं, देहिं, जाहिं का एक कर्ता होने से दीपकालंकार है।

छठा अंक

मलयकेतु के पकड़े जाने के अवांतर कार्यसम्पादन को सूचना देने तथा राक्षस को चन्द्रगुप्त का मंत्रित्व ग्रहण करने को बाध्य कर मौर्यश्री के स्थैर्यरूपी महाफल के सिद्धयार्थ छठा और सातवाँ अंक आरम्भ होता है।

सिद्धार्थक चन्द्रगुप्त से पुरस्कार रूप गहने आदि पाकर प्रसन्न चित्त होकर चाणक्य की कृतकार्य नीति की जयजयकार मना रहा है।

२—५—जिनके शरीर का वर्ण श्याम मेघ के समान है और जो केशी के कालरूप थे उन श्रीकृष्ण जी की जय हो। सुजन मनुष्यों के नेत्रों को चंद्र (के समान आल्हादजनक) सम्राट् चन्द्रगुप्त की जय हो। बिना सैन्यसंचालन के शत्रुओं को विजय करनेवाली चाणक्य की बलशालिनी नीति की जय हो।

पहले दोहे के पूर्वार्द्ध में भगवान की जयघोषणा है। जलद नील-तन में लुप्तोपमा है। कंस ने केशी नामक राक्षस को श्रीकृष्ण के मारने को भेजा था। वह अश्वरूप होकर वृन्दावन गया और श्रीकृष्ण द्वारा निहत हुआ। (श्रीमद्भागवत स्कं० १० अध्याय ३७)

उत्तरार्द्ध में राजा की जयघोषणा है। चंद्रगुप्त और चन्द्र में आल्हादजनकत्व साधर्म्य से रूपक हुआ।

दूसरे दोहे में बिना कारण कार्य होने से विभावना अलंकार है।

९-१०—मूल श्लोक का अथ इस प्रकार है—

दुःख में चंद्र के समान शीतल और संतापहारक तथा सुख में गृहोत्सव के समय सुख बढ़ाने वाले अन्तरंगी मित्रों के अभाव से संपदा दुखद होती है।

अनुवाद का अर्थ इस प्रकार है—
मित्र के विरहाग्नि की तपन पीने से कम नहीं होती, उत्साह का नाश हो जाता है और बिना मित्र के सभी सुख हृदय को अधिकतर उदास बना देते हैं।
भाव यह है कि मित्र के विरह का दुःख यों तो रहता ही है पर सुख या किसी उत्सव में उसकी याद अधिक क्लेशकर हो जाती है।
२८–मोहित मति होकर–चाणक्य की नीति के फेर में पड़ कर, भ्रांत बुद्धि होकर।
३८–९- नाटक का प्रारम्भ कुछ और है और उसका उपसंहार कुछ और है अर्थात् साम्य के विरुद्ध वैपरीत्य दिखलाता है।
४७—मूल में है 'वयस्स ! कहिं ?' अर्थात् मित्र ! कहाँ ? (वह घटना हुई ?)
४९–५०- मूल श्लोक का अर्थ—
सजल मेघमाला के समान अधिक मद गिराने वाले हाथियों का समूह जहाँ गर्जन कर रहा है और चाबुक खाने की डर से कंपित और चंचल घोड़े जहाँ युद्धार्थ सज्जित होकर खड़े हैं।
अनुवाद में इस श्लोक का अर्थ इस भाव में लिया गया है कि चाणक्य द्वारा म्लेच्छ सेना का लुटा हुआ सामान कहाँ है ? उत्तर है कि मेघ के समान गण्डस्थलों से मद गिराने वाले तथा गर्जन करने वाले हाथी और चाबुक के डर से चंचल घोड़े इधर उधर देखते हुए राजद्वार पर खड़े हैं।
दोहे के पूर्वार्द्ध में हाथी और मेघ की ठीक समानता दिखलाई गई है इससे निदर्शना अलंकार है। उत्तरार्द्ध में चाबुक के भय से खड़े होने के कारण काव्यलिंग अलंकार हुआ। प्रस्तुत घोड़ों के अप्रस्तुत चाबुकप्रहार से भयभीत होने से समासोक्ति अलंकार हुआ।

६४–अर्थात् चन्दनदास को प्राणदण्ड से मुक्त कराने के लिए।

७१–जीवलोक या मर्त्यलोक में जिसे रहना हो अर्थात् जिसे जीवित रहने की इच्छा हो वह अवश्य चाणक्य की आज्ञा मानेगा। आज्ञा न मानना मानों इस संसार के त्याग करने का फर्मान है।

७५–७८–संधि विग्रहादि छ गुणों (तन्तु या सूत) से युक्त (गुथी) होने के कारण दृढ़, सामदामादि उपायों (कौशल) के प्रयोग से अच्छी प्रकार गठित, फाँसी के समान मुख वाली (रिपु-या पात्र के बाँधने योग्य) और शत्रुओं के बाँधने में चतुर चाणक्य की नीति रूपी डोरी की जय हो।

श्लेष सहित रूपकालंकार है। संधि, विग्रह, यान, आसन, द्वैध और आश्रय छ राजाओं के गुण हैं। साम, दाम, दण्ड और भेद चार उपाय हैं।

७९—८०—मूल में यों है–'आर्य चाणक्य से उंदुर नामक चर ने जिस स्थान के बारे में कहा था और जहाँ आर्य चाणक्य की आज्ञानुसार मुझे अमात्य राक्षस से मिलना होगा वह स्थान यही है।'

८५—९८–मूल के तीन श्लोकों का सात दोहों में अनुवाद है। पहले श्लोकों का भावार्थ दिया जाता है—

१–आश्रय के नाश से दुखित लक्ष्मी कुलटा के समान दूसरे गोत्र में चली गई, देखादेखी प्रजा ने भी स्वामी का अनुराग छोड़ कर उसीका अनुसरण किया और विश्वस्त भृत्यगण भी अकृतार्थ होकर प्रयत्न छोड़ बैठे। अथवा वे क्या करें। उत्तम अंग (मस्तक) रहित शरीर (कबन्ध) या नाग (हाथी, सर्प) के समान वे निश्चेष्ट पड़े हैं।

२–उच्चवंश-संभूत अपने पति भूपति नन्द को छोड़कर लक्ष्मी

दुश्चारिणी शूद्रा के समान छिद्र (अवसर) पाते ही वृषल की आश्रिता हो गई और स्थिरभाव से वहीं ठहर गई है। अब हमें क्या करना चाहिये। क्योंकि दैव शत्रु के समान सभी प्रयत्नों को विफल कर देता है।

३-मृत्यु के लिये अयोग्य देव नन्द के परलोकगमन पर पर्वतेश्वर का अवलम्बन कर प्रयत्न किया। उनकी मृत्यु पर उनके पुत्र का अवलम्बन कर चेष्टा की; तिस पर भी सिद्धि न हुई। नंद कुल का शत्रु दैव ही हो रहा है; वह ब्राह्मण (चाणक्य) नहीं।

प्रथम श्लोक का अनुवाद प्रथम तीन दोहों में है, दूसरे श्लोक का बाद के दो दोहों में और तीसरे का अन्तिम दो में। तीसरे श्लोक में राक्षस का चाणक्य प्रति अनादर सूचित होता है। अनुवाद का अर्थ स्पष्ट है।

अनुगौन = अनुगमन, अनुसरण, देखादेखी कोई काम करना। आप्त = कुशल, विश्वस्त। सुकुलजात = सु-कुल-जात, अच्छे वंश में उत्पन्न। छंद = छल छंद, कपट, चाल। निज सहज गुण = चांचल्य, अस्थिरता। मनोरथ-मूल = मनोरथ की जड़, आकांक्षा, इच्छा।

पहले दोहे में 'कुलटा के समान' के सम्बन्ध से उपमा अलंकार हुआ। दूसरे और तीसरे में कारण कार्य साथ रहने से दोनों में काव्यलिंग अलंकार हुआ। चौथे और पाँचवें दोहे में कई क्रियाओं का एक कर्ता होने से दीपकालंकार और सहज गुण चांचल्य के स्थैर्य सम्बन्ध से अतिशयोक्ति अलंकार हुआ। अंतिम दो दोहे की पहली तीन पंक्तियो में कारण और अन्तिम पंक्ति में फल होने से काव्यलिंग अलंकार हुआ। चाणक्य का दोष दैव के मत्थे मढ़ने से परिसंख्यालंकार हुआ।

१०१-४—मूल श्लोक का भावार्थ—

जिसने नष्ट हुए स्वामी की प्राणपर्यंत सेवा की वह राक्षस अवि-
नष्ट शरीर से किस प्रकार शत्रु से मिल जायगा ? उस विवेक-
बुद्धिहीन म्लेच्छ ने इस प्रकार विचार नहीं किया अथवा
दैव ने उसकी बुद्धि का पहले ही नाश कर दिया।

अनुवाद में इस भाव का अधिक स्पष्टीकरण है।

नृप-अनुराग = राजभक्ति, स्वामिभक्ति। लाग = शत्रुता, बदला लेने
का प्रयत्न।

सामान्य का विशेष रूप से सम र्थन होने से अर्थांतरन्यास अलं-
कार हुआ।

१०८–मूल में इसके स्थान पर यह है—

कुसुमपुर का यही उपकण्ठ-प्रांत देव नन्द के भ्रमण से पवित्र
हुआ है। यहीं—

१०९-१२–मूल श्लोक का अर्थ—

इस भूमि पर देव नन्द धनुष खींचते समय घोड़े की लगाम ढीली
कर देते थे जिससे वह वेग से दौड़ता था और तब चल
लक्ष्य पर विचित्र प्रकार से वे बाण छोड़ते थे। इसी उद्यान
में वे ठहरते थे और अधीनस्थ राजाओं से वार्तालाप करते थे।
उन लोगों के विना इस प्रकार कुसुमपुर प्रान्त को देखकर
दुःख होता है।

अनुवाद मूल से बिल्कुल भिन्न हो गया है। नन्द घोड़े के बदले
रथ पर सवार कराए गए हैं और उनके तीर चलाने की निपु-
णता दिखलाने के बदले अभ्यास करना दिखलाया गया है।
मूल में राजाओं से वार्तालाप हो रहा है पर अनुवाद में वे
शंकित से खड़े हैं।

दोहों में स्वभावोक्ति अलंकार है। मूल में दीपक और विनोक्ति
अधिक हैं।

११८—२१—मूल श्लोक का अर्थ—

जो पहले पुरवासियों द्वारा नवोदित चंद्र के समान उँगलियों से दिखलाए जाते हुए और सहस्रों राजों द्वारा परिवेष्ठित हो कर महाराज के समान धीरे धीरे नगर से निकलते थे वही हम इस समय निष्फल-प्रयत्न होने पर उसी नगर में चोर की नाईं डरते हुए इस पुराने उद्यान में जल्दी जल्दी घुस रहे हैं।

हे—थे। कृपा-दृग-कोर=कृपा दृष्टि।

इस से पुरुषों के भाग्य की विचित्रता रूपी विशेष अर्थ क समर्थन करने से अर्थांतरन्यास; चंद्र, महाराज और तस्कर की समानता से तीन उपमाएँ तथा एकही राक्षस की दो दशाएँ दिखलाने से पर्याय अलंकार हुआ।

१२५—६—मूल श्लोक का अर्थ—

सदनुष्ठाननिरत वंश (नंद) के समान बड़े समारोह से बने गृह नष्ट हो गए हैं, सुहृद के नाश होने से सज्जन के हृदय के समान यह तालाब सूख गया है, दुर्दैव के वशीभूत नीति के समान वृक्ष फलहीन हो रहे हैं और मूर्ख की बुद्धि जिस प्रकार कुरीति से लुप्त हो जाती है उसी प्रकार यह भूमि घास से आच्छादित हो गई है।

अनुवाद की केवल प्रथम पंक्ति मूल से भिन्न है। मूल 'विपर्यस्तं सौधं कुलमिव महारंभरचनं' है। गृह पक्ष में महारंभरचनं का अर्थ है कि जिसकी रचना का आरंभ भारी था या जिस की रचना भारी आरंभ (आयोजन) के साथ हुई थी। कुल के पक्ष में ढुंढिराज ने धर्मादिक्रियानुष्ठानादिः अर्थ लगाया है अर्थात् नंद वंश की रचना भी आरंभ ही से धर्मादि के साथ हुई। अनुवाद में सीधा अर्थ लिया गया है कि भारी राजकुल के समान बड़े बड़े भवन भी गिर गए।

इस श्लोक या दोनों दोहों में प्रथम पंक्ति से नंदकुल नाश, दूसरी पंक्ति से अपने हृदय की दशा, तीसरी से अपनी नीति की विफलता और चौथी से मलयकेतु की मूर्खता का भाव प्रकट होता है।

इस में चार उपमाएँ है और व्यंग्य से वस्तुध्वनि है।

१२९-३२-तीक्ष्ण कुठार के आघात से कटे हुए तथा पंडुक पक्षी के साथ मिल कर रोते हुए (पक्षी की बोली) वृक्षों के घाव दिखलाई पड़ते हैं। (वृक्षों पर रहने वाले) सर्प अपने मित्र के दुःख को देख कर दीर्घ निश्वास छोड़ रहे हैं और अपनी केंचुल छोड़कर उसे उन घावों पर फाहे के समान रख रहे हैं।

मूल में पंडुक के स्थान पर कबूतरों से रुलाया गया है। दुःख में रोना स्वाभाविक है इससे वृक्षों पर के बैठे हुए पक्षियों के शब्द को वृक्ष का रोना माना गया है। सर्प स्वभाव ही से फुफकारता रहता है, उसे मित्र भाव से दुःख-प्रदर्शन के लिए दीर्घनिश्वास छोड़ना माना है। घाव पर मरहम पट्टी करना भी स्वजन का काम है इससे चिरपरिचित वृक्ष की दवा सर्प द्वारा कराई गई है। ये तीनों उत्प्रेक्षाएँ हैं-प्रथम सापन्हवोत्प्रेक्षा और दूसरी तथा तीसरी हेतूत्प्रेक्षा है। पंडुक का रोना गम्योत्प्रेक्षा है। चिंताग्रस्त राक्षस की समवेदना प्रकट करना वस्तुध्वनि है।

१३३—३४—वृक्षों का भीतरी अंश सूख गया है। कीड़ा के काटने से बहुत छिद्र हो गए हैं (जिन में वृक्षों का रस रूप अश्रु बह रहा है) और पत्र फल आदि के न होने से छाया विहीन हैं (जिस से अत्यंत मलीन हैं) मानो श्मशान जा रहे हैं।

कोष्ठकों का अंश मूल में अधिक है। इस से यह भाव निकलता है कि नंद के मित्रों का हृदय सूख गया है, वे दुख के अश्रु

गिरा रहे हैं और स्वामी की छत्रच्छाया से हीन हो कर मरणेच्छुक हो रहे हैं।

उत्प्रेक्षालंकार तथा नंद-मित्रों का दुःख-जनित व्यवहार स्थापित करने से समासोक्ति अलंकार हुआ।

११८—३४—तक के प्रथम दो दोहों में राक्षस अपने दुर्भाग्य का वर्णन कर रहा है और उस के अनंतर के पाँच दोहों में राक्षस द्वारा उसके चारों ओर के दृश्य का इस प्रकार वर्णन कराया गया है जिससे उस वर्णित चित्र पर उसकी उद्विग्नता तथा निरुत्साह का भाव स्पष्ट प्रकट हो रहा है।

१३८—४१—शंख और तूर्य की ध्वनि मंगलनाद से मिलकर इतनी तीक्ष्ण हो गई कि वह सुननेवालों के कान फोड़े डालती है और जब घरों में (जिनके बीच मंगलनाद हो रहा था अर्थात् नगर में) न समाई तब इधर (मैदान में) आई मानों दिशाओं की दूरी नापने के लिए चली है।

उत्प्रेक्षालंकार है।

१४५—६—मूल श्लोक का भाव है—

शत्रु की सफलता तो सुनी थी, अब प्रत्यक्ष अनुभव भी हो गया। दैव ने मुझे यही दिखलाने के लिए यह प्रयत्न किया है।

अनुवाद का भाव विभिन्न है पर अर्थ स्पष्ट है। उत्प्रेक्षा अलंकार दोनों में हैं।

१५५—अनुवाद में केवल भद्र शब्द संबोधन है पर मूल में 'व्यसनब्रह्मचारिन्' है अर्थात् मेरे समान विपद्ग्रस्त !

१६८—मूल के अनुसार '(प्रकट) उसे क्या हुआ ?' बढ़ाया गया।

१७१—मूल के अनुसार '(प्रकट ...हुआ ?' बढ़ाया गया।

१७७—१८९—'कै तेहि रोग असाध्य भयो...तुम्हारे समान है'—क्या चहें कोई ऐसा असाध्य रोग हो गया है जिसके लिए कोई

दवा आदि प्राप्त नहीं है या अग्नि और विष से बढ़ कर भयंकर राजा के क्रोध में फँस गए हैं या किसी स्त्री पर आसक्त हो कर उसके विरह में मरणोन्मुख हुए हैं या तुम्हारे समान मित्र-दुःख ही उनकी भी मृत्यु का कारण हो रहा है ?

मूल श्लोक का यह सवैया अक्षरशः अनुवाद है केवल मूल में स्त्री का विशेषण अलभ्य छूट गया है अर्थात् वह स्त्री जिसे प्राप्त करना असंभव हो।

उपमा और रूपक अलंकार है।

१७८—निदान-रोगों का निर्णय, रोगों की पहचान।

२०६—मूलानुसार 'उन्हें क्या हुआ ?' बढ़ाया गया है।

२१८—२१-जिस धन के लिए स्त्री पति को और पुत्र शील खो कर पिता को त्याग देते हैं, भाई भाई से झगड़ते हैं और दुःख उठाकर भी मित्र सौहार्द छोड़ देते हैं उसीको बनिया हो कर कुछ न माना और मित्र के दुख से आर्त हो कर दे दिया। इससे तुम्हारा ही धन सार्थक हुआ; तुम्हारे समान संसार में कोई नहीं है।

मूल में है कि पिता पुत्र को और पुत्र पिता को शत्रु के समान मार डालते हैं। दोनों पक्ष पर लिखने से भाव अधिक सबल हो गया है। वणिक् जाति का मितव्यय प्रसिद्ध है।

धन की सार्थकता बतलाने से काव्यलिंग अलंकार और बनियापन के विरुद्ध कार्य करने से विरोधालंकार हुआ।

२३०—अमंगल-कुसमाचार, मृत्यु आदि से बुरे वृत्तांत।

२४१—४२-मित्र की अनुपस्थिति में भी शरणागतों का पालन कर (रक्षा कर) तुम ने शिवि के निर्मल यश के समान यश इस कराल कलियुग में पाया।

मित्र राक्षस के उपस्थित न रहने पर भी उसके पुत्रकलत्रादि

की रक्षा की जिनसे केवल राक्षस के संबंध से ही किसी प्रकार का बंधन था और शिवि ने तो शरणागत कपोत की गोद में पड़े रहने पर रक्षा की थी। इससे यह ध्वनि निकलती है कि तुम्हारा यश शिवि से श्लाघ्यतर है। अनुवाद में इसे और बढ़ा दिया है। शिवि ने सत्ययुग में वह कार्य किया था जब दान, धर्म आदि मनुष्यों का सहज स्वभाव ही था पर चंदनदास ने कलियुग में उससे बढ़ कर कार्य किया जब धर्म की तीन टाँगें टूट गई थीं। इससे वह अधिक प्रशंसनीय है।

उपमा तथा शिवि से अधिक प्रशंसनीय होने से व्यतिरेकालंकार हुआ।

शिवि—राजा शिवि जब बानवे यज्ञ कर चुके तब 'ऊँच निवास नीच करतूती' वाले इंद्र ने विघ्न डालने के लिए अग्नि को कबूतर बनाया और स्वयं बाज बना। दोनों इसी रूप में शिकार शिकारी बने हुए यज्ञशाला में पहुँचे और कबूतर राजा की गोद में गिर पड़ा। राजा ने उसे छिपा लिया और बाज के कथन पर कि मैं भूखा मर जाऊंगा अपने शरीर से कबूतर की तौल बराबर मांस देने का वचन दिया। तुला पर तौलते समय शरीर का कुल मांस चढ़ा देने पर जब कपोत का तौल न हुआ तब उन्होंने अपना सिर काटना चाहा पर भगवान ने प्रकट हो कर उन्हें स्वर्लोक भेज दिया।

२४७—निष्कृप=तीक्ष्ण, तेज। कृपाण=तलवार, कटार।

मूल में 'व्यवसायमहासुहृदा निस्त्रिंशेन' है अर्थात् प्रयत्नों का मित्र तलवार है। निस्त्रिंश उस शस्त्र को कहते हैं जो नाप में तीस अंगुल से अधिक हो। इससे छोटे कटार, छूरा आदि कहलाते हैं।

२४८—५१-मूल श्लोक का अर्थ—

यह तलवार जो बादलों से हीन आकाश के समान नीली है और जिसकी शक्ति शत्रुओं ने समररूपी कसौटी पर जाँच ली है युद्धार्थ आनंदित हो कर हाथ से मित्रता कर रहा है तथा मित्रस्नेह से विवश कर हमें साहस के काम में नियुक्त कर रहा है।

अनुवाद में समररूपी कसौटी का रूपक छूट गया है और तलवार की हाथ के साथ तत्सामयिक मित्रता को स्थिरता दी गई है।

मूल संस्कृत के इस अंश 'विगत जलदव्योम' का दूसरा पाठ 'सजलजलदव्योम' है। अनुवाद में पहला लिया गया है। दूसरे का अर्थ हुआ कि जलयुक्त बादलों सहित आकाश। इससे तलवार के आबदार होने की ध्वनि निकलती है।

हिंदी अनुवाद में बादल के समान उपमा और तन पुलकित होना उत्प्रेक्षा है।

२५६—संस्कृत मुद्राराक्षस की अन्य प्रतियों में पं० २५९–६० इसीके बाद हैं और उसके अनंतर निम्नलिखित अधिक हैं—

पुरुष—हमारा संदेह दूर करके हमें अनुगृहीत कीजिए।

२५७—भर्तृकुल-स्वामी अर्थात् नंद का वंश।

२६४—७४—राक्षस को निरस्त्र करने की यह नीति मात्र थी। यह चाणक्य का भेजा हुआ और उसीका सिखलाया हुआ चर था। (देखो इसी अंक की पं० ८०)

२७७—८—मूल श्लोक का भावार्थ—

यदि शकटदास शत्रु के इच्छानुसार हमारे पास लाया गया था तो क्रोध के आवेश में घातकों का यह मारा जाना कैसा? और यदि ऐसा नहीं हुआ तो यह कुत्सित कार्य (पत्र लिखना, मोहर करना आदि) कैसा? इस प्रकार मेरी तर्काकुल बुद्धि कुछ निश्चित नहीं कर सकती।

अनुवाद के दोहे में श्लोक का भाव पूर्णतया आ गया है केवल प्रकटीकरण में यही भिन्नता है कि मूल के 'यह कुत्सित कार्य कैसा ?' के स्थान पर 'जाल भयो का खेल !' है। भाव यह है कि यदि शकटदास वस्तुतः शत्रु से मिला नहीं है और वह सत्य ही भाग कर आया था तो वह पत्र-लेखन आदि कुकर्म कैसे कर सकता है ? इस में जाल ही हो सकता है।

अनिश्चयात्मक बुद्धि के हेतु होने के कारण काव्यलिंग अलंकार हुआ।

२७९—८२—(घातकों के मारे जाने के कारण) इस समय शस्त्र के प्रयोग से मित्र के मारे जाने की आशंका है। इस समय जो नीति सोचें (जिसका फल समय व्यतीत होने पर प्रकट होता है) तो व्यर्थ समय नष्ट होगा। जब (मेरे कर्म से प्रिय मित्र) चंदनदास मेरे लिए (घोर) कष्ट में पड़ा हुआ है तब चुप चाप बैठ रहना उचित नहीं है। (अब मैं समझ गया कि) मित्र के रक्षार्थ हम अपना शरीर बेचेंगे।

कोष्ठकों के भीतर का अंश मूल में अधिक है।

शरीर बेंचना अर्थात् दास्य स्वीकार करना, मंत्रित्व का अधिकार हाथ में लेना।

प्रथम तीन पंक्तियों में काव्यलिंग और अंतिम में परिवृत्ति अलंकार है।

सप्तम अंक

छठे अंक में राक्षस का पकड़ा जाना रूपी मुख्य कार्य की फल-प्राप्ति का निश्चित होना नियताप्ति है। अब इस अंक में राज्यस्थैर्य रूपी नाटक के उत्कृष्ट फल की प्राप्ति अर्थात् फलागम वर्णित है। रस्सी हाथ में लिए हुए पुरुष से सूचना पाकर राक्षस शस्त्र त्याग कर चंदनदास को छुड़ाने के लिए बधस्थान की ओर गया। इसी पर चंदनदास का वृत्तांत इस अंक में अभिनीत करने से दोनों अंकों के बीच संबंध टूटने नहीं पाया।

१—२—'जो अपना······छोड़ों' अंश मूल में आर्या छंद में है पर उसकी धारा ठीक नहीं है इससे स्यात् अनुवाद भी गद्य ही में रखा गया। मूल में 'राजा का विरोध यत्नपूर्वक छोड़' के पहले इतना अधिक है 'विष के समान'।

४—५—अपथ्य करने से केवल रोगी ही की मृत्यु होती है पर राजद्रोह करने से कुल-सहित वह मनुष्य नष्ट होता है, ऐसा जानो।

मूल के पूर्वार्द्ध का भाव है कि 'अपथ्य से पुरुष को केवल व्याधि या मृत्यु होती है'। मूल से अनुवाद में भाव अधिक है।

१२—१३—मूल इस प्रकार है—'आर्य! तब इनकी शुभ गति की प्रार्थना करिए। इनके प्रतीकार का उपाय करना आप के लिए निष्प्रयोजन है।'

पहले यह नियम था कि जिसे सूली दी जाती थी वही सूली को ढोकर वधस्थान तक ले जाता था।

१४—२१—अनुवाद में स्त्री द्वारा कहलाया गया है पर मूल में पंक्ति १४-२५ तक चंदनदास ही का कथन है।

१५—फूंकफूंक कर पैर रखना—बहुत समझ बूझ कर चलना, पाप कर्म से दूर रहना।

१६—मूल के अनुसार इस प्रकार चाहिए—काल-देवता को नमस्कार है। नृशंस व्यक्तियों के लिए मित्र और उदासीन एक से हैं।

१८—१९-मारे जाने के डर से मांस खाना छोड़ कर मृगादि तृण घास खाकर जीवन विताते हैं पर निर्दय वधिक उन्हीं तृणभोजी गरीबों को मारते हैं। भाव यह है कि निर्दय लोग निर्दोषों को भी दुःख देते हैं। अप्रस्तुत वधिक द्वारा मृग का बध दिखलाकर प्रस्तुत चाणक्य द्वारा चंदनदास का वध दिखलाने से अप्रस्तुतप्रशंसालंकार, दोनों में त्रिंबप्रतिबिंब भाव होने से दृष्टांतालंकार और मृत्युभय से मांसाहार छोड़ना अतिशयोक्ति है।

३१—यह पंक्ति मूल से अधिक है। परदेश जाते समय कुटुंबी लोग साथ साथ नहीं जाते पर मृत्यु के अनंतर परलोक जाते समय सभी कुटुंबी श्मशान तक साथ जाते हैं।

५५—मूल में वेणुवेत्रक के स्थान पर बिल्वपत्र है।

६०-इस से ज्ञात होता है कि पुत्र पिता से उदारता में कम न था।

६४—मूल में सेनापते, शूलायतनः या शूलपाते तीन पाठ मिलते हैं। पर यहाँ संबोधन चाँडालों ही को है जिनके लिए सेनापति से प्रतिष्ठित शब्द का प्रयोग अनुचित समझ अंतिम दो पाठ ठीक मान कर घातकों रख दिया गया।

६६—६९-जिसने अपने स्वामी के वंश का शत्रु (के कुल के) समान नाश अपनी आँखों देखा, जो अपने मित्रों के दुख में भी (भारी उत्सव के समान कातर नहीं हुआ) निर्लज्ज हो कर जीवित रहा और जिसकी आत्मा तुम लोगों से हर प्रकार से हार कर भी (अर्थात् अपमान का पात्र होने पर भी तुम लोगों को मारने के लिए प्रिय वस्तु के समान रक्षित

रही) नहीं निकली वही राक्षस मैं हूँ। उसके गले में यह जमफाँस (जो यमलोक जाने का मार्ग स्वरूप है) डालो ॥

कोष्ठकांतर्गत अंश मूल में अधिक हैं। राक्षस का अपने प्रति उपालंभ है कि स्वामिवंश के नष्ट होने पर और कौलूतादि मित्रों के नष्ट होने पर भी वह जीवित रहा।

शत्रु-समान उपमा है।

जमफाँस-मूल शब्द वध्यस्रग है। शूली में डोरी की कोई आवश्यकता नहीं होती। वध्यवेश में लाल फूलों की माला, लाल वस्त्र आदि होते हैं जिसे धारण करने वाला मारा जाता है। इससे जमफाँस से यहाँ लाल फूलों की माला से तात्पर्य है।

७९—८४-दुर्जनों के अनुकूल कुकाल कलियुग में जिस यशस्वी ने अपने प्राणपण से दूसरे की रक्षा कर शिवि के यश को छोटा कर दिया, जिस निर्दोष स्वभाव वाले ने अपने सुचरित्र से बौद्धों को भी तिरस्कृत कर दिया और जो (चंदनदास) पूजनीय होने पर भी जिसके (राक्षस) लिए तुम से वध्य हुआ सो मैं उपस्थित हूँ।

यह मूल श्लोक का अनुवाद हुआ। अनुवाद तीन दोहों में हुआ है इस से कुछ विशेष बातें आ गई हैं। तीनों दोहों का अर्थ नीचे दिया जाता है।

(१) जिस ने कलियुग में मित्र के लिए तृण के समान प्राण छोड़ दिया और जिसके यश-रूपी सूर्य के आगे शिवि का यश दीपक के समान है।

इसमें यह भाव है कि शिवि ने सत्ययुग के पुरुष होने पर जो किया वह चंदनदास ने कलियुग में कर दिखाया इससे वह बढ़कर हैं (व्यतिरेकालंकार)। मूल के 'परं रक्षता' के स्थान पर अनुवाद में मित्र-हित होने से वह भाव कुछ फीका पड़

गया। यश का सूर्य तथा दीपक से उपमा देना अनुवाद में अधिक है।

(२) जिस के सुचरित्र, दया आदि को नित्य ही देखकर तथा विशुद्ध मानकर सभी बौद्ध मतावलंबी लज्जित हो गए।

(३) रे दुष्ट ! जिसके लिए तू इस पूजा के योग्य पुरुष को पकड़ कर मारता है वह तेरा शत्रु मैं आपही यहाँ उपस्थित हूँ।

इस दोहे में परिवृत्ति अलंकार की ध्वनि निकलती है।

८९ - कुछ प्रतियों में कोष्ठक के पहले 'एदु अमच्चो' है अर्थात् अमात्य आइये।

९०—सेना-संचय—सेना का समूह, बड़ी सेना। कुछ प्रतियों में केवल नंदकुल नग कुलिसस्स है अर्थात् 'नंदकुल रूपी पर्वत के लिये वज्र'।

९८—१०१–किस ने अग्नि की (ऊंची उठती हुई) कठिन ज्वाला को अपने वस्त्र में बाँध लिया ? (सतत गमन शील) वायु की गति को डोरियों के जाल से किस ने रोक दिया। हाथियों को मर्दन करनेवाले सिंह की (जिस के बाल हाथियों के मद से सुरभित हो गए हैं) पिंजड़े में किस ने बंद किया। किसने केवल अपने हाथों के बल से समुद्र को (जिसमें भयंकर घड़ियाल और मगर भरे हुए हैं) पार किया है ?

कोष्ठकांतर्गत अंश मूल में अधिक हैं। राक्षस के संयमन-रूपी होती हुई असंभव बात को पूर्वोक्त चार न होते हुए वस्तु प्रबंध से सादृश्य दिखलाने के कारण निदर्शना अलंकार है। प्रथम में बाँध लेने की क्रिया दोनों में एक होने से बिंब-प्रति बिंब-भाव है और अन्य तीन में असंभवत्व का प्रतिबिंब मात्र है। इस प्रकार कई प्रतिबिंब होने से निदर्शना की माला सी बन गई है।

इन दोहों से चाणक्य राक्षस की दुर्धर्षता दिखलाता है पर उसे बद्धपाश करने पर यह कहने से गर्वोक्ति की ध्वनि निकलती है। अप्रस्तुत असंभव बातों से प्रस्तुत राक्षस-संयमन के सारूप्य निबंधना से अप्रस्तुतप्रशंसा अलंकार है। असंभव बातों की प्रधानता भी अतिशयोक्ति है।

१०७—८–मूल का भावार्थ—

जिस प्रकार समुद्र रत्नों का आकर है उसी प्रकार ये सब शास्त्रों के आकर हैं। द्वेष–बुद्धि से हम इनके गुण से प्रसन्न नहीं हुए।

अनुवाद का अर्थ स्पष्ट है और भाव भी आ गया है पर प्रकटीकरण में भिन्नता है। मूल के 'द्वेष–बुद्धि के कारण गुण पर प्रसन्न न होने से' अनुवाद के 'द्वेषबुद्धि रखते हुए (शत्रु मानते हुए) भी गुण पर प्रसन्न होने में' अधिक सहृदयता झलकती है। दोनों ही से राक्षस की गुणग्राहकता प्रकट है। सागर से चाणक्य की उपमा दी गई है और चाणक्य में गुणों की खान का रूपक बांधा गया है।

१११—१२–जिस ने बहुत क्लेश के साथ रात्रि को जाग कर सर्वदा सोचते हुए (उन उपायों को जिन्हों ने) मेरी बुद्धि तथा चंद्रगुप्त की सेना को थका दिया था।

अथवा

जिसने मेरी बुद्धि और चंद्रगुप्त की सेना को थका दिया क्योंकि (हम सब को) रात्रि को जागकर बहुत क्लेश के साथ सर्वदा (राक्षस के उपायों से बचने के लिए) सोच विचार में (सेनापक्ष में सतर्क) रहना पड़ता था।

मति और सेना दोनों का एक धर्म-संबंध होनेसे तुल्ययोगिता अलंकार हुआ।

११४—बड़ों के अभिवादन के समय नामोल्लेख करना कर्तव्य

कहा गया है अभिवादात् परो विप्रो ज्यायांसमभिवादयन्।
असौ नामाऽहमस्मीति स्वनाम परिकीर्त्तयेत् ॥' [मनु०
अध्याय २ श्लोक १२२]

११८–श्वपाक–चांडाल

१२६—७–'भद्रभटादि' के लिए अंक ३ पं० २५६ देखिए। 'लेख' वही पत्र है जो शकटदास से लिखवाया गया था, 'भदंत' वही बौद्ध संन्यासी जीवसिद्धि है, 'भूषण' वे तीन थे जिन्हें चाणक्य ने चंद्रगुप्त से अपने ब्राह्मणों को दिलवाया था और उन्हीं के द्वारा राक्षस के हाथ वेंचवाया था तथा 'नट आरत भेख' से वह पुरुष इंगित है जो निर्जन वाटिका में नटवत फाँसी लगाकर प्राण देने का स्वाँग रच रहा था।

दोनों दोहों का अर्थ स्पष्ट है। कार्य का कारण दिए जाने से काव्य-लिंग और प्रथम तीन पंक्तियों के विशेष वाक्यों से अंतिम के सामान्य वाक्य के साधर्म्य से अर्थांतरन्यास अलंकार हुए। दर्पणोक्त लक्षणानुसार मूल कारण तथा मुखसंधि आदि के कथन-सहित होने से निर्वहण संधि हुई।

१३५—चंद्रगुप्त के लज्जित होने का कारण यही था कि वह अपने विक्रम का गुरु को कुछ परिचय न दे सका और उन्होंने उसके मार्ग के सभी कंटकों को दूर कर दिया।

१३७—३८–मूल श्लोक का अर्थ

तीरों का समूह फलयोग की प्राप्ति होने से (कार्य-सिद्धि से या लोहे के फलों के संबंध से) निज कार्य से लक्ष्यच्युत (अयोग्य) हो कर निज तुणीर में नीचे मुख कर शयन कर रहा है जो (मुझे) प्रीतिकर नहीं है।

अनुवाद का अर्थ—

मेरे बाणों का समूह काम के न होने से (कार्यहीन या निकम्मा)

लज्जित हो शोक से नीचे मुख कर के सर्वदा तूणीर में सोया रहता है।

इस में हेतूत्प्रेक्षा अलंकार है।

१३९-४०-यदि हम प्रत्यंचा उतार कर सोते हैं (अर्थात् राज्यचिंता से विमुख हैं) तौ भी संसार विजय करने में समर्थ हैं क्योंकि जिसके नीति-धुरंधर तथा निडर गुरु सर्वदा जाग्रत रहते हैं (अर्थात् राज्यकार्य्यों में दत्तचित्त हैं) तथा वे सब करने में समर्थ हैं।

मूल में 'हम' के स्थान पर 'मेरे समान' है। काव्यलिंग और युद्धादि व्यापार न रहते जयलाभ प्रकट करने से विभावना अलंकार है।

१४९-५०-बाल्यावस्था ही से जिसके भावी उदय का अनुमान हो रहा था वह बाल गज यूथाधिप के समान राज्यारूढ़ हो गया है।

चन्द्रगुप्त की बाल गज से उपमा दी गई है। यूथाधिप-हाथियों के झुंड का सब से अधिक बलवान मत्त हाथी।

१५३-४-जब नीति-परायण आप और गुरु जो दोनों ही (राज चिन्ता में) जागरुक हैं तब आप ही कहें कि इस संसार में ऐसा कौन है जिसे हम ने पराजित नहीं किया।

राक्षस के मुख से विजयाशीर्वाद सुनकर चन्द्रगुप्त विनय के साथ दिखला रहे हैं कि आपको विजय करने से हम जगद्विजयी हो गए।

काव्यलिंग और तुल्ययोगिता अलंकार है।

१६०-३-योग्य राजा का मंत्री हो कर मूर्खबुद्धि को भी यश तथा लाभ दोनों की प्राप्ति होती है (और यहाँ तो स्वामी और मंत्री दोनों ही नीतिनिपुण हैं) पर नीतिज्ञान-संपन्न मंत्री

अयोग्य राजा के अधीन हो कर नदी के तटस्थ जल से कटे हुए शीर्णाश्रय वृक्ष के समान गिरते हैं।

कोष्ठक का अंश अनुवाद में अधिक है। उसके न रहने से चाणक्य को मूर्ख बनाने की द्वेषबुद्धि का तथा आत्मश्लाघा का दोष राक्षस पर आरोपित किया जा सकता है पर अनुवादक ने वह वाक्य रख कर उसका परिहार कर दिया।

सामान्य कथन से विशेष इष्ट होने के कारण अप्रस्तुत प्रशंसालंकार है। सामान्य से विशेष का साधर्म्य होने से अर्थांतरन्यास हुआ। 'नदी-तीर-तरु जिमि नसत' के बिंबानुबिंब भाव से निदर्शना अलंकार है।

१७७—८२–गर्वित शत्रु के दर्प को चूर्ण करनेवाले अपने पौरुष के माहात्म्य को देखिए कि अनवरत लगाम कसी होने तथा कभी पीठ खाली न रहने से कृश हुए घोड़े और नित्य सन्नद्धभाव से रणसज्जा के कसे रहने से जिनकी पीठ फूल उठी है ऐसे हाथी स्वेच्छानुसार स्नान, खान पान और शयन के सुख से वञ्चित हैं।

अनुवाद छप्पय में है और भाव कुछ भिन्न है। अर्थ—

घोड़े की लगाम कसे रहते हैं और पीठ से नहीं उतरते हैं। खान पान, स्नान आदि सुख साज छोड़कर भी मुख नहीं मोड़ते जिस से आँखों में नींद नहीं है और दिन रात मन में भ्रम रहने से सभी वीर सशंकित रहते हैं। राजा के हाथियों को देखिए कि सर्वदा उन पर हौदे कसे हुए हैं। शत्रु के गर्व को दमन करने वाले अपने अत्यंत प्रबल पौरुष को (जिनके वे उदाहरण हैं) देखिए।

चाणक्य राक्षस के विक्रम के प्रभाव से सर्वदा सेना का युद्धार्थ सनन्नद्ध

रहते रहते श्रांत होना तथा सशंकित रहना सुनाकर उसकी योग्यता दिखलाता है।

हाथी, घोड़े, बीर आदि के एक धर्म-संबंध से तुल्ययोगिता अलंकार है।

१८६—८९-मूल श्लोक का अर्थ—

नंद के स्नेह का अंश हृदय को आकृष्ट करता है पर हम उनके शत्रु के सेवक हुए। जिन वृक्षों को स्वयं जल से सिक्त कर बड़ा किया उन्हें कैसे काटा जाय ? मित्र की शरीर-रक्षा के लिए शस्त्र लेना हमारा कर्तव्य है। भाग्य की कार्य-गति विचार में नहीं आती।

श्लोक का भाव अनुवाद में पूर्णतया आ गया है केवल तीसरी पंक्ति के भाव के प्रकटीकरण में कुछ भिन्नता है। मल में शस्त्र-ग्रहण करना कर्तव्य बतलाया गया है पर अनुवाद में दिखलाया गया है कि वह कर्तव्य न पालन कर हम स्वयं अपने मित्र का घात कैसे करेंगे अर्थात् अस्त्र-ग्रहण न करने से वह मारा ही जायगा।

प्रथम पंक्ति में स्वामिभक्ति तथा स्वामी के शत्रु का दासत्व साथ ही होने से विषमालंकार है। दूसरी पंक्ति में मलयकेतु आदि वृक्षों को स्वयं बढ़ाकर काटना परंपरित रूपकालंकार है तथा अप्रस्तुत वृक्ष से प्रस्तुत अपने पक्ष के संबंध से अप्रस्तुत-प्रशंसा अलंकार हुआ। अंतिम पंक्ति में सामान्य कथन से प्रथम तीन पंक्ति की विशेष बातों के समर्थन से अर्थान्तर-न्यास अलंकार हुआ।

१९०—९१-नमस्सर्व······स्नेहाय-मित्र प्रेम को, जो सब कार्यों के करने का कारण है, नमस्कार करता हूँ।

२२०-२१—अर्थ स्पष्ट है। उपयुक्त प्रशंसा से सम नामक अलंकार हुआ।

२२७-२८-अर्थ स्पष्ट है। बाँधने और न बाँधने के परस्पर विरुद्ध होने से विषमालंकार है।

२३४—३७—अन्वय—अतनुबलां वाराहीं तनुम् आस्थितस्य यस्य आत्मयोनेः अनुरूपां प्रलयपरिगता भूतधात्री दंतकोटिं प्राक् शिश्रिये अधुना म्लेच्छैः उद्वेज्यमाना राजमूर्त्तेः (यस्यः) पीवरं भुजयुगं (शिश्रिये) श्रीमद्बंधुभृत्यः पार्थिवः चंद्रगुप्तः महीं चिरम् अवतु।

भावार्थ-महाबली वाराह-शरीरधारी स्वयंभू विष्णु जिनके दंष्ट्राग्र पर प्रलय में निमग्ना पृथिवी ठहरी हुई थी और इस समय म्लेच्छों द्वारा उत्पीड़ित होकर जिन राजमूर्ति के दोनों दृढ़ भुजाओं के आश्रय पर है वे वैभवशाली राजा चंद्रगुप्त अपने बंधु तथा भृत्यों के साथ बहुत दिनों तक पृथ्वी की रक्षा करें।

पुराणों में कथा है कि प्रलय में जलमग्ना पृथ्वी को विष्णु भगवान ने वराह अवतार धारण कर बाहर निकाला था। विष्णुपुराण के अनुसार राजा विष्णु भगवान के अवतार समझे जाते हैं 'ना विष्णुः पृथिवीपतिः'।

आदि, मध्य और अंत में मंगलविधान होना चाहिए। आरंभ में मंगलाचरण है, मध्य में शरद्-वर्णन के अवसर पर शंभु तथा विष्णु (अँ० ३ पं० १९६-२०९) का गुणानुवाद रूप मंगलपाठ हुआ और अन्त में विष्णु के वराहावतार का गुण-कीर्तन रूप मंगल विधान हुआ। इस प्रकार के मंगलपाठों से उपास्योपासक के भेद-ज्ञान की दशा में भी 'अभेदः शिवरामयोः' स्पष्टतया व्यक्त है।

इस श्लोक में रूपकालंकार है।

परिशिष्ट (ग)

इस नाटक के विषय में विलसन साहिब लिखते हैं कि यह नाटक और नाटकों से अति विचित्र है क्योंकि इसमें सम्पूर्ण राज-नीति के व्यवहारों का वर्णन है। चन्द्रगुप्त (जो यूनानी लोगों का सैन्ड्रोकोतस Sanodrocotts है) और पाटलिपुत्र (जो यूरप की पाली बोत्तरा Polibothra है) के वर्णन का ऐतिहासिक नाटक होने के कारण यह विशेष दृष्टि देने के योग्य है।

इस नाटक का कवि विशाखदत्त महाराज पृथु का पुत्र और सामन्त बटेश्वरदत्त का पौत्र था। इस लिखने से अनुमान होता है कि दिल्ली के अन्तिम हिन्दू राजा पृथ्वीराज चौहान ही का पुत्र विशाखदत्त है क्योंकि अन्तिम श्लोक से विदेशी शत्रु की जय की ध्वनि पाई जाती है। भेद इतना ही है कि रायसे में पृथ्वीराज के पिता का नाम सोमेश्वर और दादा का आनन्द लिखा है। मैं यह अनुमान करता हूँ कि सामन्त बटेश्वर इतने बड़े नाम को कोई शीघ्रता में या लघु करके कहै तो सोमेश्वर हो सकता है और सम्भव है चन्द ने भाषा से सामन्त बटेश्वर को ही सोमेश्वर लिखा हो।

मेजर विल्फर्ड ने मुद्राराक्षस के कवि का नाम गोदावरी-तीर-निवासी अनन्त लिखा है; किन्तु यह केवल भ्रममात्र है। जितनी प्राचीन पुस्तकें उत्तर वा दक्षिण में मिली किसी में अनन्त का नाम नहीं मिला है।

इस नाटक पर बटेश्वर मैथिल पण्डित की एक टीका भी है। कहते हैं, कि गुहसेन नामक किसी अपर पण्डित की भी एक टीका है किन्तु देखने में नहीं आई। महाराज तंजौर के पुस्तकालय में व्यासराज यज्वा की एक टीका और है।

चन्द्रगुप्त*की कथा विष्णु पुराण, भागवत आदि पुराणों में और बृहत्कथा में वर्णित है।

महानन्द अथवा महापद्म नन्द भी शूद्रा के गर्भ से था और कहते हैं, कि चन्द्रगुप्त इसकी एक नाइन स्त्री के पेट से पैदा हुआ था। यह पूर्व पीठिका में लिख आये हैं कि इन लोगों की राजधानी पाटलिपुत्र थी। इस पाटलिपुत्र (पटने) के विषय में यहां लिखना कुछ अवश्य हुआ। सूर्य्यवंशी सुदर्शन† राजा की पुत्री पाटली ने पूर्व में इस नगर को बसाया। कहते हैं कि कन्या को बन्ध्यापन के दुःख और दुर्नाम से छुड़ाने को राजा ने एक नगर बसाकर उसका नाम पाटलिपुत्र रख दिया था। वायु पुराण में जरासन्ध के पूर्व पुरुष वसुराजा ने विहार प्रान्त का राज्य संस्थापन किया यह लिखा है। कोई कहते हैं कि वेदों में जिस वसु के यज्ञों का वर्णन है वही राज्यगिरि राज्य का संस्थापक है। (जो लोग चरणार्दि को राजगृह का पर्वत बतलाते हैं उनको केवल भ्रम है।) इस राज्य का प्रारम्भ चाहे जिस तरह हुआ हो, जरासन्ध ही के समय से यह प्रख्यात हुआ है। मार्टिन साहब ने जरासन्ध के विषय में एक अपूर्व कथा लिखी है। वह कहते हैं कि जरासन्ध दो पहाड़ियों पर दो पैर रखकर द्वारिका में जब स्त्रियां नहाती थीं तो ऊंचा होकर उनको घूरता था इसी अपराध पर श्री कृष्ण ने उसको मरवा डाला !!!

---

* प्रियदर्शी, प्रियदर्शन, चन्द्र, चन्द्रगुप्त, श्रीचन्द्र, चन्द्रजी, मौर्य यह सब चन्द्रगुप्त के नाम हैं और चाणक्य, विष्णुगुप्त, द्रोमिल वा द्रोहिण, अंशुल, कौटिल्य यह सब चाणक्य के नाम हैं। कहते हैं कि विकटपल्ली के राजा चन्द्रदास का उपाख्यान लोगों ने इन्हीं कथाओं से निकाल लिया है।

† सुदर्शन सहस्रबाहु अर्जुन का भी नामान्तर था, किसी किसी ने भूल से पाटली को शूद्रक की कन्या लिखा है।

मगध शब्द मग से बना है। कहते हैं कि श्री कृष्ण के पुत्र साम्ब ने शाक द्वीप से मग जाति के ब्राह्मणों को अनुष्ठान करने को बुलाया था और वे जिस देश में बसे उसकी मगध संज्ञा हुई, जिन अंग्रेज विद्वानों ने 'मगध देश' शब्द को मद्ध (मध्यदेश) का अपभ्रंश माना है उन्हें शुद्ध भ्रम हो गया है। जैसा कि मेजर विल्फर्ड पालीबोत्रा को राजमहल के पास गङ्गा और कोसी के संगम पर बतलाते और पटने का शुद्ध नाम पद्मावती कहते हैं। यों तो पाली नाम के कई शहर हिन्दुस्तान में प्रसिद्ध हैं किन्तु पालीबोत्रा पाटलिपुत्र ही है। सोन के किनारे मावली एक स्थान है जिसका शुद्ध नाम महावली पुर है। महावली नन्द का नामान्तर भी है, इसीसे और वहाँ प्राचीन चिन्ह मिलने से कोई कोई शंका करते हैं कि बलीपुर वा बलिपुत्र का पालीबोत्रा अपभ्रंश है किंतु यह भी भ्रम ही है। राजाओं के नाम से अनेक ग्राम बसते हैं, इसमें कोई हानि नहीं, किन्तु इन लोगों की राजधानी पाटलिपुत्रही थी। कुछ विद्वानों का मत है कि मगलोग मिश्र देश से आये और यहां आकर Isiris और Osiris नामक देव और देवी की पूजा प्रचलित की। यह दोनों शब्द ईश और ईश्वरी के अपभ्रंश वोध होते हैं। किसी पुराण में महाराज दशरथ ने शाकद्वीपियों को बुलाया यह लिखा है। इस देश में पहले कोल और चेरु (चोल) बहुत रहते थे। शुनक और अजक इनमें प्रसिद्ध हुए। कहते हैं, कि इन दोनों को लड़कर ब्राह्मणों ने निकाल दिया। इसी इतिहास से भुइहार जाति का भी सूत्रपात होता है और जरासन्ध के यज्ञ से भुइहारों की उत्पत्तिवाली किम्बदन्ती * इसका पोषण करती है।

---

* भारतवर्षीय राजदर्पण प्रथम खण्ड में लिखा है। "यह भी प्रसिद्ध है कि मगधाधिपति महाराज जरासन्ध के यज्ञ के समय लक्ष ब्राह्मण भोजन

बहुत दिनोंतक ये युद्ध प्रिय ब्राह्मण यहाँ राज्य करते रहे, किन्तु एक जैन पण्डित, जो ८०० वर्ष ईसा मसीह के पूर्व हुआ है, लिखता है कि इस देश के प्राचीन राजा को मग नामक राजा ने जीतकर निकाल दिया। कहते हैं, कि विहार के पास बारागंज में इसके किले का चिन्ह भी है। यूनानी विद्वानों और वायु पुराण के मत से उदयाश्व ने मगध राज्य संस्थापन किया। इसका समय ५५० ई० पूर्व बतलाते हैं और चन्द्रगुप्त को इससे तेरहवां राजा मानते हैं।

यूनानी लोगों ने सोन का नाम Erannobaos (इरन्नोबा-ओस) लिखा है। यह शब्द हिरण्यबाह का अपभ्रंश है। (हिरण्यबाह) स्वर्णनद और शोन का अपभ्रंश सोन है। मेगास्थनीज अपने लेख में पटने के नगर को ८० स्टेडिआ (आठ मील) लम्बा और १५ चौड़ा लिखता है जिससे स्पष्ट होता है कि पटना

कराने के प्रयोजन होनेपर राजा के अज्ञात में उनके कोई कर्म्माध्यक्ष जिनको ब्राह्मणों के ले आने की आज्ञा हुई थी उनने अनेक कष्ट से भी आज्ञानुयायी ब्राह्मण संग्रह करने में असमर्थ होकर राज्यदण्ड के भय से अपर जाति के लोगों के गले में यज्ञोपवीत डाल भोजन करवा दिया। पीछे उन सबों के जात विरादरी के उनके साथ आहार व्यवहार परित्याग करने से वे सब कोई राजा जरासन्ध के पास जाकर उनके कर्म्माध्यक्ष के नाम पर नालिश करके उन्होंने आद्योपान्त सब वृत्तान्त प्रकाश कर दिया। जिसपर राजाने लाचार होकर उन्हों के गुजरान के लिये अपने अधिकार में भूमि देकर उन सबों को बसाया। इसी से उन खानदानों को आजतक भूमिहार ब्राह्मण कहते हैं। और एक प्रमाण इसका यह है कि भूमिहारों के वासस्थान उस समय के मगध राज्यकी सीमा के बाहर और अन्यत्र प्रायः "दृष्टिगोचर नहीं होते हैं।" इसके सिवाय विहारदर्पण में भूमिहारों की उत्पत्ति लिखी है।

पूर्व काल ही से लम्बा नगर है* । उसने उस समय नगर के चारों ओर ३० फुट गहिरी खाई, फिर ऊंची दीवार और उसमें ५७० बुर्ज और ६४ फाटक लिखे हैं। यूनानी लोग जो इस देश को Prassi प्रास्सि कहते हैं वह पलाशी का अपभ्रंश बोध होता है क्योंकि जैन ग्रन्थों में उस भूमि के पलाश वृक्ष से आच्छादित होने का वर्णन देखा गया है।

जैन और बौद्धों से इस देश से और भी अनेक सम्बन्ध है। मसीह से छ सौ वर्ष पहले बुद्ध पहले पहल राजगृह ही में उदास होकर चले गये थे। उस समय इस देश की बड़ी समृद्धि लिखी है और राजा का नाम बिम्बसार लिखा है। (जैन लोग अपने बीसवें तीर्थंकर सुव्रत स्वामी का राजगृह में कल्याण भी मानते हैं) बिम्बसार ने राजधानी के पास ही इनके रहने को कलद नामक विहार भी बना दिया था। फिर अजातशत्रु और अशोक के समय में भी वहुत स्तूप बने। बौद्धों के वड़े बड़े धर्म-

---

* जिस पटने का वर्णन उस काल के यूनानियों ने उस समय इस धूम से किया है उसकी वर्त्तमान स्थिति यह है। पटने का जिला २४°५८′ से २५°४२′ लैटि० और ८४°४४′ से ८६°०५′ लौंगि० पृथ्वी २१०१ मील समचतुष्कोण। १५.५९६३८ मनुष्य संख्या। पटने की सीमा—उत्तर गंगा, पश्चिम सोन, पूर्व मुंगेर का जिला और दक्षिण गया का जिला। नगर की वस्ती अब सवा तीन लाख मनुष्य और बावन हजार घर हैं। साढ़े आठ लाख मन के लगभग बाहर से प्रतिवर्ष यहां माल आता और पांच लाख मन के लगभग जाता है। हिन्दुओं में छ जाति यहां विशेष हैं। यथा एक लाख अस्सी हजार ग्वाला, एक लाख सत्तर हजार कुनबी, एक लाख सत्रह हजार भूइहार, पचासी हजार चमार, अस्सी हजार कोईरी और आठ हजार राजपूत। अब दो लाख के आसपास मुसल्मान पटने के जिले में बसते हैं।

समाज इस देश में हुए। उस काल में हिन्दू लोग इस बौद्ध धर्म के अत्यन्त विद्वेषी थे। क्या आश्चर्य है कि बौद्धों के द्वेष ही से मगध देश को इन लोगों ने अपवित्र ठहराया हो और गौतम की निन्दा ही के हेतु अहल्या की कथा बनाई हो।

भारत-नक्षत्र नक्षत्री राजा शिवप्रसाद साहब ने अपने इतिहास तिमिरनाशक के तीसरे भाग में इस समय और देश के विषय में जो लिखा है वह हम पीछे प्रकाशित करते हैं। इससे बहुत सी बातें उस समय की स्पष्ट हो जायंगी।

प्रसिद्ध यात्री हिअानसांग सन् ६३७ ई० में जब भारतवर्ष में आया था तब मगध देश हर्षवर्द्धन नामक कन्नौज के राजा के अधिकार में था। किन्तु दूसरे इतिहास-लेखक सन् २०० से ४०० तक बौद्ध कर्णवंशी राजाओं को मगध का राजा बतलाते हैं और अन्ध्रवंश का भी राज्य चिन्ह सम्भलपुर में दिखलाते हैं।

सन् ११९२ ई० में पहले इस देश में मुसलमानों का राज्य हुआ। उस समय पटना बनारस के बन्दावत राजपूत राजा इन्द्रदमन के अधिकार में था। सन् १२२५ में अलतमिश ने गयासुद्दीन को मगध प्रान्त का स्वतन्त्र सूबेदार नियत किया। इसके थोड़े ही काल पीछे फिर हिन्दू लोग स्वतन्त्र हो गये। फिर मुसलमानों ने लड़कर अधिकार किया सही किन्तु झगड़ा नित्य होता रहा। यहांतक कि सन् १३९३ ई० में हिन्दू लोग स्वतन्त्र रूप में फिर यहां के राजा हो गये और तीसरे महमूद की बड़ी भारी हार हुई। यह दो सौ वर्ष का समय भारतवर्ष का पैलेस्टाइन का समय था। इस समय में गया के उद्धार के हेतु कई महाराणा उदयपुर के देश को छोड़कर लड़ने आये*। ये और पंजाब से लेकर गुजरात दक्षिण तक

* गया के भूगोल में पण्डित शिवनारायण त्रिवेदी भी लिखते हैं "औरंगाबाद से तीन कोस अग्निकोण देव बड़ी भारी बस्ती है। यहां श्री

के हिन्दू मगध देश में जाकर प्राणत्याग करना बड़ा पुण्य समझते थे। प्रजापाल नामक एक राजा ने सन् १४०० ई० के लगभग बीस बरस मगध देश को स्वतन्त्र रक्खा। किन्तु आर्य मत्सरी दैव ने यह स्वतन्त्रता स्थिर नहीं रक्खी और पुण्यधाम गया फिर मुसलमानों के अधिकार में चला गया। सन् १४७८ ई० तक यह प्रदेश जौनपुर के बादशाह के अधिकार में रहा। फिर बहलूल ने इसको जीत लिया था, किन्तु सन् १४९१ में हुसेनशाह ने फिर

भगवान सूर्य्य नारायण का बड़ा भारी संगीन पच्छिम रुख का मन्दिर है। यह मन्दिर देखने से बहुत प्राचीन जान पड़ता है। दूर दूर के लोग यहां आते और अपने अपने लड़कों का मुण्डन छेदन आदि की मनौती उतारते हैं। मन्दिर से थोड़ी दूर दक्खिन बाजार के पूरब ओर सूर्य्यकुण्ड का तालाब है। इस तालाब से सटा हुआ और एक कच्चा तालाब है। उसमें कमल बहुत फूलते हैं। देव राजधानी है यहां के राजा महाराजा उदयपुर के घराने के मड़ियार राजपूत हैं। इस घराने के लोग सिपाहगरी के काम में बहुत प्रसिद्ध होते आये हैं। यहां के महाराजा श्री जयप्रकाशसिंह के० सी० एस० आई० बड़े शूर सुशील और उदार मनुष्य थे। यहां से दो कोस दक्खिन कंचनपुर में राजा साहिब का बाग और मकान देखने लायक हैं। देव से तीन कोस पूरब उमगा एक छोटी सी बस्ती है। उसके पास पहाड़ के ऊपर देव के सूर्य मन्दिर के ढंग का एक महादेव का मन्दिर है। पहाड़ के नीचे एक टूटा गढ़ भी देख पड़ता है। जान पड़ता है कि पहले राजा देव के घराने के लोग यहां ही रहते थे पीछे देव में बसे। देव और उमगा दोनों इन्हीं की राजधानी थी इससे दोनों नाम साथ ही बोले जाते हैं (देवमूंगा) तिल संक्रान्ति को उमगा में बड़ा मेला लगता है।" इससे स्पष्ट हुआ कि उदयपुर से जो राजा लोग आये उन्हींके खानदान में देव के राजपूत हैं। बिहार दर्पण से भी यही बात पाई जाती है कि मड़िआर लोग मेवाड़ से आये हैं।

जीत लिया । इसके पीछे बंगाल के पठानों से और जौनपुर वालों से कई लड़ाई हुईं और सन् १४९४ ई० में दोनों राज्य में सुलह-नामा हो गया । इसके पीछे सूर लोगों का अधिकार हुआ और शेरशाह ने बिहार छोड़ कर पटने को राजधानी किया । सूरों के पीछे क्रमान्वय से (१५७५ ई०) यह देश मुगलों के अधीन हुआ और अन्त में जरासन्ध और चन्द्रगुप्त की राजधानी पवित्र पाट-लिपुत्र ने आर्य वंश और आर्य नाम परित्याग कर के औरङ्गजेब के पोते अज़ीमशाह के नाम पर अपना नाम अज़ीमाबाद प्रसिद्ध किया । (१६९७ ई०) बंगाल के सूबेदारों में सब से पहले सिरा-जुद्दौला ने अपने को स्वतंत्र समझा था, किन्तु १७५७ ई० की पलासी की लड़ाई में मीर जाफ़र अंगरेजों के बल से बिहार, बंगाल और उड़ीसा का अधिनायक हुआ । किन्तु अन्त में जगद्वि-जयी अंगरेजों ने सन् १७६३ ई० में पूर्व में पटना अधिकार करके दूसरे बरस बकसर की प्रसिद्ध लड़ाई जीत कर स्वतंत्र रूप से सिंह-चिन्ह की ध्वजा की छाया के नीचे इस देश के प्रांत मात्र को हिन्दोस्तान के मानचित्र में लाल रंग से स्थापित कर दिया ।

जस्टिन * कहता है—संद्रकुत्तस महा पराक्रमी था । असं-ख्य सैन्य संग्रह करके विरुद्ध लोगों का इसने सामना किया था । डियोडोरस सिक्यूलस † कहता है—प्राच्य देश के राजा चन्द्रमा के पास २०००० अश्व, २०००० पदाती २००० रथ और ४००० हाथी थे । यद्यपि यह Xandramas शब्द चन्द्रमा का अपभ्रंश है, किन्तु कई भ्रान्त यूनानियों ने नन्द को भी इसी नाम से लिखा है । क्विन्तस करशिअस ‡ लिखता है—चन्द्रमा के क्षौरकार-पिता

---

* Justin His. Phellipp. Lib.XV Chap. IV.

† Deodorus Siculus XVII. 93.

‡ Quintus Curtius IX. 2.

ने पहले मगधराज को फिर उसके पुत्रों को नाश करके रानी के गर्भ में अपने उत्पन्न किए हुए पुत्र को गद्दी पर बैठाया। स्ट्राबो § कहता है—सेल्यूकस ने मेगास्थनीज को संन्द्रकुत्तस के निकट भेजा और अपना भारतवर्षीय समस्त राज्य देकर उससे सन्धि कर लिया। ओरियन ‖ लिखता है—मेगास्थनीज अनेक बार संद्रकुत्तस की सभा में गया था। प्लूटर्क ¶ ने चन्द्रगुप्त को दो लक्ष सेना का नायक लिखा है। इन सब लेखों को पौराणिक वर्णनों से मिलाने से यद्यपि सिद्ध होता है कि सिकन्दर कृत पुरु-पराजय के पीछे मगधराज मंत्री द्वारा निहत हुए और उनके लड़के भी उसी गति को पहुँचे और उसके पीछे चन्द्रगुप्त राजा हुआ किन्तु बहुत से यूनानी लेखकों ने चन्द्रगुप्त को पट्टरानी के गर्भ में क्षौरकार से उत्पन्न लिखकर व्यर्थ अपने को भ्रम में डाला है। चन्द्रगुप्त क्षत्रियवीर्य से दासी में उत्पन्न था यह सर्वसाधारण का सिद्धान्त है+। इस क्रम से ३२७ ई० पू० में नन्द का मरण और ३१४ ई० पू० चन्द्रगुप्त का अभिषेक निश्चय होता है। पारस देश की कुमारी के गर्भ से सिल्यूकस को जो एक अति सुन्दर कन्या हुई थी वही चन्द्रगुप्त को दी गई। ३०२ ई० पू० में यह सन्धि और विवाह हुआ, इसी कारण अनेक यवनसेना चन्द्रगुप्त के पास रहती थी। २९२ ई० पू० में चन्द्रगुप्त चौबीस बरस राज्य करके मरा।

---

§ Strabo XV. 2. 9.

‖ Orriun Indica X. 5.

¶ Plutarch Vita Alexandri O. 62.

+ टाड आदि कई लोगों का अनुमान है कि मोरी वंश के चौहान जो बापा राव के पूर्व चित्तौर के राजा थे वे भी मौर्य थे। क्या चन्द्रगुप्त चौहान था? या ये मोरी सब शूद्र थे?

चन्द्रगुप्त के इस मगधराज्य को आइनेअकबरी में मकता लिखा है। डिग्विगनेस (Deguignes) कहता है कि चीनी मगध देश को मक्रियात कहते हैं। केम्फर (Kemfer) लिखता है कि जापानी लोग उसको मगत् कफ कहते हैं (कफ शब्द जापानी में देशवाची है।)। प्राचीन फारसी लेखकों ने इस देश का नाम मावाद वा मुवाद लिखा है। मगध राज्य में अनुगांग प्रदेश मिलने ही से तिब्बतवाले इस देश को अनुखेक वा अनोनखेक कहते हैं और तातारवाले इस देश को एनाकाक लिखते हैं।

सिसली डिउडोरस ने लिखा है कि मगध राजधानी पालीपुत्र भारतवर्षीय हर्क्यूलस (हरि-कुल) देवता द्वारा स्थापित हुई। सिसिरो ने हर्क्यूलस (हरिकुल) देवता का नामान्तर बेलस (बल:) लिखा है। बल शब्द बलदेवजी का बोध कराता है और इन्हींका नामान्तर बली भी है। कहते हैं कि निज पुत्र अंगद के निमित्त बलदेवजी ने यह पुरी निर्माण की, इसीसे बलीपुत्र पुरी इसका नाम हुआ। इसीसे पालीपुत्र और फिर पाटलीपुत्र हो गया। पाली भाषा, पाली धर्म, पाली देश इत्यादि शब्द भी इसीसे निकले हैं। कहते हैं बाणासुर के बसाए हुए जहां तीन पुर थे उन्हीं को जीतकर बलदेव जी ने अपने पुत्रों के हेतु पुर निर्माण किए ये तीनों नगर महाबलीपुर नाम से एक मद्रास हाते में, एक विदर्भ देश में (मुजफ्फरपुर वर्त्तमान नाम) और एक (राजमहल वर्त्तमान नाम) बंगदेश में है। कोई कोई महाबालेश्वर मैसूर पुरनियाँ प्रभृति को भी बाणासुर की राजधानी बतलाते हैं। यहाँ एक बात बड़ी विचित्र प्रकट होती है। बाणासुर भी बलि-पुत्र है। क्या आश्चर्य है कि पहले उसी के नाम से बलिपुत्र शब्द निकला हो। कोई नन्द ही का नामान्तर महाबली कहते हैं और कहते हैं कि पूर्व में गङ्गाजी के किनारे नंद ने केवल एक महल

बनाया था, उसके चारों ओर लोग धीरे धीरे बसने लगे और फिर यह पत्तन (पटना) हो गया। कोई महाबली के पितामह उदसी (उदासी, उदय श्री, उदयसिंह ?) का ४५० ई० पू० इसको बसाया मानते हैं। कोई पाटली देवी के कारण पाटलिपुत्र नाम मानते हैं।

विष्णुपुराण और भागवत में महापद्म के बड़े लड़के का नाम सुमाल्य लिखा है। वृहत्कथा में लिखते हैं कि शकटाल ने इन्द्रदत्त का शरीर जला दिया इससे योगानन्द (अर्थात् नन्द के शरीर में इन्द्रदत्त की आत्मा) फिर राजा हुआ। व्याड़ि जाने के समय शकटाल को नाश करने का मंत्र दे दिया गया था। वररुचि मंत्री हुआ, किन्तु योगानन्द ने मदमत्त होकर उसको नाश करना चाहा, इससे वह शकटाल के घर में छिपा। उसकी स्त्री उपकोशा पति को मृत समझ कर सती हो गई। योगानन्द के पुत्र हिरण्यगुप्त के पागल होने पर वररुचि फिर राजा के पास गया था, किन्तु फिर तपोवन में चला गया। फिर शकटाल के कौशल से चाणक्य नन्द के नाश का कारण हुआ। उसी समय शकटाल ने हिरण्यगुप्त जो कि योगानन्द का पुत्र था उसको मारकर चन्द्रगुप्त को जो कि असली नन्द का पुत्र था, गद्दी पर बैठाया।

ढुंढिराज पण्डित लिखते हैं कि सर्वार्थसिद्धि नन्दों में मुख्य था। इसकी दो स्त्रियाँ थीं। सुनन्दा बड़ी थी और दूसरी शूद्रा थी, उसका नाम मुरा था। एक दिन राजा दोनों रानियों के साथ एक ऋषि के यहाँ गया और ऋषिकृत मार्जन के समय सुनन्दा पर नौ और मुरा पर एक छींट पानी की पड़ी। मुरा ने ऐसी भक्ति से उस जल को ग्रहण किया कि ऋषि ने प्रसन्न होकर वरदान दिया। सुनन्दा को एक माँसपिण्ड और मुरा को मौर्य उत्पन्न हुआ। राक्षस ने माँस पिण्ड काटकर नौ टुकड़े किया, जिससे नौ लड़के

हुए। मौर्य को सौ लड़के थे, जिसमें चन्द्रगुप्त सब से बड़ा और बुद्धिमान था। सर्वार्थसिद्धि ने नन्दों को राज्य दिया और आप तपस्या करने लगा। नन्दों ने ईर्षा से मौर्य और उसके लड़कों को मार डाला, किन्तु चन्द्रगुप्त चाणक्य ब्राह्मण के पुत्र विष्णुगुप्त की सहायता से नन्दों को नाश करके राजा हुआ।

योंही भिन्न भिन्न कवियों और विद्वानों ने भिन्न भिन्न कथायें लिखी हैं। किन्तु सब के मूल का सिद्धान्त पास पास एक ही आता है।

इतिहासतिमिरनाशक में इस विषय में जो कुछ लिखा है वह नीचे प्रकाश किया जाता है।

बिम्बसार को उसके लड़के अजातशत्रु ने मार डाला। मालूम होता है कि यह फसाद ब्राह्मणों ने उठाया। अजातशत्रु बौद्ध मत का शत्रु था। शाक्यमुनि गौतम बुद्ध श्रावस्ति में रहने लगा। यहाँ भी प्रसेनजित को उसके बेटे ने गद्दी से उठा दिया; शाक्यमुनि गौतम बुद्ध कपिलवस्तु में गया।

अजातशत्रु की दुश्मनी बौद्ध मत से धीरे धीरे बहुत कम हो गई। शाक्यमुनि गौतम बुद्ध फिर मगध में गया। पटना उस समय एक गाँव था। वहाँ हरकारों की चौकी में ठहरा। वहाँ से विशाली* में गया। विशाली की रानी एक वेश्या थी। और वहां से पावा†

---

* जैनी महावीर के समय विशाली अथवा विशाला के राजा का नाम चेटक बतलाते हैं। यह जगह पटने के उत्तर तिरहुत में है पर उजड गई है। वहां वाले अब उसे बसहर पुकारते हैं।

कैसे आश्चर्य की बात हैं, चेटक रण्डी के भडवे को भी कहते हैं (हरिश्चन्द्र)।

† जैनी यहां महावीर का निर्वाण बतलाते हैं, पर जिस जगह को अब पावापुर मानते हैं असल में वह नहीं है, पावा विशाली से पश्चिम और गंगा से उत्तर होना चाहिए।

गया। वहां से कुशीनार गया। बौद्धों के लिखने बमूजिब उसी जगह सन् ईसवी ५४३ बरस पहले ८० बरस की उमर में साल के वृक्ष के नीचे बाईं करवट लेटे हुए इसका निर्वाण हुआ ‡। काश्यप उसका जानशीन हुआ। अजातशत्रु के पीछे तीन राजा अपने बाप को मारकर मगध की गद्दी पर बैठे यहां तक कि प्रजा ने घबड़ा कर विशाला की वेश्या के बेटे शिशुनाग मंत्री को गद्दी पर बैठा दिया। यह बड़ा बुद्धिमान था। इसके बेटे काल अशोक ने, जिसका नाम ब्राह्मणों ने काकवर्ण भी लिखा है, पटना अपना राजधानी बनाया।

जब सिकन्दर का सेनापति बाबिल का बादशाह सिल्यूकस सूबेदारोंके तदारुक को आया, पटने से सिन्धु के किनारे तक नन्द के बेटे चन्द्रगुप्त के अमल दखल में पाया, बड़ा बहादुर था, शेर ने इस का पसीना चाटा था और जंगली हाथी ने इसके सामने सिर झुका दिया था †

पुराणों में बिम्बसार को शिशुनाग के बेटे काकवर्ण का परपोता बतलाया है कि नन्दिवर्द्धन को बिम्बसार के बेटे अजातशत्रु का परपोता, और कहा है कि नंदिवर्द्धन का बेटा महानन्द और महानन्द का बेटा शूद्री से महापद्मनन्द और इसी महापद्मनन्द और उसके आठ लड़कों के बाद, जिन्हें नवनन्द कहते हैं, चन्द्रगुप्त मौर्य गद्दी पर बैठा। बौद्ध कहते हैं कि तक्ष-शिला के रहने वाले चाणक्य ब्राह्मण ने धननन्द को मार के चन्द्र गुप्त को राजसिंहासन पर बैठाया और वह मोरिया नगर के राजा

---

‡ जैन अपने चौबीसवें अर्थात सब से पिछले तीर्थंकर महावीर का निर्वाण विक्रम संवत से ४७०, अर्थात् सन् ईस्वी से ५२७ बरस पहले बत-लाते हैं और महावीर के निर्वाण से २५० बरस पहले अपने तेईसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ का निर्वाण मानते हैं।

का लड़का था और उसी जाति का था जिस में शाक्यमुनि गौतम बुद्ध पैदा हुआ।

मेगास्थनीज लिखता है कि पहाड़ों में शिव और मैदान में विष्णु पुजाते हैं। पुजारी अपने वदन रंग कर * और सिर में फूलों की माला लपेट कर घण्टा और झांझ बजाते हैं। एक वर्ण का आदमी दूसरे वर्ण की स्त्री व्याह नहीं सकता है और पेशा भी दूसरे का इख्तियार नहीं कर सकता है। हिन्दू घुटने तक जामा पहनते हैं और सिर और कन्धों पर कपड़ा † रखते हैं। जूते उनके रंग बरंग के चमकदार और कारचोबी के होते हैं। वदन पर अकसर गहने रहते हैं, भौं मिहदी से रंगते हैं और दाढ़ी मूछ पर खिजाब करते हैं। छतरी, सिवाय बड़े आदमियों के, और कोई नहीं लगा सकता। रथों में लड़ाई के समय घोड़े और मंजिल काटने के लिये बैल जोते जाते हैं। हाथियों पर भारी जर्दोजी झूल डालते हैं। सड़कों की मरम्मत होती है। पुलिस का अच्छा इन्तिजाम है। चन्द्रगुप्त के लशकर में औसत चोरी तीस रुपये रोज से जियादा नहीं सुनी जाती है। राजा जमीन की पैदावार से चौथाई लेता है।

चन्द्रगुप्त सन ई० के ९१ वरस पहले मरा। उसके बेटे बिन्दु-सार के पास यूनानी एलची दयोमेकस (Diamachos) आया था परन्तु वायुपुराण में उसका नाम भद्रसार और भागवत में बारिसार और मत्स्यपुराण में शायद बृहद्रथ लिखा है। केवल विष्णुपुराण बौद्ध ग्रन्थों के साथ बिन्दुसार बतलाता है। उसके १६ रानी थीं और उनसे १०१ लड़के, उनमें अशोक ‡ जो पीछे से

---

* चन्दन इत्यादि लगा कर।

† अर्थात् पगड़ी दुपट्टा।

‡ जैनियों के ग्रन्थों में इसी का नाम अशोक भी लिखा है।

"धर्म्म अशोक" कहलाया, बहुत तेज था, उज्जैन का नाजिम था। वहां के एक सेठ * की लड़की देवी उससे ब्याही थी। उसीसे महेन्द्र लड़का और संघमिता (जिसे सुमित्रा भी कहते हैं) लड़की हुई थी।

* सेठ श्रेष्ठ का अपभ्रंश है, अर्थात् जो सब से बड़ा हो।

शुद्धाशुद्धपत्र

पृ०	पं०	अशुद्ध	शुद्ध
१	११	नाहि	नाहिं
२	१	नांद	नांदी
२	१४	भरिक	भरिकै
६	१२	सत्र	सत्रु
८	२३	......	भक्तको प्रान
११	१३	जाता	जाती
२१	१४	अभारं	आरंभ
२२	१	कें	करें
२४	८	ल	लै
२४	१८	प्रियंम्वदक	प्रियंवदक
२५	१२	पापि	पापिन
२७	६	गण	गुण
२८	१,१७	ल	लें
३०	१३	आखों	आँखों
३३	१८	वरोधक	वैरोधक
४४	२१	लैं	ले
५३	२०	कामदी	कौमुदी
५४	५	देता	देती
७२	१०	सिद्धि	सिद्ध
८०	६	चा	रचा
८०	१०	काजिए	कीजिए
६६	२०	पराक्रम	पराक्रम
६७	११	......	पुरुष—
१०३	६	......	हैं
१०५	२१	क्रोध	क्रोध
१११	३	धम	धर्म
११४	६	मरख	मूरख
१२३	१७	......	को देखकर पूछती हैं
१२५	२३	कवियों	कवियों
१३४	७	के	की
१४०	१६,२०	अँगुली	उँगली
१४०	२५	र ास	राक्षस
१४३	२६	ं द	नंद
१४६	७	गत	गर्त
१५१	१४	विप्रों	विप्रो
१५४	१७	इस	इन
१५६	६	निश्चिय	निश्चय
१५६	२६	तू नाद	तूर्यनाद
१६१	६	ग संधि	गर्भसंधि
१६२	३		विमर्शसंधि
	५		मौर्य
	११		वर्णन
	१३	क्या	क्यों
१६५	१७	से	उसे

१६५	२२	अथ	अर्थ
	२१	होग	होगी
१६६	१७–१०		१०७–१०
१७०	१०	१२	१२३
१०३	१५,१६	दातों	दाँतों
१७	२३	ग्रथम	प्रथम
१९३	६	।वज्ञयः	विज्ञेयः
९७	१७	......	ने
	१८	मलकेतु	मलयकेतु
१९८	१९	......	जैसे
	२०	जह धुग्र	जहाँधुआँ
१९९	१७	मलकेतु	मलयकेतु
२०२	१	कार्य-वंध	कार्य-सं·वंध
२०३	७	कहलांगे	कहलाएंगे
२१०	८	सम न	समर्थन
२१३	२६	उहें	उन्हें
२२१	१६	की	के
२२५	२३	सनन्नद्ध	सन्नद्ध

भूमिका

१	२४	सद्दक	सट्टक
१८	१६	मार्गशीर्ष की पूर्णिमा	मार्गशीर्ष की पूर्णिमा
२२	७	न्नत	उन्नत
२२	९	६-	६८
२७	१०	ौद्ध	बौद्ध
४५	१	म्लेच्छैरु ज्यमाना	म्लेच्छैरुद्वे ज्यमाना
४	११	सर	सार

जून, १९३९

हमारी सोल एजेन्सीकी प्रकाशित तथा प्रचारित पुस्तकोंकी सूची

हमारा पता—

पुस्तक—भवन,

चौक, बनारस

साहित्य-सेवा-सदन तथा
सस्ती साहित्य पुस्तक-माला के
स्थायी ग्राहकोंके लिए नियम

१–साहित्य-सेवा-सदनके ग्राहक बननेके लिए बारह आना, तथा सस्ती साहित्य-पुस्तकमालाके लिए एक रुपया प्रवेशशुल्क देना पड़ता है।

२–ग्राहकोंको जिस मालाके वे ग्राहक बनेंगे उस मालाकी समस्त पूर्व प्रकाशित तथा आगे प्रकाशित होनेवाली पुस्तकोंकी एक-एक प्रति पौने मूल्यमें दी जायगी।

३–किसी भी पुस्तकका लेना अथवा न लेना ग्राहकोंकी इच्छापर निर्भर है।

४–किसी भी पुस्तकके प्रकाशित होतेही उसके लेखक, मूल्य, विषय आदिकी सूचना दे-देनेके पन्द्रह दिवस पश्चात् उसकी वी० पी० भेज दी जाती है। यदि किसी ग्राहकको कोई पुस्तक न लेनी हो तो सूचना पातेही मनाही कर देनी चाहिए, ताकि वी० पी० न भेजी जाय। वी० पी० लौटानेसे डाक-व्यय उन्हींको देना पड़ता है, अन्यथा उनका नाम ग्राहक-श्रेणी से पृथक् कर दिया जाता है।

५–ग्राहकोंके इच्छानुसार डाक-व्ययके बचावके लिए ३-४ पुस्तकें एक साथ भेजी जा सकती हैं।

६–किसी भी माला के ४ नये स्थायी ग्राहक बनानेवाले सज्जनको, यदि वे चाहेंगे तो उनसे बिना किसी प्रकारका शुल्क लिए ही, स्थायी ग्राहकके कुल अधिकार दिये जायँगे। इसी प्रकार १० स्थायी ग्राहक बननेवाले सज्जनको यदि वे स्वीकार करें तो, तीन रुपये मूल्यकी उस माला द्वारा प्रकाशित कोई भी पुस्तक या पुस्तकें प्रदान की जायँगी, और २५ स्थायी ग्राहक बनानेवाले महानुभावका नाम आगे प्रकाशित होनेवाली पुस्तकमें सधन्यवाद प्रकाशित कर दिया जायगा।

७–पत्र भेजे यदि १० दिन हो जायँ और उसका कोई उत्तर न मिले, तो शीघ्र ही दूसरा पत्र भेजना चाहिए।

सूचना–उपर्युक्त दोनों मालाओंके ग्राहकोंको पुस्तक-भवन अपनी प्रकाशित तथा प्रचारित पुस्तकोंकी एक-एक प्रति पौने मूल्यमें देता है; किन्तु प्रचारित पुस्तकें सदैव इसी हिसाबसे देनेके लिए 'भवन' बाध्य नहीं है।

साहित्य-सेवा-सदनकी विशेषताएँ

१—'सदन' हिन्दी के प्राचीन, कवियोंकी अलभ्य एवं लभ्य रचनाओंका सुलभ, सुबोध तथा शुद्ध संस्करण निकालनेके साथ-ही-साथ उन ग्रन्थोंका भी प्रकाशन करता है, जिनका कि हिन्दीमें अभाव है।

२—सदनकी प्रत्येक पुस्तक बड़े-बड़े विद्वानों द्वारा उसकी उपयोगिता, आवश्यकता और समयानुकूलता, लेखन, प्रतिपादन तथा सम्पादनशैलीकी उत्तमता आदि सिद्ध हो जानेपर ही प्रकाशित की जाती है।

३—सदनकी पुस्तकें सभी समाजों तथा विचारोंके स्त्री-पुरुषोंके लिए समान रूपसे उपयोगी होती हैं। सदनकी पुस्तकमालाओंमें अश्लील अथवा अपाठ्य पुस्तकोंको स्थान नहीं दिया जाता।

४—सदनकी पुस्तकें प्रत्येक शिष्ट समाज, लाइब्रेरी, स्कूल, कालेज आदिमें संग्रह करने तथा विद्यार्थियोंको उपहारमें देने योग्य होती हैं।

५—प्राचीन कवियोंकी अलभ्य रचनाओंको प्राप्त करने तथा उनका विद्वानों द्वारा सम्पादन आदि करानेमें अत्यधिक व्यय पड़ जाता है, अन्य प्रकाशकोंकी अपेक्षा लागत अधिक पड़ जाती है, फिर भी सदनकी पुस्तकें अन्य प्रकाशकोंकी अपेक्षा बहुत सस्ती होती हैं। जिन सज्जनको इसमें सन्देह हो उन्हें इस विषयके किसी अनुभवीसे जांचकर अपना भ्रम दूर कर लेना चाहिए।

६—सदनके स्थायी ग्राहक अपनी इच्छा और रुचिके अनुसार सदनकी कुल अथवा कोई पुस्तक या पुस्तकें ले सकते हैं। अन्य ग्रन्थमालाओंकी भाँति हमारे यहां इसका कोई बन्धन नहीं है।

काव्य-ग्रन्थरत्न-माला—दूसरा रत्न

श्रीकृष्ण-जन्मोत्सव

(लेखक-श्रीयुत देवीप्रसाद 'प्रीतम')

इस पुस्तकके परिचयमें हम केवल इतना ही कह देना चाहते हैं कि यह ग्रन्थ भगवान्, श्रीकृष्णकी जन्म-सम्बन्धिनी पौराणिक कथाओंका एक खासा दर्पण है। घटनाक्रम, वर्णन-शैली तथा विषय-प्रतिपादनमें लेखकने कमाल किया है। तिसपर भी विशेषता यह है कि कविताकी भाषा इतनी सरल है कि एकबार आद्यो-पान्त पढ़नेसे सभी घटनाएँ हृदय-पटलपर अंकित हो जाती हैं। साहित्य-मर्मज्ञोंके लिये स्थान-स्थानपर अलङ्कारोंकी छटाकी भी कमी नहीं है। मूल्य केवल ।-), एँटीक कागज़के सचित्र संस्करणका ।≡)।

काव्य-ग्रन्थरत्न-माला—तीसरा रत्न

महात्मा नन्ददासजी कृत

भ्रमर-गीत

(सं० बाबू ब्रजरत्नदास)

अष्टछापके कवियोंमें महात्मा सूरदास तथा नन्ददासजीका बड़ा नाम है। इन दोनोंकी ही कविताएँ भक्ति-ज्ञानकी भंडार हैं, प्रेम-रसकी सजीव प्रतिमा हैं। इस पुस्तिकामें कृष्णके अपने सखा उद्धव द्वारा गोपियोंके पास भेजे हुए संदेशका तथा गोपियों द्वारा उद्धवसे कहे गये कृष्ण-प्रति उपालंभका सजीव वर्णन है। निर्गुण और सगुण ब्रह्मकी उपासनामें भेद, विशिष्टाद्वैतकी पुष्टि आदि वेदान्तिक बातोंका निरूपण है, गोपियोंको प्रेम-पराकाष्ठाका दिग्द-र्शन है। इसका पाठ कितनी ही हस्तलिखित प्रतियोंसे मिलाकर संशोधित किया गया है। फुटनोटमें कठिन शब्दोंके सरलार्थ दिये गिये हैं। हिन्दू विश्वविद्यालयकी 'इन्टरमीडिएट' परीक्षामें पाठ्य-ग्रन्थ भी था। मूल्य ≡)।

काव्य-ग्रन्थरत्न-माला—चौथा रत्न

केशव-कौमुदी

(रामचन्द्रिका सटीक)

हिंदीके महाकवि आचार्य केशवकी सर्वश्रेष्ठ पुस्तक रामचन्द्रिकाके नामसे शायद ही कोई हिन्दी-प्रेमी अपरिचित हो। केशवकी यह पुस्तक जितनी ही उत्तम तथा उपयोगी है, उतनी ही कठिन भी है। अर्थ-कठिनतामें केशवकी काव्य-प्रतिभा उसी प्रकार छिपी पड़ी हुई है, जिस प्रकार रुईके ढेरमें हीरेकी कान्ति। केशवकी इसी काव्य-प्रतिभाको प्रकाशमें लानेके लिए यह सम्मेलनादि में पाठ्य-पुस्तक नियत की गयी है। पर पुस्तककी कठिनताके आगे परीक्षार्थियोंका कोई वश नहीं चलता। उन्हें लाचार होकर हिन्दीके धुरंधरोंके पास दौड़ना पड़ता है। किन्तु वहाँसे भी "भाई हम इसका अर्थ लगानेमें असमर्थ हैं" का उत्तर पाकर बैरंग लौटना पड़ता है। इसी कठनाईको दूर करनेके लिए यह पुस्तक प्रकाशित की गयी है। इस पुस्तकमें रामचन्द्रिकाके मूल छन्दोंके नीचे उनके शब्दार्थ, भावार्थ, विशेषार्थ, नोट, अलंकारादि दिये गये हैं। यथास्थान कविके चमत्कार, निदर्शनके साथ-ही-साथ काव्य-गुण-दोषोंकी पूर्ण रूपसे विवेचना भी की गयी है। छन्दोंके नाम तथा अप्रचलित छन्दोंके लक्षण भी दिये गये हैं। पाठ भी कई हस्तलिखित प्रतियोंसे मिलाकर संशोधित किया गया है। इसके टीकाकार हिंदीके सुप्रसिद्ध विद्वान् तथा हिंदु-विश्व-विद्यालयके प्रोफेसर लाला भगवानदीनजी हैं। यह पुस्तक दो भागोंमें समाप्त हुई है। संशोधित नया संस्करण छप रहा है। मूल्य लगभग २॥) होगा।

This book is sanctioned as a reference book for Hindi Teachers in High Schools of Central Provinces and Berar. —*Vide Order No. 6801, Dated 28-9-26*

रहीम-रत्नावली

(रहिमनविलासका संशोधित तथा परिवर्द्धित संस्करण)

यों तो रहीमकी कविताओंके संग्रह कई स्थानोंसे प्रकाशित हो चुके हैं, किन्तु इतना बड़ा और इतना अच्छा संस्करण कहींसे भी प्रकाशित नहीं हुआ है। इस संस्करणमें कई विशेषताएँ हैं, इन विशेषताओंके कारण इसका महत्त्व अत्यधिक बढ़ गया है। मेरा अनुरोध है कि एक बार इसे आप अवश्य देखें इस संस्करणकी विशेषताएँः—

१—इसमें संग्रहीत दोहोंकी संख्या लगभग ३०० के है।

२—नगर-शोभा नामक १४४ दोहोंका नया ग्रन्थ खोजमें मिला है।

३—नायिकाभेदके बरवे तथा नये मिले हुए सवा सौ बरवे दोनों ही इसमें हैं।

४—मदनाष्टकके सम्बन्धमें भी बड़ी छान-बीन की गयी है।

५—शृङ्गार-सोरठ, रहीम-काव्यके श्लोक तथा अन्य फुटकर प्राप्त पदोंका भी संग्रह इसमें है।

६—अनेक हस्तलिखित प्रतियोंसे मिलाकर इसका पाठ शुद्ध किया गया है। पाठान्तर भी दिये गये हैं।

७—समान आशयवाले (Parallel Quotations) अन्य कवियोंके छन्द भी टिप्पणीके साथ दिये गये हैं।

८—एक रहीमका तथा एक और--दो चित्र भी दिये गये हैं।

९—इन सबके अतिरिक्त प्रारम्भमें गवेषणापूर्ण बृहद्काय भूमिका भी इसमें जोड़ दी गयी है, जिसमें रहीमके काव्यकी आलोचनाके साथ-ही-साथ उनके सम्बन्धकी किम्वदंतियाँ, जीवनी आदि दी गयी हैं। इणके कारण पुस्तकका महत्त्व अत्यधिक बढ़ गया है।

१०—पुस्तकान्तमें टिप्पणियाँ भी भरपूर दे दी गयी हैं। सुपरिचित साहित्य-सेवी पं० मयाशंकरजी याज्ञिकने इस संस्करणका सम्पादन किया है। पृष्ठ-संख्या २५० के ऊपर, मूल्य १)।

काव्य-ग्रन्थरत्न-माला—सातवां रत्न

गुलदस्तए विहारी

(लेखक—देवीप्रसाद 'प्रीतम')

विहारी-सतसईका परिचय देनेकी कोई आवश्यकता नहीं, सभी साहित्य-प्रेमी उसके नामसे परिचित हैं। यह 'गुलदस्तए विहारी' उसी विहारी-सतसईके दोहोंपर रचेहुए उर्दू शेरोंका संग्रह है, अथवा यों कहिए कि विहारी-सतसईकी उर्दू-पद्यमय टीका है। ये शेर सुननेमें जैसे मधुर और चित्ताकर्षक हैं, वैसे ही भाव-भंगीके ख्यालसे भी अनुपम हैं। इनमें दोहोंके अनुवादमें, मूलके एक भी भाव छूटने नहीं पाये हैं, वल्कि कहीं-कहीं उनसे भी अधिक भाव शेरोंमें आगये हैं। ये शेर इतने सरल हैं कि मामूली-से-मामूली हिंदी जाननेवाला उन्हें अच्छी तरह समझ सकता है। इन शेरोंकी पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी, पं० पद्मसिंह शर्म्मा, मिश्रबन्धु, लाला भगवानदीन, वियोगीहरि आदि उद्भट् विद्वानोंने मुक्तकंठसे प्रशंसा की है। अतः विशेष कहना व्यर्थ है।

छपाईमें यह क्रम रक्खा गया है कि ऊपर विहारीका मूल दोहा देकर, नीचे प्रीतमजी-रचित उसी दोहेका शेर हिंदी लिपिमें दिया गया है। स्वयं एक वार देखने ही से इसकी विशेषताका परिचय आपको मिल सकता है। विहारी-प्रेमियोंको इसे एक वार अवश्य देखना चाहिए। मूल्य ॥।≠)। सचित्र राजसंस्करणका १॥)

काव्य-ग्रन्थरत्न-माला—आठवां रत्न

महात्मा सूरदासजी प्रणीत

भ्रमरगीत-सार

सन्त-शिरोमणि, साहित्याकाश-प्रभाकर महात्मा सूरदासजीसे विरले ही हिंदी-प्रेमी अपरिचित होंगे। सूरदासजी हिंदी-साहित्य-की विभूति हैं, जीवन-सर्वस्व हैं। इनकी काव्य-गुणगरिमाका उसका घमंड है। कहा भी है "सूर सूर तुलसी शशि, उडुगण केशवदास"। यथार्थमें हिन्दीमें इनका सर्वोच्च स्थान हैं। इनकी अनुपम उपमा,

कविता-माधुरी तथा अर्थ-गाम्भीर्यके सभी कायल हैं। इन्हीं महात्मा-उत्कृष्ट पदोंका यह संग्रह है, सागरका सार अमृत है। सूरसागर-का सर्वोत्कृष्ट अंश 'भ्रमरगीत' माना जाता है। उसी भ्रमरगीतके चुने हुए पदोंका यह संग्रह है। इसमें चार सौसे भी ऊपर पद आ गये हैं। इसका सम्पादन हिन्दी-साहित्य-संसारके चिरपरिचित एवं दिग्गज विद्वान् पं० रामचन्द्र शुक्ल, प्रो० हिन्दूविश्वविद्यालय, काशी, ने किया है। एक तो सूरदासकी कविता, दूसरे हिन्दीके विशिष्ट विद्वान् द्वारा उसका संपादन 'सोनेमें सुगन्ध' हो गया है। सम्पाद-कजीकी ८० अस्सी पृष्ठकी दीर्घकाय भूमिका ही पुस्तककी महत्ताको दुगुनी कर रही है। पदोंमें आये हुए कठिन शब्दोंके सरलार्थ भी पादटिप्पणीमें दे दिये गये हैं। यह पुस्तक हिन्दू यूनिवर्सिटीमें एम० ए० में पढ़ाई भी जाती है। विशेष क्या ! पुस्तकका महत्त्व उसके देखनेपर ही ज्ञात हो सकेगा। पृष्ठ-संख्या करीब २५०। मूल्य १)।

काव्य-ग्रन्थरत्न-माला—नवाँ रत्न

अनुराग-वाटिका

(प्रणेता—श्रीवियोगीहरिजी)

वियोगीहरिजीसे हिन्दी-साहित्य-प्रेमीगण भलीभाँति परिचित हैं। साहित्य-विहार, अन्तर्नाद, ब्रजमाधुरीसार, कविकीर्तन, भावना आदि ग्रंथोंके देखनेसे उनकी असाधारण प्रतिभाका परिचय मिल जाता है। इस पुस्तिकामें इन्हीं वियोगी हरिजी-प्रणीत ब्रजभाषाकी कविताओंका संग्रह है। कवित्ताके एक-एक शब्द अमूल्य रत्न हैं, कवि-प्रतिभाके द्योतक हैं। अनुरागवाटिकाका कुछ अंश सम्मेलन, सरस्वती आदि पत्रिकाओंमें निकल चुका है और साहित्य-रसिकों द्वारा सम्मानित भी हो चुका है। छपाई-सफाई सुन्दर। मूल्य ।≈)।

काव्य-ग्रन्थरत्न-माला—दसवां रत्न

तुलसी-सूक्ति-सुधा

(सम्पादक—श्रीवियोगीहरिजी)

इसमें जगन्मान्य गोस्वामी तुलसीदासजी-प्रणीत समस्त ग्रन्थ-की चुनी हुई अनूठी उक्तियोंका संग्रह किया गया है। जो लोग समयाभाव या अन्य कारणोंसे गोस्वामीजीके सभी ग्रन्थोंका अवलोकन नहीं कर सकते, उनलोगोंको इस एक ही पुस्तकके पढ़नेसे गोस्वामीजीके समस्त ग्रन्थोंके पढ़नेका आनन्द आ जायगा। इस पुस्तकमें ग्यारह अध्याय हैं—१ चरित-विन्दु,२ध्यान-विन्दु,३ विनय-विन्दु, ४ तीर्थ-विन्दु, ५ अध्यात्म-विन्दु, ६ साधन-विन्दु, ७ पुरुष-परीक्षा-विन्दु, ८ उद्बोध-विन्दु, ९ व्यवहार-विन्दु, १० निज-निवेदन-विन्दु, ११ विविध सूक्ति-विन्दु। इसमें आपको राजनीति, समाज-नीति, भक्ति, ज्ञान, वैराग्य आदि सभी विषयोंपर अच्छी-से-अच्छी उक्तियाँ विना प्रयास एक ही जगह मिल जायँगी। साहित्यके अध्येता तथा जनसाधारण दोनों ही इसके पाठसे लाभ उठा सकते हैं। इसमें प्रारम्भमें आलोचनात्मक विशद् भूमिका भी संपादकजीने पाठकोंके सुभीतेके लिए जोड़ दी है। पाद-टिप्पणीमें कठिन स्थलोंकी पूर्णरूपसे व्याख्या भी कर दी गयी है। पृष्ठ-संख्या ५०० के ऊपर। मूल्य २)।

काव्य-ग्रन्थरत्न-माला—ग्यारहवां रत्न

झरना

(प्रणेता—जयशङ्करप्रसाद)

हिन्दीके कृतविद्य लेखकोंमें बाबू 'जयशंकरप्रसादजी' का आसन बहुत ऊँचा है। वर्तमान समयमें उच्चकोटिका साहित्यिक नाटक लिखनेमें एवं नवीन शैलीकी चुहचुहाती भावपूर्ण कविताएँ करनेमें आप अपना सानी नहीं रखते। इन दोनों ही बातोंके आप आचार्य माने जाते हैं। आपकी पुस्तकें आधुनिक समाजमें काफ

ख्याति प्राप्तकर चुकी है और विश्वविद्यालयोंमें पाठ्य ग्रन्थोंमें स्वीकृत हो चुकी हैं। प्रस्तुत पुस्तक आपही की रची हुई छायावादी कविताओंका संग्रह है। कविता बड़ी ही सरल और भावपूर्ण है। इसकी एक एक लाइन हृदयग्राही है। जिन लोगोंका कहना है कि छायावादी कविताएँ बड़ी नीरस होती हैं, उसके सिर पैरका कहीं पता ही नहीं चलता, इसलिए वह त्याज्य है, उनसे मेरा अनुरोध है कि छः आने पैसेमें इस पुस्तकको खरीदकर अपना भ्रम मिटा डालें।

काव्य-ग्रन्थरत्न-माला—बारहवां रत्न

भावना

(लेखक—वियोगी हरि)

यह एक आध्यात्मिक गद्यकाव्य है। इसकी रचना साहित्य-मर्मज्ञ, काव्य-कला-कुशल एवं मंगलाप्रसाद-पारितोषिक-प्राप्त वियोगी हरिजीने की है। इसमें मानव-हृदयमें नित्य उठनेवाली नाना प्रकारकी भावनाओंका सजीव चित्रण है। विश्वप्रेमका विमल स्रोत है। जिस प्रकार कबीर और सूरने समस्त संसारको प्रेममय देखा, उन्हें उसीमें परमात्माकी झलक दिखाई दी, उसीको उन्होंने मुक्तिका मार्ग समझा, उसी प्रकार हरिजीने मनुष्यकी प्रत्येक दैनिक क्रियाको विश्वप्रेमका रूप दिया है। सचमुचमें यह काव्य बड़ा सुन्दर हुआ है। इसकी भाषा इतनी परिमार्जित, ललित और भावपूर्ण है कि देखते ही बनता है। जिस समय सांसारिक झंझटोंसे आपका मन ऊब जाय, आपको सारा संसार नीरस दिखाई पड़े, आप इस पुस्तकको उठा लीजिए, फिर देखिए आपमें एक नई स्फूर्ति आजायगी, मुरझाया हुआ चेहरा खिल उठेगा। इसमें सब मिलाकर ५० निबन्ध हैं। प्रत्येक निबन्ध मुर्देको जिलानेके लिए अमृत है। भगवद्भक्तोंके लिए इसमें बहुत काफी मसाला है। छपाई, सफाई भी पुस्तककी दर्शनीय है। मूल्य ॥=)

भारतेन्दु-स्मारक ग्रन्थमालिका—संख्या १

कुसुम-संग्रह

सम्पादक पं० रामचन्द्र शुक्ल, प्रो० हिन्दू विश्वविद्यालय तथा लेखिका हिन्दी-संसारको चिरपरिचित श्रीमती बंगमहिला। इसमें रवीन्द्रनाथ ठाकुर, देवेन्द्रकुमार राय, रामानन्द चट्टोपाध्याय आदि धुरन्धर विद्वानोंके छोटे-छोटे उपन्यासों तथा लेखकोंका अनुवाद है। कुछ लेख लेखिकाके निजके हैं। पुस्तक बड़ी ही रोचक तथा शिक्षा-प्रद है। इसको संयुक्तप्रान्तकी तथा मध्यप्रदेशकी [Vide Order No. 9754, datad 12-12-26] गवर्नमेण्टने पुरस्कार पुस्तकों तथा पुस्तकालयों (Prize-Books and Libraries) के लिए स्वीकृत किया है। कुछ स्कूलोंमे पढ़ाई भी जाती है। छपाई, सफाई सुन्दर। सात रंग-विरंगे चित्रोंसे विभूषित पुस्तकका मूल्य १॥)।

पुस्कपर आई हुई कुछ सम्मतियाँ—

काशी-नागरी-प्रचारिणी सभाने उन्नीसवें वर्षके कार्य्यविवरणमें "कुछम-संग्रह," की गणना उत्तम पुस्तकोंमें करके इसका गौरव बढ़ाया है।

The book will form an admirable PrizeBook in Girl's School. We repeat that the book will form a nice and useful present to females. Is it not less interesting to the general reader.—*The Modern Review.*

The language of the book is excellent and the subjects treated are also very useful.

—*Major B. D. Basu, I. M. S., (Retired) Editor, the Sacred Books of the Hindu Series.*

सच्चे सामाजिक उपन्यासोंके भण्डारकी पूर्ति ऐसीही पुस्तकोंसे हो सकती है।......इसमें ऐसी शिक्षाप्रद आख्यायिकाओंका समावेश है जिनको पढ़कर साधारणतया सभी स्त्रियोंके आदर्श उच्च हो सकते हैं और सामाजिक जीवन प्रशस्त जीवन वन सकता है।......भाषा बहुत सरल है, जिससे लेखिकाका उद्योग भलीभांति पूर्ण हो गया है।

—नवजीवन

भारतेन्दु-स्मारक ग्रन्थमालिका—संख्या २

मुद्राराक्षस सटीक

(सम्पादक व्रजरत्नदास बी० ए०)

भारत-भूषण भारतेन्दु बा० हरिश्चन्द्रजी वर्तमान हिन्दी-साहित्य-के जन्मदाता माने जाते हैं। आपने जो काम हिन्दी-जगतका किया है, उसे हिन्दी-भाषी यावज्जीवन भूल नहीं सकते। आपने ही महाकवि विशाखदत्तके संस्कृत नाटक मुद्राराक्षसका अनुवाद गद्य-पद्य-मय हिन्दी भाषामें किया है। यह अनुवाद मूल ग्रन्थसे कितना ही आगे बढ़ गया है, इसमें मौलिकता आगयी है। यह नाटक इतना लोकप्रिय हुआ है कि भारतकी प्रायः सभी यूनिवर्सिटियों तथा साहित्य-विद्यालयोंमें पाठ्यग्रन्थ रखा गया है। हमने विद्यार्थियोंके लाभार्थ इसी पुस्तकका शुद्ध तथा उपयोगी संस्करण निकाला है। आजकल बाजारमें जो संस्करण बिक रहा है, वह अत्यन्त अशुद्ध है। उससे लाभके बदले उलटी हानि ही होती है। इस संस्करणमें अध्येताओंके लिए ८० अस्सी पृष्ठकी आलोचनात्मक भूमिका भी प्रारम्भमें दे दी गयी है, जिसमें कवि-प्रतिभा, नाटकका इतिहास, लेखनशैली आदिपर गवेषणापूर्ण आलोचना की गयी है। अन्तमें करीब १५० डेढ़ सौ पृष्ठों में भरपूर टिप्पणी दी गयी है, जिसमें नाटकमें आये हुए पद्यांशोंकी पूरी टीका तथा गद्यांशोंके कठिन शब्दोंके अर्थ दिये गये हैं, अलंकार आदि बतलाये गये हैं, स्थल-स्थलपर तुलनाके लिए संस्कृत मूल भी उद्धृत किये गये हैं, प्रमाण के लिए साहित्य-दर्पण, काव्य-प्रकाश आदि ग्रन्थोंके अवतरण भी दिये गये हैं। कहनेका मतलब यह कि सभी आवश्यकीय बात समझा दी गयी हैं। इसका संशोधन पं० रामचन्द्र शुक्ल तथा बा० श्यामसुन्दरदासजी बी० ए०, प्रो० हिन्दू-विश्वविद्यालय, ने किया है। संपादन, नागरी-प्रचारिणी सभाके मन्त्री, बाबू व्रजरत्नदासजी बी० ए० ने किया है। पृष्ठ-संख्या ३५० के लगभग, मूल्य १) मात्र।

सोल एजेन्सी की

सस्ती साहित्य-पुस्तकमाला द्वारा प्रकाशित पुस्तकें

बंकिम-ग्रन्थावली (प्रथम खण्ड)—बंकिमबाबूके 'आनन्दमठ', 'लोक-रहस्य' तथा 'देवी चौधरानीका' अविकल अनुवाद। पृष्ठ-संख्या ६१२। मूल्य१) सजिल्द १।-)॥। द्वितीय संशोधित संस्करण शीघ्र छपेगा।

गोरा—जगद्विख्यात रवीन्द्रनाथ ठाकुर कृत 'गोरा' नामक पुस्तकका अविकल अनुवाद। पृष्ठ-संख्या ६८८। मूल्य १।-)॥, सजिल्द १॥≡)। द्वितीयावृत्ति शीघ्र छपेगी।

बंकिम-ग्रन्थावली (द्वितीय खण्ड)—बंकिम बाबूके 'सीताराम' तथा 'दुर्गेशनंदिनीका' अविकल अनुवाद। पृष्ठ-संख्या ४३२, ॥।-)॥, सजिल्द १≡)।

चंडीचरण-ग्रन्थावली (प्रथम खण्ड) अर्थात् टामकाकाकी कुटिया—Uncle Tom's Cabin के आधारपर स्वर्गीय चण्डीचरणसेन लिखित 'टामकाकार कुटीर' का अविकल अनुवाद। पृष्ठ-संख्या ६९२। मूल्य १=)॥, सजिल्द १॥)।

बंकिम-ग्रन्थावली (तृतीय खण्ड)—बंकिमबाबूके 'कृष्णकान्तेर विल' 'कपाल-कुण्डला' तथा 'रजनी' का अविकल अनुवाद। पृष्ठ-संख्या ४३२। मूल्य ॥।-)॥, सजिल्द १≡)।

चण्डीचरण-ग्रन्थावली (दूसरा खण्ड)—चण्डीचरणसेन लिखित 'दीवान गंगागोविंदसिंह' का अविकल अनुवाद। पृष्ठ-संख्या २६०। मूल्य ॥)।

वाल्मीकीय रामायण (बालकांड)—पृष्ठ-संख्या बड़े साइज के १९२, अर्थात् साधारण साइज़के ३८४। मूल्य ॥।)।

वाल्मीकीय रामायण (अयोध्याकांड)—पृष्ठ-संख्या बड़े साइज़के ३८४, अर्थात् साधारण साइज के ७६८ मूल्य १॥)।

वाल्मीकीय रामायण (अरण्यकांड)—पृष्ठ-संख्या बड़े साइजके २०८, अर्थात् साधारण साइजके ४१६। मूल्य ।॥-)

वाल्मीकीय रामायण (किष्किन्धाकांड)—छप रहा है।

वाल्मीकीय रामायण (सुन्दरकांड)—छप रहा है।

पुस्तक-भवन, काशी, द्वारा

प्रकाशित पुस्तकें

राजारानी

इस नाटकके लेखक संसारके सर्वश्रेष्ठ कवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर हैं। अनुवादक बा० मुरारिदास अग्रवाल तथा भूमिका-लेखक हिन्दीके विद्वान् एवं सम्मेलन-पत्रिकाके भूतपूर्व सम्पादक तथा साहित्य-विहार, अनुरागवाटिका, भावना आदिके लेखक श्रीवियोगीहरि लिखते हैं—

"रवीन्द्रबाबू इस युगकी एक विभूति हैं। साहित्यमें ही नहीं, विश्वसाहित्यमें भी उनका एक खास स्थान है। वह एक साथही कवि, दार्शनिक और ऋषि हैं। शब्द और भावमें यथार्थ सामञ्जस्य देखने-वालोंमें वह जितने कृत-कार्य्य हुए हैं, उतना कदाचित ही इस युगमें कोई हुआ हो !...........

"हिन्दीमें रविबाबूके कई उत्कृष्ट ग्रन्थोंका अनुवाद हो चुका है। उनका आदर भी अच्छा हुआ है......उनके कई नाटकोंका रसास्वादन हिन्दी भाषा-भाषी भी कर चुके हैं। आज हमें 'राजारानी' नामक उनके एक और सुन्दर नाटकका दर्शन हुआ है। हिन्दीमें ऐसी सुन्दर दृश्य-रचना देकर हमारा मनोमुकुल क्यों न प्रफुल्ल हो ?

"यह नाटक अपने ढंगका एक है, इसमें सन्देह नहीं। नाटकमें सामयिकताके साथ ही स्थायित्व भी है। विचारलहरीकी आरोही अवरोही देखते ही बनता है।......एकका प्रेमकी —प्रेम क्या मोहकी— अतिसे पतन दिखाया गया है, तो दूसरेका लक्ष्य-हीन कर्मकी अतिसे सर्वनाश कराया गया है......समाज और राष्ट्रके लिए कवीन्द्रकी यह उत्कृष्ट कल्पना कितनी उपयोगिनी है, इसे कहनेकी आवश्यकता नहीं। अनुवाद सुन्दर, सरस और यथार्थ हुआ है।" मूल्य ॥।) ।

विसर्जन

मूल लेखक-रवीन्द्रनाथ ठाकुर । अनुवादक मुरारिदास अग्रवाल संशोधक तथा भूमिका-लेखक पं० रामचन्द्र शुक्ल । जगन्मान्य रवीन्द्रबाबूकी पुस्तककी उत्तमताके सम्बन्धमें हमें कुछ कहना नहीं है। यह एक अहिंसात्मक करुणरस-पूर्ण नाटक है । इसमें जीव-बलि निषेध किया गया है और उससे उत्पन्न हानियोंका दिग्दर्शन कराया गया है । पुस्तकके भाव बड़े ऊँचे दर्जेके हैं । मूल्य ॥) ।

सीताराम

लेखक रायबहादुर स्वर्गीय बंकिमचन्द्र चटर्जी सी. आई. ई. । उच्चकोटिके उपन्यास-लेखकोंमें बंकिमबाबूका नम्बर पहला है। आपको लोग दूसरा स्कॉट समझते हैं । आपका-सा, रोचक, शिक्षाप्रद उपन्यास-लेखक अभी तक भारतमें कोई भी पैदा नहीं हुआ। यही कारण है कि आपके उपन्यासोंका अनुवाद मराठी, गुजराती, पंजाबी, उर्दू, तेलगू आदि भारतीय भाषाओंको कौन कहे, अंग्रेजी आदि विदेशी भाषाओं तकमें हो चुका है । आपके उपन्यासोंमें सबसे बड़ी एक विशेषता यह होती है कि वे स्त्री-पुरुष, बालक-वृद्ध सभीके हाथोंमें निस्संकोच भावसे दिये जा सकते हैं । यही कारण है कि सभी पढ़े-लिखे लोग बंकिमकी पुस्तकोंको पढ़नेके लिए उपदेश दिया करते हैं । बंकिमकी पुस्तकें Prize-books and Libraries के लिए भी डाइरेक्टरों द्वारा स्वीकृत हो चुकी हैं । अस्तु, यह 'सीताराम' श्रीमद्भगवद्गीता के आधारपर लिखा गया ऐतिहासिक उपन्यास है । इसमें राजनैतिक चालोंका दिग्दर्शन कराया गया है। सीतारामकी वीरता, उनकी प्रथमत्यक्ता स्त्री श्रीका अद्भुत साहस, श्रीकी सखी जयन्ती नामक संन्यासिनीका अद्भुत करामात, द्वितीय स्त्री नन्दाका अपूर्व स्वार्थ-त्याग, सौतोंका आदर्श प्रेम, चन्द्रचूड़ तर्कालंकारकी स्वामिभक्ति, गंगारामका अपने रक्षकके साथ

विश्वासघात, एक शाहजी नामक फकीरकी बदमाशी, मुसलमानोंका अत्याचार, भयंकर मार-काट आदि घटनाओंसे यह पुस्तक भरी पड़ी है। खूब मोटे एंटिक पेपरपर मनोमोहक छपाई। मूल्य १॥)।

सफाई और स्वास्थ

दुनियाँमें स्वास्थ्य बड़ी चीज़ है। इसके बिना मनुष्य, जीता हुआ भी मुर्देसे बदतर है। इस छोटी सी पुस्तिकामें स्वास्थ्य-लाभ-सम्बन्धी सभी आवश्यकीय बातें बतलायी गयी हैं। स्वास्थ्यकी पहली सीढ़ी सफाई है। अधिकतर बीमारियाँ गन्दगीकी वजहसे हीं पैदा होती हैं। गन्दगीसेही नाना प्रकारके हानिकारक विषैले कीड़े, जोकि रोगके घर होते हैं, उत्पन्न होते हैं, वायु दूषित हो जाती है। इन्हीं सब रोगोंके मूल कारणोंसे बचानेके लिए प्रस्तुत पुस्तिका लिखी गयी है। स्वस्थ तथा बलवान् बननेके लिए इस पुस्तकको अवश्य पढ़िये। सी० पी० के शिक्षा-विभागने इसे अपने यहाँ बालक-बालिकाओंके पुस्तकालयके लिए भी स्वीकृत कर लिया है (*Vide Order No. 8918 Dated 23-12-25*) पृष्ठ-संख्या ८०, मूल्य।)।

हिन्दी में रेलवे-टाइम-टेबुल

रेलमें सफर करनेवाले अच्छी तरह जानते हैं कि उन्हें गाड़ीके आने-जानेका समय, कौन गाड़ी कहाँसे छूटती है, उसका दूसरी गाड़ीसे कब और कहाँ मेल होता है, किस गाड़ीसे चलनेमें सुभीता होगा आदि बातें ठीक-ठीक ज्ञात न होनेसे कितनी मुसीबतोंका सामना करना पड़ता है। इन बातोंकी जानकारीके लिए टाइम-टेबुलकी आवश्यता पड़ती है। रेलवे कम्पनियाँ प्रायः अंग्रेजीमेंही टाइम-टेबुल छपाती हैं, उससे अंग्रेज़ीसे अनभिज्ञ हिन्दी जनताको कोई लाभ नहीं पहुँचता। मुसाफिरोंकी इन्हीं तकलीफोंको दूर करने के विचारसे यह "हिन्दी रेलवे-टाइम-टेबुल" प्रकाशित किया गया है। इसमें भारतकी प्रायः सभी लाइनोंकी गाड़ियोंके आने-जानेका

समय देनेके अतिरिक्त रेलवेके साधारण नियम, किराया, स्टेशनोंकी दूरी, किस जंकशनसे कहाँको गाड़ी जाती है, पार्सल, लगेजके रेट किरायेका नये ढंग का चार्ट, धर्मशालाओंकी सूची आदि सभी आवश्यकीय बातें दे दी गयी हैं। अब इस एक टाइम-टेबुलके पास रखलेने से मुसाफिरोंको सफ़र करनेमें अड़चन न पड़ेगी। यह टाइम-टेबुल गाड़ीके समयमें विशेष परिवर्तन होनेसे ही नया छप जाता है। प्रति संख्याका मूल्य ॥), पोस्टेज खर्च ।–)। ग्राहक बन जानेसे ४ संख्याओंके लिए पोस्टेज सहित २॥।)। नियम मँगादेखिए।

बाल-मनोरंजन

इसमें बालकोंके लिए शिक्षाप्रद मनोरञ्जक कहानियोंका संग्रह है। पुस्तककी भाषा बड़ी ही सरल है। दो भागोंमें समाप्त हुई है। मूल्य प्रत्येक भागका ।=)।

This book is sanctioned as a Prize and Library Book in Middle Schools of Central Provinces and Berar. —*Vide Order No. 9754, Dated 17-12-26*

अन्य प्रकाशित पुस्तकें

दुर्गेशनन्दिनी-लेखक बंकिमबाबू सचित्र (दुबारा छपने पर मिलेगी)					१।)
कपाल-कुंडला	,,	,,	,,	,,	॥।)
रजनी	,,	,,	,,	,,	॥=)
कृष्णकान्त का वसीयतनामा		,,	,,	,,	१)
एम. ए. बनाके क्यों मेरी मिट्टी खराब की ?			,,	,,	२)
शैलबाला—ले० मनीलाल बंद्योपाध्याय			,,	,,	१)
भगवानकी लीला—ले० अरविन्द घोष			,,	,,	॥)

शीघ्र छपनेवाली पुस्तकें

योगेश्वरी—लेखक दामोदर मुखोपाध्याय।

बीज गणित—हिन्दीमें अलजबरा।

प्रचारित पुस्तकें

भाषाविज्ञान

(लेखक—श्रीयुत बा० श्यामसुन्दरदास बी० ए०)

इस पुस्तकमें जिन विषयोंका विवेचन किया गया है, उनमेंसे कुछके नाम ये हैं--भाषा-विज्ञानका महत्त्व, आरम्भ और विस्तार, उसका भिन्न-भिन्न विज्ञानों से संबन्ध, भाषा क्या है, उसके रूपात्मक और भावात्मक अंग, भाषाकी उत्पत्ति, भाषा-विकासकी भिन्न-भिन्न अवस्थाएँ और समुदाय, भाषामें परिवर्तन, आर्य्य, सेमेटिक, हेमेटिक और धातविक भाषाएँ, आर्य्योंका आदिम निवास-स्थान, उनकी शाखाएँ और भाषाएँ, संस्कृत, पाली, प्राकृत, अपभ्रंश, समस्त देश-भाषाएँ, पुरानी हिंदी, पश्चिमी हिंदी, पूर्वी हिंदी आदि सबकी उत्पत्ति और विकास, भाषापर ऐतिहासिक और भौगोलिक प्रभाव, रूपात्मक विकासके कारण और भेद, भावात्मक विकासके भेद और स्वरूप अर्थ-संकोच, अर्थ-विस्तार, संज्ञा, विशेषण, अव्यय, क्रिया और सर्व-नाम आदिकी उत्पत्ति आधुनिक भारतीय भाषाओंके विकासकी आरम्भसे लेकर अंत तककी अवस्थाएँ आदि-आदि। पुस्तकके अंतिम या दसवें प्रकरणमें हिंदी भाषाके विकासका बहुत ही पाण्डित्यपूर्ण विवेचन है जिसमें धातु, शब्दभेद, विदेशी प्रभाव, स्वराघात, राजस्थानी, अवधी, व्रजभाषा, बुँदेली, खड़ी बोली आदिका बहुतही अच्छा विवेचन किया गया है। तात्पर्य यह कि यह ग्रन्थ आदिसे अंततक असंख्य ज्ञातव्य विषयोंसे भरा पड़ा है। यदि आप भाषा-विज्ञान तथा भारतकी प्राचीन और आधुनिक भाषाओंका और विशेषतः हिंदी भाषाका वास्तविक स्वरूप और पुराना इतिहास जानना चाहते हों तो यह ग्रन्थ अवश्य पढ़ें। हिन्दीमें इस विषयकी यह पहिली पुस्तक है। मूल्य ३)

साहित्यालोचन

(लेखक—बाबू श्यामसुन्दरदास बी० ए०)

अंग्रेजी और संस्कृतकी बीसियों पुस्तकोंका अध्ययन करके यह पुस्तक लिखी गयी है। इसमें इस बातका बहुतही पाण्डित्यपूर्ण विवेचन किया गया है कि कला, काव्य, साहित्य, रस, नाटक, उपन्यास आदिका वास्तविक रूप क्या है और कैसा होना चाहिए और उनकी रचना, अध्ययन अथवा आलोचना किस प्रकार होनी चाहिए। साहित्यके विवेचनकी देशी भाषाओंमें यह पहली और अनूठी पुस्तक है। कवियों, लेखकों, समालोचकों, सम्पादकों और साहित्य-प्रेमियोंके लिए यह सचमुच एक अमूल्य रत्न है। बड़े-बड़े दिग्गज विद्वानोंने मुक्तकंठसे इसकी प्रशंसा की है। पृष्ठ-संख्या ४०० के लगभग। मूल्य २)।

जनमेजयका नागयज्ञ

(लेखक—जयशंकर प्रसाद)

हिन्दी के कृतविद्य लेखकोंमें जयशंकरप्रसादजीकी गणना है। वर्तमान समयके आप नाटकाचार्य कहे जाते हैं। पौराणिक कालकी एक घटना, महाराज परीक्षितका शृङ्गी ऋषिका अपमान करना, तक्षक द्वारा उनकी हत्या, जनमेजय द्वारा नागोंका पराभव होना आदिके आधारपर इस नाटककी सृष्टि हुई है। यह नाटक पौराणिक तथा ऐतिहासिक दोनोंही दृष्टियोंसे अपूर्व है। मूल्य ॥=)

बौद्धकालीन भारत

(लेखक—श्रीयुत पं० जनार्दन भट्ट एम० ए०)

अँग्रेजी, हिन्दी आदिके सैकड़ों उत्तमोत्तम ग्रन्थोंका बहुत अच्छी तरह अध्ययन और मनन करके यह पुस्तक बहुत ही परिश्रम पूर्वक

लिखी गयी है। यह पुस्तक ऐतिहासिक होनेपर भी उपन्यासकासा आनंद देती है। संक्षेपमें पुस्तककी विषयसूची इस प्रकार है— (१) बौद्ध-कालीन इतिहासकी सामग्री। (२) बुद्धके जन्म-समयकी भारतकी दशा। (३) जैन-धर्मका प्राचीन इतिहास। (४) गौतमबुद्ध की जीवनी। (५) गौतमबुद्धके सिद्धान्त और उपदेश। (६) बौद्ध-संघका इतिहास (७) प्राचीन बौद्धकालके राजनीतिक इतिहास। (८) प्राचीन बौद्धकालके प्रजातंत्र राज्य। (९) मौर्य्य साम्राज्यकी शासन-पद्धति। (१०) बौद्धकालके राजनीतिक विचार। (११) सामाजिक अवस्था (१२) साम्पत्तिक अवस्था। (१३) बौद्धकालका साहित्य। (१४) बौद्धकालकी शिल्पकला। (१५) बुद्धका निर्वाणकाल। (१६) बौद्धकालके विश्वविद्यालय। (१७) बौद्ध महासभाएँ आदि-आदि। तात्पर्य यह है कि हिन्दीमें यह अपने ढंगकी अनुपम और अपूर्व पुस्तक है। प्रत्येक इतिहास-प्रेमीको इसे अवश्य पढ़ना चाहिए। पृष्ठसंख्या प्रायः चारसौ से ऊपर है। बढ़िया एण्टिक कागजकी जिल्द बँधी प्रति पुस्तकका मूल्य ३), और अच्छे चिकने कागजपर छपी सादी पुस्तकका मूल्य २) है।

जरासंधवध महाकाव्य

भारतेन्दु बा० हरिश्चन्द्रजीके पिता महाकवि बा० गोपालचन्द्र उपनाम गिरिधरदासजीकी यह रचना हिंदी-साहित्यका प्रथम महाकाव्य माना जाता है। इसका कोई संस्करण अभी तक उपलब्ध नहीं था। इस ग्रन्थमें श्रीमद्भागवतकी प्रसिद्ध कथानुसार मगध-नरेश जरासंधकी मथुरापर चढ़ाई, युद्ध आदिका विस्तृत वर्णन है। यमक, अनुप्रास पठनीय हैं, तथा वीर रस से परिप्लुत है। काव्यकी क्लिष्टता दूर करनेके लिए पादटिप्पणियाँ भी दीगई हैं, भूमिकामें महाकविका चरित्र तथा चित्र भी दिया गया है। पृष्ठ संख्या २००, छपाई कागज़ अच्छा। मूल्य सजिल्द १।) अजिल्द १)

चन्द्रालोक

प्रसन्नराघवकार पीयूषवर्ष जयदेवकी कृति चन्द्रालोक समस्त संस्कृत-साहित्य-सेवियोंकी परिचित तथा आलंकारिकोंकी कंठाभरण है। इसमें अनुष्टुप श्लोकोंमें दोष, गुण, अलंकारादिकी अच्छी विवेचना है, जिससे यह विद्वान और विद्यार्थी दोनोंहीके बड़े काम का है। इस संस्करणमें संस्कृत मूल तथा हिन्दी टीका दी गई है। भूमिकामें कविकी जीवनी तथा ग्रन्थका पूरा परिचय दिया गया है। श्लोक तथा पारिभाषिक शब्दोंकी अनुक्रमणिका देदी गई है। कागज, छपाई उत्तम। पृष्ठ-संख्या १३०। मू० ॥=)

इंशा, उनका काव्य तथा केतकीकी कहानी

आरम्भमें फारसी तथा उर्दूके सुप्रसिद्ध कवि इंशाअल्लाहकी जीवनी तथा उनकी रचनाओंकी आलोचना चौअन पृष्ठोंमें दी गई है। फिर चालीस पृष्ठोंमें उनकी उर्दू रचनासे कुछ पद्य संकलित किये गये हैं और अन्तमें उतने ही पृष्ठोंमें रानी केतकीकी कहानी या उदै-भान-चरित दिया गया है। इसका पाठ ठीक करनेमें सौ वर्ष तककी प्राचीन तथा सात आठ प्रतियाँ एकत्र की गयी थीं। इसी कहानीके कारण इंशाको लल्लूलालजीके समकक्ष हिन्दी-साहित्य-इतिहासमें स्थान मिला है। सटीक। अच्छा कागज और छपाई उत्तम, मू० ॥)

निमाई संन्यास नाटक

'अमृत बाजार पत्रिका' के संपादकतथा बंगलाके प्रसिद्ध लेखक स्वर्गीय बा० शिशिरकुमार घोषने श्रीमहाप्रभु कृष्ण चैतन्यके संसार-पावनार्थ संन्यास ग्रहणकी लीलाके आधारपर इस नाटककी रचना की थी जिसका यह सरल हिन्दीमें अनुवाद है। ४० पृष्ठोंकी बड़ी भूमिकामें वैष्णव धर्म की कुछ ज्ञातव्य बातें भी दी गई हैं, जिससे यह वैष्णवोंके लिए विशेष उपयोगी होगया है। इसमें महाप्रभुजीका

एक चित्र भी दिया गया है, जिसमें वे सपरिकर कथा-श्रवण कर रहे हैं। पृष्ठ-संख्या लगभग २००, मूल्य ॥।)

सर हेनरी लॉरेंस

लेखक—व्रजरत्नदास बी० ए०। भारतके हितकी आकांक्षा रखने वाले एक अंग्रेज़ सज्जनका यह जीवनचरित्र है। जिस समय भारत सरकार संयुक्तप्रांत तथा पंजाबपर अपना अधिकार जमा रही थी, उस समयका इतिहास संक्षेपमें इसमें आगया है। आरंभमें प्रथम वर्मीय युद्धका कुछ उल्लेख है। इसके अनन्तर इस ग्रंथमें उस विप्लवकारी अफ़गान युद्धका वर्णन दिया गया है जिसमें एक अंग्रेज़ो सेनाका भयंकर नाश हुआ था और फिर जिसके प्रतिशोधके लिए बड़ी तैयारियाँ हुई थीं। इसके बाद सिख-साम्राज्यके उत्थान तथा द्वितीय सिख-युद्ध, काश्मीर राज्यकी स्थापना आदिका संक्षेपमें पूरा इतिहास आगया है। लॉर्ड डलहौज़ीकी ज़ब्तीकी नीतिसे किस प्रकार करौली राज्यकी रक्षा की गई थी इसका भी विवरण दिया गया है। इसके अनंतर अंतमें अवधका संक्षिप्त इतिहास और सन् ५७ के बड़े विद्रोहके लखनऊके घेरेका प्रथम दृश्य दर्शित किया गया है। मूल्य ॥।)

आरोग्य-मंदिर

यदि आप परिवारको दीर्घजीवी बनाना चाहते हैं, चूना, चोकर, लकड़ी, कपास, गूगुल, नीम, गूलर, जामुन, थूहर, इमली, तुलसी आदि द्वारा स्वास्थ्य सुधारना चाहते हैं, यदि आप जानना चाहते हैं कि सहल प्राकृतिक उपायोंसे कैसे आरोग्य-वर्द्धन हो सकता है एवं हिस्टीरिया, चेचक, प्लेग, हैजा, जूड़ी, संग्रहणी, जलोदर, नेत्र-रोग, प्रमेह इत्यादि किस प्रकार आसानीसे दूर किये जा सकते हैं? और सांप, बिच्छू इत्याहि जहरीले जन्तुओंका विष कैसे उतारा जा सकता है? तो आज ही इस पुस्तकको मँगाइये। देशके बड़े-बड़े

नेताओं, विद्वानों और शुभचिन्तकोंकी राय है कि इसकी एक प्रति हर गृहस्थके घरमें रहनी चाहिये। तब आप मँगानेमें क्यों देर कर रहे हैं? कागज पुष्ट, छपाई सुन्दर, गेट-अप चित्ताकर्षक, पृष्ठ-संख्या ४५०, मूल्य सिर्फ २)

भयँकर-डकैती

भूमिका लेखक—श्रीरामचन्द्रजी वर्म्मा। आपने हिन्दीमें बहुतसे जासूसी उपन्यास पढ़े होंगे, लेकिन आपने ऐसा उपन्यास न पढ़ा होगा, जिसे पढ़ना शुरू कर खतम किये विना जी न माने और खतम करके भी बार-बार पढ़नेकी अभिलाषा बनी ही रहे। इस उपन्यासकी यही सबसे बड़ी विशेषता है। यदि आप डाकुओंके हुनर, उनकी दिलेरी और जवाँमर्दीका जीता-जागता चित्र देखना चाहते हों, यदि आप पुलिसकी मुस्तैदी और जासूसोंकी कुशलता, उनका अदम्य साहस, उत्साह, धैर्य और कष्ट-सहिष्णुताका करश्मा देखना चाहते हों, यदि आप शिक्षा और मनोरंजनका बढ़िया मेल चाहते हों, तो इस पुस्तकको अवश्य पढ़िये। आप दंग रह जायँगे। तिरंगे चित्र से विभूषित पृष्ठ-संख्या १२८, मूल्य केवल ॥)

दीर्घ जीवन

यह पुस्तक आपको बतायेगी कि हवा, पानी, खुराक वस्त्र, गृह, व्यायाम आदि क्या हैं, उनके क्या कार्य हैं, उनमें कैसे बिगाड़ पैदा होता है और वे किन रूपोंमें हमारे जीवनको सुखी, हमारी आत्माको प्रसन्न और हमारी आयुको दीर्घ बना सकते हैं। लंबी उम्रके अभिलाषी प्रत्येक व्यक्तिको पुस्तककी हर एक पंक्ति अपने हृदयपटलपर लिख लेनी चाहिये। चार आनेकी यह पुस्तक आपको वैद्यों डाक्टरों और हकीमोंकी शरणमें जानेका मौका न देगी भाषा इतनी सरल है कि मामूली हिन्दी जाननेवाले भी बखूबी पढ़ और समझ लेंगे। कागज और छपाई सुन्दर है। मूल्य।)

तुलनात्मक भाषाशास्त्र
अथवा
भाषा विज्ञान

ग्रन्थकर्ता—डा० मङ्गलदेव शास्त्री, एम० ए०, डी०, फिल० (आक्सफर्ड) भूतपूर्व गवर्नमेंण्ट आफ इण्डिया स्टेटस्कॉलर।

इसमें तुलनात्मक भाषाशास्त्रके सिद्धान्तोंका विशद-रूपसे प्रतिपादन और संस्कृत, प्राकृत, हिन्दी, फ़ारसी, ज़िन्द, अरबी, अंग्रेज़ी, जर्मन, चीनी, तुर्की आदि पृथ्वीकी भिन्न-भिन्न भाषाओंके स्वरूप और संबन्धकी सरल और सुबोध व्याख्या की गई है। एक परिच्छेदमें वर्ण-विज्ञान या वर्णोच्चारण, शिक्षाका वैज्ञानिक रीतिसे विस्तृत वर्णन किया गया है। इसमें भाषाकी रचना, उत्पत्ति, परिवर्तनशीलता, भाषाओंके परिवार, भारत-यूरोपीय भाषा परिवार, ईरानी भाषावर्ग आदि विषयोंपर ग्यारह परिच्छेद हैं भारतीय विद्यार्थियोंकी दृष्टिसे ऐसी पुस्तक अंग्रेज़ीमें भी नहीं है। लेखकने तीन वर्ष यूरोपमें रहकर इस विषयका विशेष अध्ययन किया है और अंग्रेज़ी और जर्मनके ग्रन्थोंकी सहायतासे इस ग्रन्थरत्नको लिखा है किसी भी भाषाके साहित्यके, विशेषकर हिन्दी और संस्कृतके विद्वानों और उच्च विद्यार्थियोंके लिए पुस्तक अत्यन्त उपादेय है। पुस्तककी प्रशंसा पंजाब और प्रयाग यूनिवर्सिटियोंके वाइस चांसलरों ने, बा० भगवान् दास, पं० गोपीनाथ कविराज, प्रिंसिपल वुलनर जैसे भारतीय और यूरोपियन धुरंधर विद्वानोंने मुक्तकंठसे की है। कागज और छपाई बढ़िया। पृष्ठ-संख्या लगभग ३७५। मूल्य २॥=)

प्रोत्साहन

लेखक छविनाथ पाण्डेय। एक सच्ची घटनाके आधारपर लिखा गया मौलिक उपन्यास है। यह उपन्यास शिक्षाप्रद होनेके साथ-ही-साथ मनोरंजक भी बड़ा है। एकबार इसे अवश्य पढ़िए। मूल्य ॥)

स्त्रीके पत्र

(लेखक-साहित्याचार्य पं० चन्द्रशेखर शास्त्री)

इसमें गार्हस्थ्य जीवनकी वे बारीक ग्रन्थियाँ सुलझाई गई हैं, जिनपर आम तौरसे लोग ध्यान देना भी पाप समझते हैं और जिसके कारण सोनेकी गृहस्थियाँ छार-खार हो जाया करती हैं। इसमें उन चिनगारियोंपर फूंक मारी गई है, जिनकी धीमी-धीमी आँच एक दिन गृहस्थीके सारे सुखोंको जलाकर राख कर देती हैं। इसमें स्त्री-पुरुषके आदर्श सम्बन्धका बिलकुल नवीन विवेचन है। इसमें एक उच्च-शिक्षा-शिक्षिता और मनस्विनी नारीके १७ ऐसे पत्र छापे गये हैं, जो उसने अपने पतिको लिखे थे, हमारे समाजके प्रत्येक दम्पति इसमें अपने हृदयकी अनेक वेदनाएँ देख पाएँगे। नवयुवकों और नवयुवतियोंको पुस्तक तुरंत मँगाकर पढ़नी चाहिए। मूल्य १)

दरिद्रकथा

(लेखक—साहित्याचार्य पं० चन्द्रशेखर शास्त्री)

इस पुस्तकमें दरिद्रताका महत्त्व दिखलाया गया है। इस देश तथा विदेशके जितने भी सुधारक हुए हैं, जितने भी महान् पुरुष हुए हैं, उन्होंने इसी मार्गका अवलम्बन किया। भगवान बुद्धदेव, महाराजा प्रताप, महाराज हरिश्चन्द्र, चक्रवर्ती राजा रामचन्द्र, गुरु गोविन्द-सिंह, लो० तिलक, महात्मा गांधी आदि पुरुषपुङ्गवोंने कभी भी धनी होनेकी लालसा नहीं की। विदेशमें भी गेरीवाल्डी, मेट्सिनी, रोमीली, हावर्ड, वाल्स, विलियम टेल आदि अनेक पुरुषरत्न हुए हैं, जिन्होंने इसीको महत्त्व दिया है। स्वार्थ-त्यागी पुरुषोंकी जीवनियाँ देकर इस विषयको सोदाहरण समझाया गया है। मूल्य केवल।-)।

मधुप

कविवर जगन्नारायणदेवशर्मा 'कविपुष्कर' रचित अनूठा काव्य है। असली ब्रह्मज्ञानका निरूपण इसमें कराया गया है। शिवपूजन सहाय आदि सज्जनोंने बड़ी तारीफ की है। मूल्य ॥)।

संन्यासिनी

यह एक सामाजिक शिक्षाप्रद, मनोरंजक उपन्यास है। इसके लेखक हैं पं० प्रफुल्लचन्द्र ओझा 'मुक्त'। यह उपन्यास स्त्री-पुरुष, बालक-वृद्ध सभी के पढ़ने योग्य है। कुछ-न-कुछ शिक्षा, इसके द्वारा, सभीको मिलेगी। पृष्ठ-संख्या लगभग १५०, मूल्य ॥)।

वनिताविनोद

काशी-नागरी-प्रचारिणी सभाने स्त्रियोंके पढ़नेको उत्तम पुस्तकोंका अभाव देखकर यह "वनिताविनोद" नामकी पुस्तक छपाई है। इसमें १६ उपयोगी विषय हैं। (१) आत्मविस्मृति और पतिभक्ति (२) क्रोध-शांति (३) धैर्य्य और साहस (४) विद्याके लाभ (५) दूसरोंकी सम्मतिका आदर (६) बालविवाह (७) बहुविवाह (८) व्यय (९) चित्त प्रसन्न करनेके उपाय (१०) संगीत और सुईका काम (११) स्वास्थ्य-रक्षा (१२) व्यायाम (१३) गर्भरक्षा और शिशुपालन (१४) भूत-प्रेतोंके डरका बुरा परिणाम (१५) गृहचर्या (१६) धूर्तों, चालबाजों एवं सेवकोंकी कुचालोंसे बचना। यह पुस्तक हिन्दीके १२ चुने हुए लेखकों द्वारा लिखी गई और बाबू श्यामसुन्दरदासजी बी० ए० द्वारा सम्पादित की गई है। मूल्य सजिल्द पुस्तकका केवल ॥=)।

धर्म्म और विज्ञान

सम्पादक लाला भगवानदीनजीने विलायतके मशहूर लेखक मिस्टर डेपरकी लिखी एक अंग्रेजी पुस्तक "Conflict between Religion and Science" से इसका अनुवाद किया है। इस पुस्तकने विलायतके अन्धविश्वासको दूर करनेमें बड़ी मदद दी है। इसमें (१) विज्ञानका मूल कारण (२) क्रिश्चियन-धर्म्मका मूल, राज्यबल पाकर उसका सम्बन्ध (३) ईश्वरकी एकता के सिद्धान्त

के विषयका झगड़ा (४) दक्षिणमें फिरसे विज्ञानका प्रचार (५) आत्माके तत्त्वके विषयमें झगड़ा, उत्पत्ति और लयका सिद्धान्त (६) इस विषयका झगड़ा कि जगतकी आकृति कैसी है (७) पृथ्वीकी आयुके विषयका वाद-विवाद (८) सत्यके विषयका झगड़ा (९) विश्वके शासनके विषयका वाद-विवाद (१०) वर्तमान सभ्यताके साथ विज्ञानका सम्बन्ध (१२) समीपस्थ सङ्कट—ये बारह विषय हैं। मूल्य २।=)

प्राचीन भारतवर्षकी सभ्यताका इतिहास

[मि० रमेशचन्द्रदत्तकी लिखी हुई पुस्तकका अनुवाद]

यह पुस्तक "काशी-इतिहास-प्रकाशक-समिति" की ओरसे छपी थी। हिन्दी भाषामें अपने ढङ्गका नया इतिहास है। हिन्दी भाषामें इससे बड़ा इतिहास अब तक नहीं छपा है और इस भाषामें इतिहास-के अभावको दूर कर रहा है। इस इतिहासमें हिन्दुओंकी प्राचीन सभ्यताका अन्य प्राचीन जातियोंकी सभ्यतासे मुकाबला करके यह दिखलाया है कि भारतवर्षकी सभ्यता उन लोगोंसे बहुत बढ़ी हुई थी। पहला भाग १॥), दूसरा भाग १॥), तीसरा भाग १।), चौथा भाग १॥), चारों भागोंका मूल्य ५)।

भाषाभूषण

जोधपुर-नरेश महाराज यशवंतसिंह (प्रथम) की यह अत्यन्त सुन्दर रचना है। यह हिन्दी अलंकारोंका प्राचीन तथा छोटा ग्रन्थ है। इसमें संक्षेपमें अलंकारोंके लक्षण तथा उदाहरण दिये गये हैं। इसका सम्पादन बाबू ब्रजरत्नदासजी बी. ए. ने बड़ी उत्तमतासे आधुनिक ढंगपर किया है। भूमिकामें अलंकारकी विवेचना और ग्रन्थकर्त्ताके परिचयमें सभी ज्ञातव्य बातें दे दी गयी हैं और

टिप्पणियोंमें शब्दभाव तथा लक्षणोंका विशेष रूपसे स्पष्टीकरण किया गया है। ग्रन्थकारका चित्र तथा चरित्र भी बड़ी खोजके साथ दिया गया है। मूल्य ॥।)

अतीत-स्मृति

(लेखक—पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी)

सरस्वती-सम्पादक पं०महावीरप्रसादजी द्विवेदीकी लेखनीका जो सज्जन रसास्वादन कर चुके हैं उन्हें इस पुस्तककी महत्ता बतलानेकी आवश्यकता नहीं। द्विवेदीजीने प्रस्तुत पुस्तकमें उन प्राचीन महत्त्व-पूर्ण विषय पर लेख लिखा हैं जिनपर कि हिन्दीकी कौन कहे बँगला, मराठी, गुजराती आदि सम्पन्न भाषाओंतकमें विरलाही कोई लेख मिलेगा। इसमें उन विवादग्रस्त प्राचीन आर्यसभ्यताके जमानेके लेखोंकी पूर्णरूपेण समीक्षा की गयी है जिनके सम्बन्धमें बड़े-से-बड़े पाश्चात्य विद्वान् भी भ्रममें पड़े हुए हैं। द्विवेदीजीने कहीं-कहीं पाश्चात्य विद्वानोंके सिद्धान्तोंका ऐसे युक्तिपूर्ण तर्कोंसे खंडन किया है कि बस रे बस! अस्तु, जिनको भारतीय पुरातत्त्व-सम्बन्धी ज्ञान तथा तत्सम्बन्धी नई-नई गवेषणाओं से जरा भी प्रेम है, उन्हें इस पुस्तकको अवश्य पढ़ना चाहिए। हिन्दी साहित्यमें यह एक अद्वितीय ग्रन्थ है। मूल्य १।≶)।

संसार

यह सामाजिक उपन्यास बंगालके मशहूर लेखकर सर रमेशचन्द्र दत्त लिखित पुस्तकका हिन्दी अनुवाद है। इसमें भारतवर्षकी घरेलु सामाजिक अवस्थाका पूरा खाका बड़ी उत्तमतासे खींचा गया है और साथही सुधारकी ऐसी जरूरत, जिनका सामना हमारे देशके लोगोंको नित्य प्रति करना पड़ता है, खूब दिखलाया है। ऐसे उपन्यास अच्छी रुचि पैदा करते हैं तथा अपने देशकी अवस्थापर

ध्यान दिलाते हैं । आशा है कि आप लोग लाभदायक उपन्यास पढ़कर अच्छे उपन्यासों के छपने का साहस दिखावेंगे । मूल्य १)

महात्मा ग्वीसेप मेज़िनी

यह जीवनचरित्र इटलीके एक महापुरुषका है, जो पञ्जाबके लीडर स्व० लाला लाजपत रायजी लिखित उर्दू पुस्तक अनुवाद है । इसके अनुवादक बा० केशवप्रसादसिंह हैं । चरित्रको उत्तम व पवित्र बनानेके लिये महापुरुषोंका जीवनचरित्रही लाभदायक हो सकता है । "क्योंकि त्यागी अपने लिये नहीं, वरन् संसारके लिये जीवित रहता है ।" मिथ्या किस्सों और कहानियोंसे वास्तविक और सच्ची कहानियां अधिक लाभदायक हैं । मूल्य ॥।)

बङ्गविजेता

यह उपन्यास बङ्गालके साहित्य-शिरोमणि प्रसिद्ध लेखक सर रमेशचन्द्रदत्त लिखित पुस्तकका अनुवाद है। अत्यन्त रोचक होनेका ही कारण है कि बङ्गला भाषामें इसके सात संस्करण छप चुके हैं । साहित्य ही अच्छी व बुरी रुचि मनुष्योंमें पैदा करता है, इसलिये हमेशा उत्तम उपन्यास पढ़िये । यह उपन्यास बड़ाही रोचक और शिक्षाप्रद है । छपाई और कागज़ दोनों बहुत उम्दा हैं । २ रङ्गीन व सादे चित्र हैं । मूल्य १॥।)

प्रजाके अधिकार

(लेखक–प्रसिद्ध देशभक्त श्रीसत्यमूर्ति)

इस पुस्तकमें प्रजाके क्या अधिकार हैं, इस बातकी व्याख्या बड़ी ही विद्वत्ताके साथ संसारके प्रचलित कानूनों द्वारा की गयी है तथा इस बातको उदाहरण सहित दिखलाया गया है कि भारतका प्रचलित कानून कहाँ तक मनुष्यताके प्रतिकूल है। पुस्तक संग्रहणीय और पठनीय है । मू० ॥)

मनोहर कहानियाँ

बालक बालिकाओं के पढ़ने योग्य सरल भाषा में पाँच मनोहर, शिक्षाप्रद तथा चित्ताकर्षक कहानियों का अत्युत्तम संग्रह। पुस्तक की प्रत्येक कहानी विचित्र और हँसानेवाली है कि जिसे पढ़ना शुरू करके समाप्त किये बिना बच्चों का हाथ से छोड़ना मुशकिल होजाता है। तिस पर से कहानियों से सम्बंध रखनेवाले सात चित्रों ने पुस्तक की शोभा और भी बढ़ा दी है। चित्र एक-से-एक विचित्र और देखने योग्य हैं। चित्रों के देखने ही से इस बात का पता चल जायगा कि पुस्तक कितनी रोचक होगी। उत्तम कागज, मोटे टाइप में छपी सचित्र पुस्तक का मूल्य केवल ॥)

वैद्युत-शब्दावली

इस शब्दावली में बिजली (Electric) से सम्बन्ध रखनेवाले सभी अंग्रेजी शब्दों का हिन्दी पर्याय दिया गया है। वैज्ञानिकों, लेखकों, सम्पादकों एवं शब्दज्ञान-जिज्ञासुओं के बड़े काम की पुस्तक है। मूल्य केवल ॥)

सामाजिक रोग

आज कल हिन्दू समाज की जो भयंकर स्थिति हो रही है उसी का नग्न चित्र इसमें खींचा गया है। इसमें दिखलाया गया है कि समाज के ढोंगी संन्यासी, महन्त, पंडे किस प्रकार छिपे छिपे धर्म के नाम पर पाप करते है, इसमें यह दिखलाया है कि देश के उद्धार का बीड़ा उठानेवाले स्वार्थी लीडर किस प्रकार पबलिक के पैसे का अपव्यय करते हैं। इसमें यह दिखलाया गया है कि कपट, धूर्तता, पाखंड, दंभ आदि ने किस प्रकार समाज को चारो ओर से घेर रखा है। इसमें दिखलाया गया है कि बालविधवाओं के कारण

समाज में कितना अधिक व्यभिचार फैल रहा है। इसमें दि
गया है कि उपाधि के पीछे मर मिटनेवाले किस प्रकार
गलीगली ठोकर खाते फिरते हैं। इस पुस्तक के पढ़ने से स
अवस्था एक बार आपकी आखों के आगे नाच उठेगी। मूल्य

सुन्दर सरोजिनी

यह एक अत्यन्त रोचक सामाजिक उपन्यास है। इसका
बड़ा ही सुन्दर और शिक्षाप्रद है। इसमें कुशलचन्द की
सरोजिनी का पातिव्रत धर्म-पालन, उनके माता-पिता का
प्रेम, ईश्वर की महिमा, भारत और लंका का अज्ञात इतिहास, प्र
दृश्यों का वर्णन इत्यादि पढ़कर आप मुग्ध हो जायँगे।
भारत मित्र, बंगवासी, हिन्दी केशरी, आनन्द बाजार पत्रिका
स्तान रिव्यू, सरस्वती आदि-आदि पत्र-पत्रिकाओं ने मुक
प्रशंसा की है। मूल्य केवल ॥)

बिहार-उड़ीसा गाइड

इसमें बिहार-उड़ीसा के समस्त शहरों तथा कसबों का
हाल दिया हुआ है। दर्शनीय स्थानों का परिचय देने के साथ-
प्रत्येक स्थान की तौल, वहाँ की उपज या व्यापार की वस्
तियों के नाम, वहाँ की दलाली बोली, धर्मशाला-सूची, बैं
कपड़े, किराने आदि के व्यापारी के नाम भी इसमें दिये
ट्रावेलिंग एजेंटों तथा रोजगारियों के बड़े काम की वस्तु है

आदर्श नगरी

यह उपन्यास बड़ा ही रोचक है। इसमें विज्ञान की ह
लाभ दोनों ही दिखलाए हैं। इसमें नगरी कैसी बसनी चा
...गरी से क्या-क्या लाभ हैं खूब दिखलाया है। इसके
...दजी हैं। दोनों भाग का मूल्य १)

चंडीचरण-ग्रन्थावली प्रथम भाग	१=)॥
,, ,, द्वितीय भाग	॥)
गोरा	*
सीताराम	१॥)
दुर्गेशनंदिनी	१।)
कपाल कुण्डला	॥।)
कृष्णकान्त का वसीयतनामा	१)
रजनी	॥=)
एम. ए. बनाके क्यों मेरी मिट्टी खराब	१)
शैलबाला	*
भयंकर डकैती	
प्रोत्साहन	॥
संन्यासिनी	
संसार	१
बंगविजेता	१॥।
सुन्दर सरोजिनी	॥
आदर्श नगरी	१)

नाटक

मुद्राराक्षस सटीक	१)
विसर्जन	॥)
राजारानी	॥।)

जनमेजय का [illegible]

निमाई संन्यास

स्त्री-उपयोगी

स्त्री के पत्र

वनिता-विनोद

कुसुम-संग्रह

अन्य

सफाई और स्वास्थ्य

बाल [illegible]

[illegible]

संघ जीवन

दरिद्र कथा

धर्म और विज्ञान

महात्मा ग्यासेप मेजिनी

प्रजा के अधिकार

सामाजिक रोग

विहार-उड़ीसा गाइड

मिलने का पता—

पुस्तक-भवन, बनारस

* यह पुस्तक दुबारा छपने पर मिलेगी।